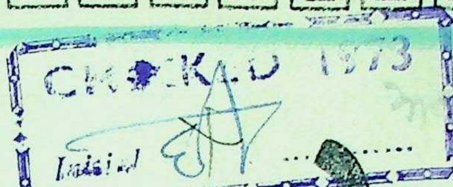
ALOCHNA HINDI

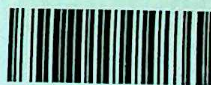
GKV



सम्पादक : नन्ददुलारे वाजपेयी



३४ आलोचना



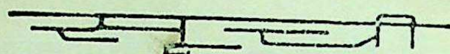


राजकमल प्रकाशन

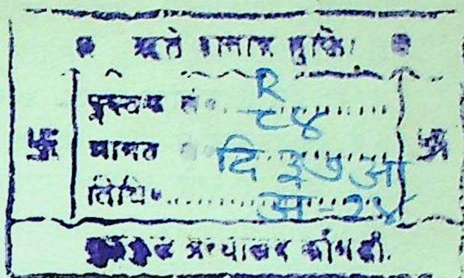
त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ६ अंक ४ पूर्णांक २४ अक्तूबर, १९५७

वार्षिक मूल्य १५) एक अंक का ४)



आलोचना



सम्पादकीय

नये उपन्यास

इसी अंक में अन्यत्र श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' के नये उपन्यास 'परती : परिकथा' पर तीन समीक्षाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। यद्यपि ये तीनों निबन्ध 'प्रस्तुत प्रश्न' शीर्षक के अन्तर्गत दिये गए हैं, परन्तु 'परती : परिकथा' हमारी दृष्टि में कोई विवादग्रस्त कृति नहीं है। उसका महत्त्व बहुत-कुछ असन्दिग्ध है, यद्यपि सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में कहीं-कहीं उस पर विपरीत और विरोधी चर्चा भी हुई है। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि 'रेणु' की पहली कृति 'मैला आँचल' की शतमुखी प्रशंसा करने वाले लोग भी 'परती : परिकथा' से सहसा पराङ्मुख हो उठे हैं। 'मैला आँचल' की इतनी अधिक विशेषताएँ 'परती : परिकथा' में और भी परिष्कृत रूप में ग्रहण की गई हैं और फिर भी 'परती : परिकथा' इतनी बड़ी मात्रा में स्वतन्त्र कृति बन पाई है, कि केवल इसी विशेषता पर लेखक हमारी बधाई का अधिकारी होता है। प्रायः वही विकास, जो प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' के पश्चात् उनके 'प्रेमाश्रम' में दिखाई पड़ा था, 'मैला आँचल' के पश्चात् 'परिकथा' में दिखाई पड़ता है। 'मैला आँचल' की कथा आंचलिक होते हुए भी भारतवर्ष के राजनीतिक दलों को केन्द्र में रखकर चली है। इस प्रकार उक्त उपन्यास में राजनीतिक दृष्टिकोण बचाया नहीं जा सका है। दूसरी बात यह है कि उस कृति में लेखक की भाव-धारा रोमाण्टिक प्रेमचर्या से प्रभावित है, किन्तु 'परती : परिकथा' में एक अधिक प्रौढ़ लेखक की भाँति 'रेणु' ने राजनीतिक विचार-धारा के बदले अधिक व्यापक राष्ट्रीय प्रगति को उपन्यास के केन्द्र में रखा है। इस कारण इस कृति में किसी राजनीतिक दल विशेष पर प्रत्यक्ष या परोक्ष टिप्पणी नहीं की गई है। दूसरे शब्दों में यह कृति अधिक तटस्थ और अधिक वास्तविक जीवन का आलेखन करती है। इसमें 'मैला आँचल' की भाँति हल्के रोमांस का भी प्रयोग नहीं है।

कुछ समीक्षकों ने उपन्यास की कला या साहित्य-रूप के सम्बन्ध में वैचारिक प्रश्न उठाकर यह बताना चाहा है कि

'परिकथा' उपन्यास की श्रेणी में आती ही नहीं। वह और चाहे जो हो, उपन्यास नहीं है। इस सैद्धान्तिक शंका का एक उत्तर तो यह है कि उपन्यास न सही, जो कुछ वह है उसे वैसा ही रहने दीजिए। उपन्यास नाम न होने से पुस्तक का महत्त्व किस प्रकार घटता है? परन्तु इस उत्तर के साथ ही यदि सिद्धान्त-पक्ष की ओर दृष्टि डाली जाय तो हम देखेंगे कि पश्चिमी साहित्य में, जहाँ से यह उपन्यास शब्द लिया गया है, उपन्यास के कला-रूप की कोई स्थिर इयत्ता या मर्यादा नहीं है। पश्चिम के नये-से-नये विचारक भी उपन्यास की परिभाषा देने का साहस नहीं कर सके। इतने वैविध्य और वैचित्र्य के साथ वहाँ उपन्यास-कला विकसित हुई है; कथानक-कृति से लेकर कथा से नितान्त छुटकारा पाई हुई रचना तक; चरित्र की बाह्य रेखाओं की पूर्णता से लेकर नितान्त रेखाहीन मनोमय भूमिका तक—चेतना के रहस्यमय प्रवाह के रूप में उपन्यास की इतनी भंगिमाएँ, शैलियाँ और प्रकार हैं कि 'परती : परिकथा' उनमें से एक या अनेक आकृतियों में आसानी से आ सकती है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से 'परती : परिकथा' एक समृद्ध रचना है। मुख्य आख्यान कोसी-अंचल में होने वाली नवनिर्माण-सम्बन्धी घटनाओं से सम्बद्ध है। इसके साथ एक अन्य वर्णना पारिवारिक डायरी के मिल जाने से चल पड़ती है, जिसे हम उपन्यास का पूर्व वृत्त कह सकते हैं। ये तीनों ही कथा-स्रोत अच्छी तरह अनुस्यूत होकर 'परिकथा' का निर्माण करते हैं। विशेषतः कोसी की प्राचीन कथा लोक-गीतों का माध्यम लेकर उपन्यास को विशिष्ट भाव-सम्पत्ति प्रदान करती है।

किन्तु 'परिकथा' का मुख्य आकर्षण शिल्पगत न होकर वस्तुगत है। जान पड़ता है कि कोसी अंचल की कुछ वर्षों की सारी जीवन-गति ही उपन्यास में उठाकर रख दी गई है। स्वभावतः यह उपन्यास वर्णनात्मक और दीर्घसूत्री न होकर असंख्य चलचित्रों (Snap shots) की समाहित योजना पर आश्रित है। विशेषता यह है कि ये सम्पूर्ण चलचित्र एक अखण्ड और अव्याहत पूर्णता का निर्माण करते हैं और इनमें कहीं भी सन्धियाँ या रिक्त स्थल नहीं रह पाए हैं। इसे पढ़कर समाप्त करने पर हमारे समक्ष कोसी अंचल की सम्पूर्ण प्राकृतिक और मानवीय दृश्यावली ही नहीं झलक उठती, बल्कि उस दृश्यावली के साथ कलाकार की अप्रतिहित और अदम्य आस्था और अन्तर्दृष्टि भी झाँकने लगती है। ऐसी रचनात्मक दृष्टि और प्रतिभा से समन्वित कोई कृति हिन्दी में कदाचित् वर्षों से प्रकाशित नहीं हुई। इसलिए यह आवश्यक है कि रेणुजी की नवीन कृतियों को हिन्दी-उपन्यास के सम्पूर्ण नये परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाय, यद्यपि यह कार्य सम्पादकीय लेख की स्वल्प सीमा में करना बहुत कुछ कठिन और असाध्य ही है।

अपने उपन्यासों के निर्माण में जिन उपकरणों का प्रयोग प्रेमचन्द ने किया, वे अन्ततः स्थूल और अविकसित ही थे, किन्तु उनकी प्रतिभा की यह विशेषता थी कि उनके द्वारा भी वे उत्कर्ष की प्राप्ति कर सके। उनकी कृतियों में कथानक और वर्णनात्मकता का प्रधान स्थान है। उनके पात्र भी व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से युक्त न होकर वर्ग अथवा समूह-विशेष के प्रतिनिधि रूप में आये हैं और उनके द्वारा अंकित जीवन-चित्र एक विशिष्ट प्रयोजनमूलक दृष्टिकोण

से सीमित हैं। महान् उपन्यास की निर्मिति के लिए जिन सूक्ष्म तत्त्वों की अनिवार्यता आज बताई जाती है, वे प्रेमचन्द के युग में अलभ्य ही थे। प्रेमचन्द एक विशाल क्षेत्र में कार्य करने वाले लेखक थे। जीवन को उसके समस्त विस्तार में ग्रहण करने का उन्होंने प्रयत्न किया। वास्तविक जीवन-पट असंख्य रंगों से निर्मित है। प्रेमचन्द ने कतिपय चुने हुए रंगों से ही उसका कलात्मक पुनर्निर्माण किया। परिणामतः उनका निर्मित जीवन-चित्र वैशिष्ट्य के महान् ऐश्वर्य से मण्डित न होकर भी व्यापक सजीवता का आभास देता है।

प्रेमचन्द के उपन्यास ग्राम्य जीवन के घनिष्ठ परिचय से आलोकित हैं। ग्राम्य-जीवन की जो आत्मीय और प्राणमयी झाँकियाँ उन्होंने उपस्थित की हैं, वे हिन्दी-उपन्यास में अन्यत्र दुर्लभ हैं। मनुष्य की स्वीकृति में वे अबाध प्रतीत होते हैं और उनकी कृतियाँ मनुष्य के प्रति नैसर्गिक और अपार प्रेम की भावना से वैशिष्ट्यवान हैं। राष्ट्रीय भावना में नई शक्ति के उन्मेष के युग में देश-व्यापी स्फूर्ति, भावना-प्रेरित कर्त्तव्यनिष्ठा और उत्साह के वे प्रत्यक्ष अनुभोक्ता तथा कलात्मक माध्यम में सफल प्रयोक्ता थे। उस युग की उमंग-तरंगित और अबाध-विकासमान राष्ट्रीय चेतना की जीवनी उनकी कृतियों में अक्षत लिपिबद्ध है। व्यक्तिगत वैशिष्ट्य में उन्हें कोई रुचि न थी, किन्तु राष्ट्र अभिनव यौवनोन्मेष के द्वार पर जिस नये व्यक्तित्व की अभ्यर्थना कर रहा था, उसके वे गौरवान्वित अनु-गायक थे। उनकी यह शक्ति उनकी कला में जीवन-शक्ति के रूप में प्रतिभासित होती है और वह उनकी कृतियों को सामान्य वस्तु-लेखन की कोटि से ऊपर उठा देती है।

प्रेमचन्द एक बहिर्मुख कलाकार थे। उनकी दृष्टि उनकी आस्था से आलोकित होकर अन्ततः वस्तून्मुखी थी। सर्वाङ्ग-पूर्ण जीवन बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् की जिस समन्वित सहसत्ता की माँग करता है उसकी दृष्टि से वे एक सीमा को अपना-कर चले; किन्तु इस सीमा के अन्दर जो विस्तार सम्भव था, उसकी सृष्टि उन्होंने की। उनकी उपन्यास-रचना में एक उत्तरोत्तर विकास दृष्टिगोचर होता है और उसीके अनुरूप उनकी अन्तिम कृति उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति भी मानी जाती है। विकास की यह विशेषता उनके परवर्ती नवदिशान्वेशियों में नहीं मिलती, वे आरम्भिक सम्भावना से यशस्वी होकर अपने परवर्ती कृतित्व में स्पष्ट ह्रास प्रदर्शित करते हैं। परवर्ती लेखकों में दुर्लभ प्रेमचन्द की एक और विशेषता है। वे एक ऐसी भाषा के स्वामी थे जो बाह्य स्वरूपवर्ती अन्य गुणों से युक्त एक साथ साहित्यिक उत्कर्ष और जन-भाषा से सामीप्य का साधन बनी है, जो परवर्ती लेखकों की भाषा के निस्पन्द अथवा सन्दिग्ध सौन्दर्य की तुलना में कहीं अधिक रोचक और सप्राण है।

प्रेमचन्द की उपलब्धि की तुलना में हिन्दी-उपन्यास उनके पश्चात् अनेक दृष्टियों से भिन्न हो गया। व्यापक जीवन-चित्रण के स्थान पर संकीर्ण सीमाएँ अपनाई गईं। वस्तु-जगत् के स्थान पर अन्तर्जगत् का आग्रह हुआ और सबको विशाल एकता में अनुसीमित करने वाली मानवतावादी तथा राष्ट्रीय भावना को स्थानापन्न करके अधि-कांश लेखकों ने व्यक्तिवादी एवं सैद्धान्तिक भूमि अपनाई। यह कहना कठिन है कि इस नये उत्थान के लेखकों ने प्रेमचन्द की उपलब्धियों का उपयोग करके आगे बढ़ने

का प्रयत्न किया।

जैनेन्द्र में नागरिक मध्यवर्ग की परिस्थितियों और उनके जीवन के कुछ चुने हुए पक्ष निरूपित हैं। प्रेमचन्द की तुलना में वस्तु का सापेक्षिक अभाव जैनेन्द्र की कृतियों में एक वायवीयता का आभास उत्पन्न करता है। उनकी प्रथम प्रशस्ति इस आधार पर हुई कि हिन्दी-उपन्यास में उन्होंने दार्शनिकता का समावेश किया है। तथ्य हम यह देखते हैं कि जैनेन्द्र की कृतियों में दार्शनिक पीठिका या प्रयोजन का जितना योग होता गया उतनी ही वे जीवन से दूर होती गईं। तथाकथित दार्शनिकता वास्तव में उपन्यास के लिए आवश्यक नहीं। उपन्यास में जीवन-चित्रण आधारभूत वस्तु है। जैनेन्द्रीय दर्शन ने उसे ही पाशबद्ध कर लिया है। उपन्यास के क्षेत्र में दर्शन अधिक-से-अधिक छाया प्रकाश के रूप में चित्र को पूर्णता प्रदान करता है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में दर्शन का स्वरूप कला में पर्यवसित न हो पाने के कारण कृतियों के कलात्मक लक्ष्य और चरित्र-चित्रण में अस्पष्टता उत्पन्न करता है। थामस हार्डी और प्रसाद के उपन्यासों में भी एक दार्शनिक भूमिका की स्थिति है, किन्तु उसके परिणामस्वरूप उनकी कृतियों में जीवन और चरित्र-चित्रण खण्डित अथवा अस्पष्ट न होकर अधिक स्वयं सम्पूर्ण और प्रोज्ज्वल बन गए हैं। सिद्ध यह होता है कि दर्शन उपन्यास में अनिवार्य नहीं। यदि वह है तो उसके लिए कला में पर्यवसित होना अनिवार्य है। यह आवश्यक है कि उसकी रूपरेखा पहचानने योग्य पर्याप्त स्पष्ट हो, नहीं तो कृति पर लदकर वह उसे विकृत और विकलांग बना देगा।

नारी के विषय में मानसिक अवरोध (Obsessions) के कारण मृणाल सहित उनके समस्त स्त्री-चित्रण सीमित, अधूरे और अनबूझ-से हो गए हैं। इस कार्य में वास्तव में दो स्वतन्त्र प्रेरणा-भूमियों का मिश्रण मिलता है। नारी-चरित्र का आरम्भिक चित्रण यदा-कदा किंचित् सामाजिक स्पर्श के साथ मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार पर करके उत्तरार्द्ध में वे दार्शनिक साधना और नीति का दामन थाम लेते हैं। इस मिश्रण में दोनों प्रेरणा-भूमियों का निर्वाह नहीं हो पाता, वे एक-दूसरे को क्षतिग्रस्त करती हैं।

अन्ततः ये उपन्यास किस प्रकार के कहे जायँगे? क्या वे मनोवैज्ञानिक हैं, अथवा सामाजिक, या नैतिक या दार्शनिक हैं? तटस्थता और वस्तुमूलकता के अभाव में उन्हें अन्य आभास होने पर भी मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। अपनी कृतियों के जगत् में बलात् प्रवेश के द्वारा वे उनके औपन्यासिक लक्ष्य को नष्ट कर देते हैं। उल्लिखित चारों तत्वों का अनमेल प्रयोग उपन्यास की सत्ता को सन्दिग्ध बना देता है। हिन्दी की अविकसित स्थिति में चाहे उन्हें मसीहा का पद दे दिया जाय, पर प्रबुद्ध पाठक के द्वारा वे सदा सन्दिग्ध दृष्टि से ही देखे जायँगे।

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में जैनेन्द्र से कई कदम आगे बढ़ने वाले अज्ञेय हैं। ये भी दर्शन, औदात्य अथवा महात्मा बुद्ध के आदर्श की भूमिका को छोड़ने के लिए तैयार नहीं। हिन्दी-उपन्यासकारों के साथ यह रोग-सा लग गया है कि उनके पास पकाने लिए कोई-न-कोई खिचड़ी होती ही है। उनकी कृति में अहंवादिता और उसके परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। विशुद्ध अहं वहाँ अंकित नहीं, वहाँ आदर्श अहं

(ego-iadal) का लोक है अर्थात् अहं का कल्पित आदर्श-स्वरूप। परिणामतः कृति 'रोमाण्टिक' है, 'रिअलिस्टिक' नहीं। यही कृति के पूर्णतः मनोवैज्ञानिक बनने में सबसे बड़ी बाधा है। अज्ञेय की कृति का रोमांस एक अन्तर्मुख व्यक्तित्व का रोमांस है, जो विशेषतः उनके नारी-दर्शन में परिलक्षित होता है। प्रसाद की स्वस्थ रोमाण्टिक भूमि से यह स्थिति बहुत भिन्न है। अन्तर्मुख रोमांस की पूर्ति के लिए ही अज्ञेय के पात्र उच्च मध्यवर्ग के अवकाशजीवियों में से लिये जाते हैं। कहना आवश्यक नहीं कि इससे औपन्यासिक लेखन की एक सीमा बँध जाती है।

अज्ञेय की अप्रतिमता एक विशिष्ट और मौलिक शैलीकार के रूप में है। सबसे बढ़कर शैली वह वस्तु है जो उनकी कृति को उत्कृष्ट और दीर्घजीवी बनाती है। प्रेमचन्द यदि बोल-चाल की भाषा में चमत्कार के स्रष्टा थे, तो प्रसाद के समान अज्ञेय अपने विशिष्ट ढंग से अभिजात भाषा में चमत्कार के स्रष्टा हैं। कृतित्व में भी अज्ञेय एक विशेष प्रकार के महत्त्व के पात्र हैं। प्रेमचन्द में बहिर्मुखता की उपलब्धि के पश्चात् अग्रिम गति में हिन्दी-उपन्यास आन्तरिक जीवन के चित्रण की सफलता का अपेक्षी था। अज्ञेय का प्रयोग इस दृष्टि से सफल है, किन्तु यह सफलता एक बहुत बड़ी कीमत चुकाकर मिली है। अन्ततः सर्वाङ्ग उत्कर्ष की सिद्धि हिन्दी-उपन्यास में अन्तर्बाह्य के सन्तुलित योग से ही सम्भव होगी।

इलाचन्द्र जोशी ने जीवन और कला के प्रति एक बौद्धिक दृष्टिकोण को अपनाया है। अपने ढंग से वे मनोविज्ञान और प्रगतिवाद का नाम लेकर अन्तः और बाह्य के सन्तुलित सह-स्वीकार के लिए प्रयत्नशील हुए हैं, यद्यपि विशेष उपेक्षित तत्त्व मानकर मनोविज्ञान पर उन्होंने अधिक जोर दिया है। मनोविज्ञान उनके उपन्यासों में सामग्री के रूप में प्रयुक्त है, किन्तु शैली और शिल्प मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अनुरूप नहीं हैं। वस्तु तो नवीन है, किन्तु विधि पुरानी है। जो अविकसित और रूढ़ उपकरण प्रेमचन्द को प्राप्त थे, जोशी जी उनमें परिनिष्ठित हैं। तभी तो जीवन के सर्वाङ्गपूर्ण निरूपण की आकांक्षा के साथ कथात्मकता के लिए उनका प्रबल आग्रह है।

विकास की दृष्टि से अपनी प्रारम्भिक स्थिति में वे अधिक एकाग्र कलाकार दिखाई देते हैं। उनके कलात्मक उद्देश्य में एकता मिलती है। इसीलिए 'पर्दे की रानी' अपने ढंग की उल्लेखनीय कृति बन गई है। आगे चलकर उद्देश्य और प्रेरणाओं में बहुमुखता आ गई है, जिससे कला का संगठन टूटने-सा लगा है। वे मानवतावाद की ओर निरन्तर अग्रसर हो रहे हैं, किन्तु अभी तक वहाँ पहुँचे नहीं हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उनकी समस्त गति बौद्धिक है, और प्रत्यक्ष जीवन से सम्पर्क स्थापित करने में वे अभी तक सफल नहीं हुए हैं। परिणामस्वरूप महती सदाशयता की उत्तरोत्तर वृद्धि और कलात्मकता के उत्तरोत्तर ह्रास का विचित्र दृश्य उनकी परवर्ती कृतियों में हम देखते हैं। मनुष्य के प्रति एक दूरन्त अनुराग तो उनमें लक्षित होता है, किन्तु कला को समुन्नत करने वाली उस महान् सहानुभूति की ऊष्मा का परिचय अभी तक उनमें नहीं मिला, जो उदाहरणार्थ पर्ल बक के कृतित्व में अनुभूति होती है। एक स्वस्थ दृष्टिकोण को सामने लाने का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है।

इन मनोवैज्ञानिक कहे जाने वाले

उपन्यासकारों के अतिरिक्त कुछ नितान्त भिन्न दिशा में चलने वाले लेखक भी हैं। उनकी विशेषताओं का परिचय देने के लिए उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और यशपाल बहुत उल्लेखनीय हैं--दोनों विशिष्ट दृष्टिकोण से युक्त और बहिर्मुख हैं। अश्क आंशिक रूप में जोला की जाति के यथार्थवादी हैं। यथातथ्यवाद में निष्ठित होने के कारण उनकी कृतियों में परिस्थिति (वातावरण और वंशानुक्रम) नियामक बनकर उपस्थित होती है और मनुष्य उसके द्वारा नियोजित और परिचालित पुतला बन जाता है। परिपार्श्व की शक्तियाँ उसे उत्तेजित करके अपने साथ दौड़ाती हैं, किन्तु उसमें ऐसा कोई प्रेरणा-केन्द्र नहीं है जो स्वयं उसकी आकांक्षित और संकल्पित मानवनिष्ठ गति को स्फूर्त्त कर सके। इसकी अवश्यम्भावी और विलक्षण परिणति उनके सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गिरती दीवारें' में दृष्टिगोचर होती है। इसमें परिपार्श्व के चित्रण में अश्क अपार परिश्रम करते हैं, एक-एक ईंट जमा करके एकान्त लगन से वे अपना कला-भवन निर्मित करते हैं, छोटी-से-छोटी वस्तु भी उपेक्षित नहीं रह पाती, और इन सबके साथ उनके नायक के जीवन की रूप-रेखा भी क्रमशः निर्मित होती जाती है। वह क्षण आता है जब नायक का निर्माण अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है। इस पूर्णता के साथ वह अपने को एक ऐसी स्थिति में पाता है जब उसका चेतन–प्रबोध–सम्पूर्ण है, और वह एक निर्णय लेने की आवश्यकता के अभिमुख है। यदि संकल्पित निर्णय वह ले लेता है तो वह तत्काल विशुद्ध परिस्थिति से ऊपर एक आध्यात्मिक धरातल पर उठ सकता है। किन्तु यन्त्र आत्मा से युक्त नहीं होते। 'गिरती दीवारें' का नायक वह अनिवार्य निर्णय नहीं ले पाता, और 'गिरती दीवारें' का कला-भवन सिद्धि का द्वार देखकर, उसका स्पर्श किये बिना ही ढह जाता है। केवल यही नहीं कि वह निर्णय नहीं लेता, किन्तु सत्य तो यह है कि अश्क के जगत् में उगने वाला मनुष्य निर्णय लेने में मूलतः अशक्त है। गम्भीरता अचानक हल्केपन में बदल जाती है, और प्रयोजन की सम्भावना का प्रयोजनहीनता में अवसान हो जाता है। इसीलिए अश्क का सामाजिक व्यंग्य शक्तिमान आघात न पहुँचाकर मन्द हँसी भर पैदा करके रह जाता है।

यशपाल एक तरह से अश्क के प्रतिलोम हैं। अश्क जी यदि परिपार्श्व के प्रणेता हैं, तो यशपाल प्रयोजन के प्रतिष्ठाता। अश्क जी यदि कला को पूर्णतया वैज्ञानिक स्वरूप में ढालने के पक्षपाती हैं तो यशपाल उसे मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपित करने के आग्रही हैं। यशपाल पुरुष-पौरुष के लेखक हैं, किन्तु मनुष्य की तुलना में उन्हें मतवाद प्रिय है। उनमें हम मध्यवर्गीय लेखक की साम्यवादी परिणति देखते हैं। जब ऐसा होता है तो यथार्थ से असंगति के विविध परिणाम देखने को मिलते हैं। यशपाल का दृष्टिकोण भी जोशीजी के समान बौद्धिक है; किन्तु जोशी जी से भिन्न स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के चित्रण में वे एक विकृत (Morbid) मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। नैतिक मनुष्य की उनकी धारणा संदेहास्पद है और मनुष्य सत्ता की विकासमान परिणति की सम्भाव्यता में आस्था के अभाव का संकेत करती है। उनका जीवन-चित्रण निरंतर मनुष्य का आधार खोजता है, किन्तु वास्तविक मनुष्य और जीवन से उसकी संगति नहीं बैठ पाती। जिस प्रकार प्रेमचन्द का कृतित्व जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से आत्मवान है, वह विशेषता यशपाल के सिद्धान्त-प्रेरित

कृतित्व में कम ही उभर पाई है।

यशपाल की भाषा और अभिव्यंजना अनगढ़ और रूक्ष हैं। उनकी कृतियों के संगठन के विषय में भी इससे बहुत भिन्न बात नहीं कही जा सकती। किन्तु इतना होते हुए भी उनके लेखन में एक विशिष्ट शैली का तत्त्व मौजूद है। दो आतिशयिक विरुद्ध तत्त्वों को मार्मिक रूप में एक-दूसरे के समीप और अभिमुख रखकर वे आकर्षक कला की उद्भावना कर लेते हैं। उनके व्यंग्य इसीलिए चुभने वाले और आघातकारी होते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की तुलना में वे जीवन की व्याप्ति और सामाजिक जागरूकता के परिपोषक दिखाई देते हैं।

प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी के यही प्रमुख रचनात्मक औपन्यासिक हैं। ये कला की भूमि में पूर्णतः परीक्षित हो सकते हैं। इनसे एक श्रेणी भिन्न वे लेखक और उपन्यासकार हैं, जिन्हें हम पूर्णतः साहित्यिक नहीं कह सकते। उनके लेखन के उद्देश्य बहुत-कुछ उपयोगितावादी हैं। उनकी लेखनी का बल उनकी कलात्मक त्रुटियों को एक हद तक अपवाहित कर देता है। इस श्रेणी में राहुल सांकृत्यान की गणना हो सकती है, जिनके ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी में अपना स्थान रखते हैं। इनसे बहुत-कुछ भिन्न और साहित्यिक दृष्टि से अधिक प्रौढ़ ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा हैं, जिनकी कृतियों में राष्ट्रीय चेतना और रोमांस का सुन्दर सम्मिलन हुआ है। परन्तु राहुल की लेखनी की-सी शक्तिमत्ता कदाचित् उनमें नहीं है। 'वैशाली की नगर वधू' के लेखक चतुरसेन शास्त्री भी ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों के क्षेत्र में अधिकांश कार्य परिमाण-मूलक हैं।

तीन अन्य लेखक भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी और प्रतापनारायण श्रीवास्तव उपन्यास-लेखन में उल्लेखनीय कार्य कर चुके हैं। हिन्दी-साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में इन लेखकों का प्रदेय भी परिगणित होता रहा है, यद्यपि ये अपनी कृतियों में किन्हीं अतिशय मौलिक तत्त्वों की परिकल्पना कदाचित् नहीं कर सके हैं।

नवयुवक लेखकों में धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' अतिशय सामान्य और छिछली कृति है। उनकी दूसरी रचना 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' अधिक प्रौढ़ है और उनकी सम्भावनाओं को प्रकट करती है। इसी प्रकार नरेश मेहता तथा कुछ अन्य लेखकों की शिल्प-प्रधान कृतियाँ प्रस्तुत हुई हैं, जिनमें वस्तु-तत्त्व अथवा जीवन-तत्त्व की रेखाएँ प्रायः क्षीण हैं।

उपन्यास की विषय-वस्तु और लेखन-प्रक्रिया में एक प्रकार की स्थिरता अथवा गतिहीनता की स्थिति देखकर कुछ पुराने लेखकों ने अपने लेखन की दिशा बदली और नागरिक जीवन की भूमिका को छोड़कर दूरवर्ती और विलक्षण रीति-नीति वाली जातियों और स्थितियों के चित्रणों को अपनाया। उनके लिए यह एक नया प्रयोग था। वे पिष्ट-पेषण से बचना चाहते थे, परन्तु ऐसे लेखक न तो किसी बड़ी गहराई में जाकर आंचलिक क्षेत्र की वस्तु-स्थिति का परिचय दे सके हैं, न उनकी लेखन-शैली में ही कोई बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा है। श्री उदयशंकर भट्ट और अमृतलाल नागर ऐसे लेखक हैं, जिन्हें आंचलिक उपन्यासों का स्रष्टा कहा जा सकता है, पर एक सीमित अर्थ में। उनकी कृतियों से हिन्दी-उपन्यास के वस्तु-तथ्य अथवा रचना-शिल्प में कोई बड़े परिवर्तन उपस्थित नहीं हुए। उक्त प्रौढ़ लेखकों के ये नये उपन्यास उनके लिए

अधिक नये पाठकों की सृष्टि कर सके हैं; यह सच है; पर उपन्यास साहित्य की रूपात्मक या भावात्मकगतिविधि में कोई बड़ी क्रान्ति नहीं हो पाई।

यदि आंचलिक उपन्यास वस्तुतः हिन्दी में एक नई औपन्यासिक प्रगति के प्रतीक हैं, तो ऐसे उपन्यासों की सृष्टि का श्रेय नागार्जुन और रेणु-जैसे लेखकों को दिया जा सकता है। नागार्जुन के उपन्यास व्यंग्यात्मक अधिक हैं और उनमें एक गँदलापन भी है, जिसके कारण उनकी कृतियाँ प्रत्याशित ऊँचाइयों तक नहीं पहुँचीं। फिर भी हिन्दी-उपन्यास को नई दिशा देने में नागार्जुन उल्लेखनीय व्यक्ति हैं। रेणु के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने आरम्भिक दो उपन्यासों के द्वारा ही हिन्दी-उपन्यास के विषण्ण और अतिशय गतिहीन वातावरण में एक नई स्फूर्ति, सक्रियता और उत्साह की सृष्टि कर दी है।

रेणु के आंचलिक उपन्यासों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे अतिशय सीमित क्षेत्र की घटना, भाषा और बोलचाल से सम्बद्ध होते हुए भी एक विलक्षण सांकेतिकता के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को ध्वनित और व्यञ्जित करते हैं। उनमें दो शक्तियाँ प्रशस्त रूप में पाई जाती हैं। छोटी सीमा में दिखाई पड़ने वाली जीवन की बारीक-से-बारीक विविधता का प्रदर्शन; और उन चित्रणों द्वारा सम्पूर्ण सामयिक राष्ट्रीय जीवन-चेतना की अभिव्यक्ति। उनके उपन्यासों में स्थानिकता के आकर्षण के साथ-साथ गतिशील राष्ट्रीय चेतना की सम्पूर्णता का आकर्षण भी है। प्रेमचन्द के उपन्यास राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न हैं। परन्तु उनमें स्थानिकता या आंचलिकता की अपनी रंगत; अपना रूप, रस, गन्ध स्पर्श नहीं है, जो रेणु के उपन्यासों में आ सका है। प्रेमचन्द के पश्चात् उसी राष्ट्रीय पैमाने का, उसी सशक्त सर्जनाशक्ति का दूसरा लेखक हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र में शायद कोई नहीं था। अब हमारी दृष्टि रेणु की ओर जा सकती है।

एक ही उल्लेखनीय बात जो रेणु की कृतियों के सम्बन्ध में प्रश्न-चिह्न बनकर आती है, उनके उपन्यासों की भाषा है। उनके उपन्यास आंचलिक भाषा को छोड़कर यदि खड़ी बोली में लिखे जायँ, तो उनके प्रभाव में किस प्रकार की कमी आयगी? जिस भाषा में उनकी ये कृतियाँ अंकित हैं, दूर प्रान्त वाले हिन्दी-भाषी पाठकों के लिए दुरूह हो सकती है। न भी हो, तो भी भाषा-प्रयोग की शिष्ट परम्परा से दूर तो वे हैं ही। शंका हो सकती है कि यदि रेणु जी इसी आंचलिक भाषा में अपने आगामी उपन्यास भी लिखते रहे, तो वे सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र के उपन्यासकार कहला सकेंगे या नहीं? तब तो उनके उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिन्दी-पाठकों को उसी प्रकार उनकी विशेष भाषा पढ़नी और समझनी पड़ेगी जिस प्रकार हम बंगला या उड़िया भाषा को पढ़ते और समझते हैं। यह स्थिति उनके पाठकों की संख्या सीमित कर सकती है और उन्हें हिन्दी-उपन्यासकार का पद देने में भी बाधक बन सकती है। परन्तु संप्रति भाषा के इस प्रश्न को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है। हमें इस नये लेखक के आगामी विकास को, उसकी अपनी स्वतन्त्र कला-अभिरुचि पर छोड़ देना चाहिए। प्रतिबन्धों से जो कार्य नहीं हो सकता, वह स्वतन्त्रता द्वारा आसानी से हुआ करता है।

निबन्ध

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

नाट्य-शास्त्र की भारतीय परम्परा

[पिछले अंक से आगे]

जैसे कि पहले बताया गया है कि नाट्य वेद में दो वस्तुएँ हैं—विधि और शास्त्र। पाँचवें अध्याय तक पूर्वरंग की विधि विस्तारपूर्वक बताई गई है। छठे अध्याय में पूर्वरंग विधि के सुन लेने के बाद मुनियों के पाँच प्रश्नों का उल्लेख है।

१. रस क्या है, और सत्व का कारण क्या है ?

२. भाव क्या हैं और वे किस वस्तु को भावित करते हैं ?

३. संग्रह किसे कहते हैं ?

४. कारिका क्या है ?

५. निरुक्ति किसे कहते हैं ?

भरतमुनि ने उत्तर में बताया कि चूँकि ज्ञान और शिल्प अनन्त हैं इसलिए नाट्य का कोई अन्त नहीं है। लेकिन संक्षेप में सूत्ररूप में नाट्य का रसभावादि संग्रह मैं आप लोगों को बताऊँगा। उन्होंने बताया कि सूत्र और भाष्य में जो अर्थ विस्तार पूर्वक कहे गए हैं उनका संक्षेप में निबन्धन संग्रह कहलता है और सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्र का संग्रह उन्होंने एक श्लोक में बताया। वह श्लोक है :

रसाभावाह्यभिनयां धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगं च संग्रह ।।

अर्थात् नाट्य-शास्त्र के संक्षेप में इतने अंग हैं :

१. रस; २. भाव; ३. अभिनय; ४. धर्मी; ५. वृत्ति; ६. प्रवृत्ति; ७. सिद्धि; ८. स्वर; ९. आतोद्य; १०. गान और ११. रंग।

इस संग्रहश्लोक में भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र के ११ अंगों का निर्देश किया है और प्रारम्भ में इनका संक्षेप में विवरण दिया है और बाद में विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। वस्तुतः इन ११ विषयों का विवेचन ही शास्त्र है। स्पष्ट जान पड़ता है कि इन श्लोकों के लिखे जाने के पूर्व इन विषयों पर सूक्त, कारिका, और भाष्य लिखे जा चुके थे और इन शब्दों की निरुक्ति भी बताई जा चुकी थी। छठे, सातवें और आठवें अध्याय में सूत्र भी हैं

और कारिकाएँ भी हैं, प्रत्येक शब्द की निरुक्ति भी बताई गई है। गद्य में इन विषयों की जो व्याख्या की गई है वह बहुत-कुछ भाष्य की शैली पर है। कई श्लोकों को आनुवंश्य कहा गया है। आनुवंश्य अर्थात् वंश-परम्परा से प्राप्त। स्पष्ट ही नाट्य-शास्त्र अपने पूर्व के एक विशाल नाट्य-साहित्य की स्थिति की सूचना देता है। विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के पहले शास्त्रकार ने संक्षेप में इनकी चर्चा कर दी है। उन्होंने बताया है कि शृंगार, हास्य आदि आठ रस हैं, रति-हास आदि आठ स्थायी भाव हैं, इनके अतिरिक्त स्वेद, स्तम्भ आदि आठ सात्विक भाव हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर भावों की संख्या ४६ है। काव्य-रसिकों के निकट ये भाव काफी परिचित हैं अतएव हम उनका नाम नहीं गिना रहे हैं। आगे बताया गया है कि अभिनय चार प्रकार के होते हैं---१. आंगिक, २. वाचिक, ३. आहार्य और, ४. सात्विक; धर्मी दो हैं—१. लोकधर्मी, २. नाट्यधर्मी; जिन वृत्तियों में नाट्य प्रतिष्ठित होता है वे चार हैं—भारती, सात्विकी, कैशकी और आरभकी; प्रवृत्तियाँ पाँच हैं—अवन्ती, दाक्षिणात्या, मागधी, पांचाली और मध्यमा;—सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं— दैविकी और मानुषी; षड्ज प्रभृति सात स्वर हैं जो मुख और वेणु दोनों ही से निकलते हैं—आतोद्य चार प्रकार के हैं—तत, अवनद्ध और सुषिर, इनमें तार वाले बाजे तत हैं, मृदंगादि अवनद्ध हैं, ताल देने वाले घन हैं और वंशी सुषिर (छिद्रयुक्त) हैं। गान पाँच प्रकार के होते हैं—प्रवेश, आक्षेप, निष्काष्य प्रासारिक और (ध्रुवावेग)? रंग च तीन प्रकार के होते हैं—चतुरस, विकृष्ट और मिश्र। संक्षेप में यही शास्त्र के विषय हैं—

'एवमेषोऽल्पसूत्रार्थोव्यादिष्येनाट्यसंग्रहः।'

इन्हीं ११ विषयों के विस्तृत विवेचन को नाट्य-वेद का शास्त्र-अंग कहा गया है। यह विधि से भिन्न है। इनके अनेक भेदोपभेदों का ज्ञान कराया गया है और युक्तिपूर्वक बताया गया है कि इनका प्रयोग कब, क्यों और कैसे किया जाना चाहिए। विधि अवश्य करणीय है। उसमें तर्क नहीं किया जा सकता। किन्तु शास्त्र तर्क और ऊहापोह से युक्त है। उसमें शंका और समाधान के लिए स्थान है और बौद्धिक विवेचन की गुञ्जाइश है।

नाट्य-शास्त्र के कई संस्करण प्रकाशित हुए। 'हाल' ने सन् १८६५ में अपने सम्पादित 'दशरूपक' के परिशिष्ट में नाट्य-शास्त्र के १८वें, २० वें, और ३४ वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। पी० रेगनाड ने भी नाट्य-शास्त्र के १४ वें और १५वें अध्याय और सन् १८८४ में 'रेटोरिके संस्कृते' में ६वें और ७ वें अध्याय का प्रकाशन कराया। 'निर्णयसागर' प्रेस में काव्यमाला सीरीज में पूरा नाट्य-शास्त्र प्रकाशित हुआ और फिर उसके कुछ दिन बाद १६३६ में काशी में पं० बटुकनाथ शर्मा और पं० बलदेव उपाध्याय ने 'काशी संस्कृत सीरीज' (जो प्रायः चौखम्बा संस्कृत सीरीज के नाम से प्रसिद्ध है) में नाट्य-शास्त्र का एक दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। सन् १६२६ में श्री रामकृष्ण कवि ने अभिनव गुप्त की महत्त्वपूर्ण टीका 'अभिनव-भारती' के साथ नाट्य-शास्त्र के प्रथम सात अध्यायों का सम्पादन करके 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज' में प्रकाशित कराया। आठवें से १८ वें तक के अध्यायों की दूसरी जिल्द सन् १६३४ में प्रकाशित हुई और तीसरी जिल्द भी अब प्रकाशित हो गई है। श्री कवि ने नाट्य-शास्त्र के विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक विवरण अपनी पुस्तक की भूमिका में दिया है। उस भूमिका में और महामहोपाध्याय पं० सी० वी० काने ने अपने

'हिस्टरी आफ संस्कृत पोयटिक्स' में विस्तारपूर्वक इन संस्करणों में पाये जाने वाले विभिन्न रूपों और पाठ-भेदों की चर्चा की है। उससे लगता है कि नाट्य-शास्त्र के पाए जाने वाले विभिन्न रूपों में बहुत अन्तर है।

वर्तमान नाट्य-शास्त्र से यह स्पष्ट है कि नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है। ६वें, ७ वें तथा अन्य अध्यायों में भी लम्बे-लम्बे गद्यांश आए हैं, जो निरुक्त और महाभाष्य की शैली में लिखे गए हैं, कम-से-कम १५ श्लोक और १६ आर्या में आनुवंश्य अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त बताई गई हैं, कुछ सूत्रानुबद्ध आर्याम हैं, जो श्लोकरूप में लिखे हुए सूत्रों की व्याख्या हैं, इन्हें सूत्रानुबेद्ध या सूत्रानुविद्ध आर्या कहा गया है, लगभग सौ पद्य ऐसे हैं जिन्हें 'अत्रश्लोका' या 'आत्रार्या' कहकर उद्धृत किया गया है और जिनके बारे में अभिनव गुप्त ने कहा है कि ये प्राचीन आचार्यों के कहे हुए श्लोक हैं।[1] इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में पूर्व-परम्परा के अनेक तत्त्व मिलते हैं। नाट्य-शास्त्र में कुछ अंश निश्चय ही बहुत पुराना है। उपलब्ध नाट्य-शास्त्र का लेखक स्वीकार करता है कि वह परम्परागत सूत्रों का हवाला दे रहा है, जब कि आरम्भिक अध्यायों में यह भी कहता है कि यह सबसे पहला प्रयास है। पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में कृशाश्व और शिलालि नाम के दो सूत्र-कर्ताओं का उल्लेख किया है। यह आश्चर्य की बात है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में मानो प्रयत्नपूर्वक इन दो आचार्यों का नाम छोड़ दिया गया है। सम्भवतः वर्तमान रूप के लेखक या सम्पादक को इस शास्त्र की सर्वप्रथमता सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक लगा हो (भाव-प्रकाशन में वासुकि नाम के एक प्राचीन आचार्य का यह मत उद्धृत किया है कि इन्होंने भी भावों से उसका उत्पन्न (रस-सम्भवः) होना बताया है और प्रमाणस्वरूप नाट्य-शास्त्र का एक श्लोक उद्धृत किया है,[2] जो वर्तमान नाट्य-शास्त्र में 'भवन्ति चात्रश्लोकाः' कहकर उद्धृत किया है। इससे अनुमान किया सकता है कि किसी वासुकि नाम के आचार्य की किसी कृति से वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक परिचित अवश्य था परन्तु उनका नाम देना किसी कारणवश उचित नहीं समझा। पाणिनि ने जिन दो आचार्यों का उल्लेख किया है उनकी कुछ बातें भी इन परम्परा-प्राप्त कारिकाओं या सूत्रों में आई हैं या नहीं, यह कहना कठिन है। नन्दिकेश्वर, तंडु (यह भी अभिनव गुप्त के मत से नन्दिकेश्वर का ही दूसरा नाम है) कोहल आदि आचार्यों का नाम लेकर उल्लेख है और 'गन्धर्ववेद' नामक शास्त्र की भी चर्चा है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक ऐसे लोगों का नामतः उल्लेख करने में नहीं हिचकता जिनकी प्रसिद्धि देव-कोटि के लेखकों में है, परन्तु मनुष्य-कोटि के लेखकों का वह प्रयत्नपूर्वक नाम नहीं लेना चाहता। उद्देश्य है, शास्त्र की सर्वप्रथमता खण्डित न होने देना। कोहल को मनुष्य-कोटि का आचार्य माना गया है इसलिए भविष्यवाणी के रूप में[3] इनका उल्लेख किया गया है और प्रथम अध्याय में इन्हें भरत के पुत्रों में मिलाया गया है।

१. 'अभिनव भारती', जिल्द १, ६. पृ० ३२८।
२. भा० प्र०, पृ० ३६-३७।
३. पृ० ३६-६५।

ऐसा जान पड़ता है कि नाट्य-शास्त्र का कुछ अंश काफी पुराना है, महामहोपाध्याय डॉ० पी० वी० काने का अनुमान है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का छठा और सातवाँ अध्याय (रसभाव विवेचन) ८वें से १४वें तक के अध्याय (जिनमें अभिनय का सविस्तर विवेचन है) तथा १७ वें ३५ वें तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित हुए थे। छठे और ७वें अध्याय के गद्य-अंश और आर्याएँ सन् ईसवी के दो सौ वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थीं। वर्तमान नाट्य-शास्त्र को जब अन्तिम रूप दिया गया तब जोड़ी गई।[1] आगे चलकर उन्होंने बताया है कि सन् ईसवी की तीसरी या चौथी शताब्दी में नाट्य-शास्त्र को नये सिरे से सजाया गया और उसमें सूत्रभाष्य शैली के गद्य, पुरानी आर्याएँ तथा श्लोक और जोड़े गए और नवीन रूप देने वाले सम्पादक ने भी कुछ व्याख्यात्मक कारिकाएँ लिखकर जोड़ीं।[2] डॉ० काने ने इसके पक्ष में अनेक प्रमाण दिए हैं जिनको स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

१९वीं शताब्दी में कई यूरोपियन पण्डितों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय नाट्यों के विकास में भारत के साथ ग्रीस के सम्पर्क का बहुत बड़ा हाथ है। वेबर ने अपनी पुस्तक "Indian Literature" में तथा अन्य कई लेखकों ने यह बताने का प्रयत्न किया कि वैक्टिरया पंजाब और गुजरात में ग्रीक शासकों के दरबार में ग्रीक नाटकों के अभिनय होते थे। उनसे भारतीय नाटक और नाटकीय सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु 'महाभाष्य' में जब ऐसा लेख प्राप्त हुआ जिससे 'रामायण महाभारत' आदि के अभिनय की परम्परा पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई तो वेबर ने अपने मत में थोड़ा सुधार कर लिया। वे इतना ही कहकर सन्तुष्ट हो गए कि भारतीय नाटकों पर और नाटकीय सिद्धान्तों पर कुछ ग्रीक प्रभाव ज़रूर पड़ा होगा।

पिशेल नामक जर्मन पण्डित ने वेबर के मत का बड़ा ज़ोरदार खण्डन किया, जिसका प्रत्याख्यान सन् १८८२ में विंडिश नामक जर्मन पण्डित ने किया। विंडिश यह तो मानते हैं कि भारतवर्ष में स्वतन्त्र भारतीय नाटक के विकास के तत्त्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। परन्तु वे 'महाभाष्य' में उल्लिखित 'रामायण महा भारत' की लीलाओं से परवर्त्ती काल के शास्त्रीय-सिद्धान्त-मर्यादित नाटकों को भिन्न समझते हैं, उनका कहना है कि परवर्त्ती काल के नाटकों की विषय-वस्तु का परिवर्तन हो गया, जो पौराणिक पात्र थे, वे गृहस्थ के दैनन्दिन जीवन के साँचे में ढाले गए, नाटकों की प्रधान-काव्य-वस्तु कामदी-प्रेय बन गया।

कथावस्तु का कलात्मक विकास हुआ जिसमें अंकों और दृश्यों में उनका विभाजन किया गया, पात्रों के ढाँचे में विकास हुआ, वार्तालाप के विकास के सामने महाकाव्यात्मक तत्त्व पीछे रह गए, पद्यों के साथ-साथ गद्य का मिश्रण हुआ और संस्कृत के साथ प्राकृत ने भी नाटकों में अपना अधिकार स्थापित किया। क्या यह सब यों ही हो गया? निश्चय ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व नया आया होगा। विंडिश का ही अनुमान है कि यह नया तत्त्व ग्रीक लोगों के साथ भारतीयों का सम्पर्क ही है। विंडिश के इस मत की बड़ी चर्चा हुई। उनके बाद भारतीय कला और शिल्प के अन्यान्य क्षेत्रों में ग्रीक-प्रभाव की काफ़ी चर्चा हुई।

१. पृ० १८।
२. पृ० २२।

मूर्ति-कला के क्षेत्र में गान्धार की मूर्तियों को ग्रीक-मूर्तिकला की देन बताया गया और परवर्ती-काल में एक नवीन स्वतन्त्र भारतीय कला के विकास में उसे प्रेरक तत्त्व समझा गया। प्रो० सिल्वांलेवी ने विंडिश के नाटक-सम्बन्धी मत का तो बड़ा ज़ोरदार खण्डन किया किन्तु उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया कि अश्वघोष के माध्यम से बौद्धधर्म में जी नवीन प्राणों का स्पन्दन दिखाई देता है उसका कारण पश्चिम से आई हुई धार्मिक विचार-धारा थी। इस प्रकार विंडिश ने जिस ग्रीक-प्रभाव को भारतीय नाटकों का प्रेरक तत्त्व बताना चाहा था उसका अस्तित्व शिल्प और धर्म के दूसरे क्षेत्रों में भी स्थापित करने का प्रयत्न हुआ। अब प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ग्रीक-शासकों के दरबार में ग्रीक-नाटकों का अभिनय हुआ करता था? दुर्भाग्यवश इसके पक्ष या विपक्ष में कहने योग्य प्रमाण कम हैं। सन् १६०६ में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की पत्रिका में सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ जान मार्शल ने पेशावर में प्राप्त एक बरतन पर ग्रीक-नाटक 'एण्टिगोन' के एक अभिप्राय का अंकन बताना चाहा परन्तु प्रायः सभी विद्वानों ने उसे सन्देहास्पद और कष्ट-कल्पित माना। अलक्षेन्द्र के बारे में अवश्य कहा जाता है कि वह नाटक देखने का बड़ा शौकीन था और यह भी सुना जाता है कि अकेले 'एकवनाना' में ही तीन हज़ार ग्रीक-कलाकार थे। परवर्ती ग्रीक-लेखकों ने यह भी लिखा है कि ईरानीवत्वे, जेड्रोशियन और ? शसा के लोग यूरीपाइड और सेफोक्लिक्स के नाटकों के गीत गाया करते थे। और परवर्ती ग्रीक लेखक 'फिलस्ट्रेटस' ने तो एक ब्राह्मण की चर्चा की है जिसे गर्व था कि उसने यूरीपाइड का नाटक 'हेराक्लडई' पूरा पढ़ लिया है। प्रो० सिल्वांलेवी इन वक्तव्यों को अतिरंजित और सन्देहास्पद मानते हैं। जो हो, यह मान लिया जा सकता है कि भारतवर्ष में जो ग्रीक लोग आए होंगे वे कुछ-न-कुछ अपने देश के नृत्य, गान, नाटक आदि का अभिनय भी कराते होंगे। जिन शासकों ने ग्रीक-कलाकारों को बुलाकर सुन्दर सिक्के ढलवाये उनसे उतने कला-प्रेम की आशा तो की ही जा सकती है; परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि सचमुच इन नाटकों ने भारतीय नाटकों को प्रभावित किया होगा? विंडिश का कहना है कि ईसवी पूर्व ३४० और २६० के बीच जो ग्रीस में जो नई ऐक्टिक कामेडियाँ लिखी गईं वे ही भारतीय नाटकों को प्रभावित करने वाले मूल स्रोत मानी जा सकती हैं परन्तु जैसा कि श्री ए० बी० कीथ ने अपने 'संस्कृत नाटक' नामक ग्रन्थ में बताया है "संस्कृत नाटक और कामेडियों में जो सम्बन्ध है वह बहुत ही थोड़ा है।" श्री ए० बी० कीथ ने और भी कहा है कि विंडिश का यह कहना कि ग्रीक (रोमन) और भारतीय दोनों नाटकों में अंकों और दृश्यों का विभाजन होता है दोनों में स्त्री पात्र प्रत्येक दृश्य के अन्त में रंगमंच छोड़ देते हैं, अंकों की संख्या साधारणतः पाँच होती है (भारतीय नाटकों में यह संख्या प्रायः अधिक होती है), कोई बहुत महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं हैं क्योंकि यह संयोगजन्य साम्य भी हो सकता है। संस्कृत-नाटकों का अंक-विभाजन एक्शन के विश्लेषण (Analisation of action) पर आधृत होता है, जो ग्रीस और रोम में कहीं भी अनुलिखित नहीं है। इसी प्रकार दृश्य-सम्बन्धी रूढ़ियों में जो समानता है, जनान्तिक और अपवार्य भाषण की रूढ़ियों में जो एकरूपता है और किसी पात्र के प्रवेश के समय रंगमंच पर उपस्थित किसी अन्य पात्र से उसके सम्बन्ध में परिचयात्मक वाक्य कहलाने की समान प्रथाएँ हैं, वे भी ऐसी हैं जो एक ही परिस्थिति में खेले जाने वाले नाटकों में अवश्य नियोज्य हैं,

इनकी समानता से ग्रीक या रोमन प्रमाण की स्थापना नहीं की जा सकती। आजकल के वैज्ञानिक युग में भी नवागत पात्र के परिचय कराने की आवश्यता अनुभव की ही जाती है।

डॉ० राघवन् ने संस्कृत-नाटकों के वस्तु-विषय को बहुत सुन्दर ढंग से बताया है—संस्कृत में नाटक प्रस्तावना के साथ प्रारम्भ होता है जिसमें सूत्रधार और उसका कोई सहयोगी सम्भाषण करते हैं और कवि (नाटककार) तथा नाटक का परिचय प्रस्तुत करते हैं। कथावस्तु का आयोजन परिच्छेदों में किया जाता है, जिन्हें अंक कहते हैं और जिनकी सीमा चार से लेकर दस तक होती है। अंक में दृश्य-परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उनमें दृश्यों के विभाजन का संकेत नहीं किया जाता। अंकों में एक नैरन्तरिक कार्य-कलाप होता है जो एक दिन की अवधि का नहीं होता। अंकों में उच्चतर अथवा निम्नतर चरित्रों का एक प्रस्तावनात्मक दृश्य हो सकता है। इसका प्रयोजन कथावस्तु में एकसूत्रता अथवा नैरन्तर्य की स्थापना करना, दर्शकों को कथा-वस्तु का बोध कराना और उन घटनाओं के विषय में सूचना देना अथवा वार्तालाप कराना होता है जो रंगमंच पर प्रमुख अंकों में प्रदर्शित न किये जा सकते हों। पूर्व-निर्देश के अभाव में कोई पात्र मंच पर अवतरित नहीं हो सकता। नाटक की मूल वस्तु में गद्य तथा पद्य-शैलियों का मिश्रण होता है। पद्य का प्रयोग उस स्थान पर होता है जब किसी आवश्र्यजनक अभिव्यक्ति अथवा उच्च प्रभाव की सृष्टि की आवश्यकता होती है। गद्य और पद्य के मिश्रण की भाँति ही साहित्यिक तथा लौकिक भाषाओं का भी मिश्रण होता है। उच्चवंशीय तथा शिक्षित पुरुष-पात्र संस्कृत बोलते हैं और निम्नतर श्रेणी के पात्र, स्त्री-पात्र तथा साधारण सभासद् प्राकृत बोलते हैं, जो निम्न श्रेणी के पात्रों की संख्या तथा प्रवृत्ति के अनुसार कभी-कभी विभिन्न प्रकार की होती है। कार्य संक्षिप्त अवधि का भी हो सकता है अथवा वर्षों तक फैला हुआ भी हो सकता है और इसी प्रकार एक विशिष्ट स्थान पर भी घटित हो सकता है अथवा विभिन्न स्थानों तक भी उसका विस्तार हो सकता है। कथावस्तु प्रसिद्ध महाकाव्यों से ली जा सकती है अथवा कल्पित या भिन्न भी हो सकती है। कथावस्तु के प्रख्यात होने पर भी नाटककार उसे अपने नाटक के भाव तथा प्रयोजन के उपयुक्त नया रूप दे सकता है, क्योंकि संस्कृत-नाटककार उसे अपने नाटक में उदात्त चरित्रों तथा दर्शकों के अन्तस्तल पर उदात्त भावों का प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया करता है। नाटक का अन्त सुखमय होना चाहिए। (संस्कृत-लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार नाटक एक विशेष जाति का अभिनेय रूपक है। परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है।)

इन दृष्टियों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी मूल वस्तु के अवयवों, कथावस्तु, चरित्र और रस की योजना करता था। वस्तुतः रस ही संस्कृत के सभी काव्य-नाटकों का लक्ष्य है। रस तक ले जाने के कारण ही नायक (ले जाने वाला), नायिका (ले जाने वाली), अभिनय (ले जाने का पूर्ण साधन) आदि शब्दों की रचना हुई है। वह कथा की उन घटनाओं को, जो उसके कथानक के लिए आवश्यक होती थीं अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थीं, परित्यक्त अथवा पुनर्निर्मित करता था। यही वह अपने पात्रों के चारित्रिक गुणों के विषय में करता था। परम्परा-प्राप्त व्यक्तित्व में से वह अपने स्वयं के चरित्रों की सृष्टि कर लेता था। कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण, जो

पश्चिमी नाटकों के सर्वस्व होते हैं, भारतीय नाट्य-कला में रस के साधक होते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक एवं चरित्र-चित्रण उपेक्षित थे। भरत का कथानक-निर्माण की प्रविधि का नियमपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार की आलोचना का निराकरण करेगा।

'यवनिका' शब्द ने भी अनेक प्रकार की ऊहापोहों को उत्तेजना दी है, परन्तु विंडिश और लेवी ने इस शब्द से उत्पन्न भ्रान्त धारणाओं का निरसन कर दिया है। वस्तुतः यवनिका या 'जवनिका' संस्कृत के 'यमनिका' शब्द के प्राकृत रूप हैं जिसका अर्थ होता है, संयमन की जाने वाली परी (तु० अपटीक्षेप प्रवेश) या पर्दा। यदि यह शब्द किसी प्रकार 'यवन' शब्द से सम्बद्ध मान भी लिया जाय तो भी इसका अर्थ केवल विदेश से आई हुई वस्तु ही होगा। भारतीयों का प्रथम परिचय आयोनियन (Ionion) लोगों से हुआ था, उसीसे संस्कृत का 'यवन' और पालि का 'योन' शब्द बना है। बाद में इस शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और हेलेनिक परसियन साम्राज्य के सभी देशों के निवासियों के लिए इसका प्रयोग हुआ है, मिस्र (Egypt), ईरान (Persia), सीरिया, वाह्लीक (Wahlic) आदि सभी देशों के निवासी यवन कहे जाते थे और उनकी वस्तुएँ भी इसी विशेषण से स्मरण की जाती थीं। लेवी ने ईरान के बने परदों को यवनिका कहा है। वस्तुतः जैसा कीथ ने कहा है, ग्रीक-नाटकों में परदे होते ही नहीं थे। स्वयं विंडिश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। फिर भी वे कहना चाहते हैं कि ग्रीक-रंगमंच के पीछे जो चित्रित दृश्यावली होती थी उसे ही भारतीय रंगमंच में परदे से सूचित किया जाता होगा, इसलिए उसको 'यवनिका' नाम दे दिया गया। यह विचित्र तर्क है। अनेक यूरोपियन पण्डितों ने इस तर्क की निस्सारता सिद्ध की है फिर भी 'यवनिका' शब्द इतना स्पष्ट व्यञ्जनाकारी है कि इससे उत्पन्न भ्रान्त धारणा इस देश में बनी हुई है और आये दिन अच्छे-अच्छे भारतीय मनीषी इस भ्रान्त सिद्धान्त को अम्लान भाव से कह दिया करते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० राघवन् ने ग्रीक और संस्कृत-रंगमंचों की तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि "भारतीय रंगमंच पर नाट्य-रूपों की विविधता पहले से ही थी, जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'त्रासदी' यूनानी नाटकों का सर्वोत्कृष्ट रूप था और संस्कृत रंगमंच पर यूनानी त्रासदी-जैसी किसी वस्तु का विकास कभी नहीं हुआ। वस्तुतः इसके सिद्धान्त रंगमंच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। संस्कृत-रंगमंच में यूनानी रंगमंच के समान कोई गायक वृन्द नहीं होता था और यूनानी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य संकलन-त्रय के सिद्धान्त से देश-काल के संकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निश्चिन्त होकर छोड़ दिये गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विशाल भी था। यूनानी रंगमंच का भारतीय रंगमंच के विविध रूपों से—जिनका भरत ने कुछ विशदता से वर्णन किया है—कोई साम्य नहीं है। भरत के—जिनका ग्रन्थ अरस्तू के पोयटिक्स तथा 'रिटारिक्स' के सम्मिलित रूप से भी अधिक पूर्ण है—पूर्ण रस-सिद्धान्त के समक्ष, त्रास, करुणा तथा विरेचन के यूनानी सिद्धान्त हेय-से है। परदे के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द, रंगमंच पर आने वाले राजकीय अनुचरों में यवन स्त्रियों की उपस्थिति आदि तथ्यों में भी यवन-सम्पर्क के कुछ प्रमाण खोजे गये हैं। (इनमें से) अन्तिम तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास परदे के लिए 'पटी' 'तिर-

स्करणी', 'प्रतिशिरा' तथा यहाँ तक कि 'यमनिका' आदि शब्द देशीय तथा युक्तियुक्त न होते तो प्रथम युक्ति में कुछ शक्ति हो सकती थी। इन रूपों की अपेक्षा भारतीय नाटक के अधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट अंग वे हैं जिनका यूनानी नाटकों में अभाव है—संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का बहुभाषीय माध्यम। सिलवेन लेवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत में शकों के प्रभाव में विकसित हुए हैं। उनके आधार-भूत प्रमाण नितान्त सारशून्य हैं। कीथ के अनुसार संस्कृत-नाटकों का उद्भव तथा विकास स्वदेशीय ही है। निस्सन्देह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न है।

'यवनिका' की ही भाँति संस्कृत-नाटकों में राजा की अंगरक्षिका के रूप में यावनी बालाओं की उपस्थिति को भी ग्रीक-रंगमंच के प्रभाव का निदर्शक बताया जाता है, पर जैसा कि श्री कीथ ने कहा है कि ग्रीक नाटकों में अंगरक्षिकाओं का कोई अस्तित्व नहीं है, यह अधिक-से-अधिक ग्रीक रमणियों के प्रति भारतीय राजाओं का झुकाव ही सिद्ध करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] तथा मैगस्थनीज आदि के लेखों से इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

विंडिश ने नाटिकाओं के साथ कई कामदियों का आश्चर्यजनक साम्य दिखाया है और इनमें तथा अन्य संस्कृत-नाटकों में जो अभिज्ञान यासहिदानी का अभिप्राय आया है उसे ग्रीक-प्रभाव बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि कीथ ने कहा है अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य में इतना पुराना है कि यह कल्पना करना कि भारतीयों को अभिज्ञान या सहिदानी के अभिप्राय को उधार लेने के लिए ग्रीस जाना पड़ा, कुछ तुक की बात नहीं है। यह और बात है कि जिन कथाओं और काव्यों में इस प्रकार के अभिप्रायों का प्रयोग है, उनकी तिथि सर्वत्र सन्देहास्पद बताई जाती है। फील्ड आदि विद्वानों ने भारतीय कथानक-रूढ़ियों का बहुत विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके प्रयत्नों से इस रूढ़ि की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित की गई है। 'मृच्छकटिक' नाटक की कथावस्तु, नाम आदि को लेकर विंडिश ने अपने सिद्धान्त स्थिर किये थे, पर भास के 'चारुदत्त' नामक नाटक के मिलने से, जो 'मृच्छकटिक' का मूल रूप है, अन्य उसका भी वजन कम हो गया है। 'मृच्छकटिक' में कुछ नयापन है अवश्य, और यदि वह विदेशी प्रेरणा से आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। राजनीतिक उलटफेरों से गणिका वसन्तसेना का रानी की मर्यादा पा लाना नई-सी बात है, पर उसका पहली रानी के साथ-साथ विवाहित पत्नी के रूप में रहना भारतीय प्रथा है।

इसी प्रकार और भी जो बातें कही गई हैं वे निराधार और कष्टकल्पित हैं। यह तो नहीं माना जा सकता कि ग्रीकों-जैसी शक्तिशाली जाति के सम्पर्क में आने के बाद भारतीयों-जैसी अद्भुत कल्पनाशील जाति के विचारों और कल्पना-शक्ति में कोई परिवर्तन हुआ ही न होगा, पर जहाँ तक नाटकीय सिद्धान्तों का प्रश्न है, उसकी बहुत ही समृद्ध और पुरानी परम्परा इस देश में वर्तमान थी। यह भी नहीं समझना चाहिए कि यावनी साहित्य और विचार-धारा भारतीय सम्पर्क में आकर कुछ लेने में हिचकी होगी। अधिक-से-अधिक यही कहा

१. अध्याय १, पृ० २१।

जा सकता है कि दोनों जातियों में कुछ ऐसा आदान-प्रदान हुआ अवश्य होगा, पर उसे नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को ग्रीक साहित्य की देन कहना कल्पना-विलास-मात्र है।

कई यूरोपियन पण्डितों ने केवल बाहरी प्रमाणों पर निर्भर न रहकर विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक-रोमन-नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों में जो 'टाइप' की प्रधानता है वह सिद्ध करती है कि आरम्भ में अनुकरणमूलक के रूप में और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों के प्रभाव से नया रूप ग्रहण किया। पुराने टाइपों का रह जाना उनके मत से रोमन कामदियों से उनका प्रभावित होने का ही लक्षण है, क्योंकि यह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया, पर पुराना गया नहीं। यह बात कितनी निराधार है यह श्री कीथ के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है :

"The similarity of types is not at all convincing; the borrowing of the idea of using different dialects from the mime is really absurd and the large number of actors is equally natural in either case."

अर्थात् टाइपों की समानता बिलकुल मानने योग्य बात नहीं है और विभिन्न बोलियों के प्रयोग-सम्बन्ध में माइम से उधार लेने वाला विचार बेहूदा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक संख्या का होना दोनों देशों के नाटकों में समान रूप से सम्भव है। श्री कीथ ने जोर देकर कहा है कि ग्रीक रोमन कामदियों में टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में परिचित पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण कथावस्तु में जो विकास हो जाता है, वह उसमें एकदम नहीं मिलता।

ऊपर संक्षेप में आधुनिक विद्वानों की कुछ ऊहापोहों की चर्चा की गई है। इस चर्चा का उद्देश्य केवल पाठकों को नये विचारों से परिचित करा देना था। इस संक्षिप्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय पाठकों के विकास में बाहरी प्रभाव की बातें विशुद्ध अटकल पर आधारित हैं और नाट्य-शास्त्र के विकास में तो किसी विदेशी परम्परा का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता। नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी—हज़रत ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है। ऊपर की विवेचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि भरत के नाट्य-शास्त्र का वर्तमान रूप अनेक परम्परा-प्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है और कुछ परवर्ती भी है। इसका अन्तिम सम्पादन कब हुआ था यह कहना कठिन ही है, परन्तु सन् ईस्वी की तीसरी शताब्दी तक उसने यह रूप अवश्य ही ले लिया होगा, क्योंकि कालिदास-जैसे नाटककार को इस शास्त्र का जो रूप प्राप्त था वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। इस बात के लिए विद्वानों ने प्रमाण दिए हैं।

वर्तमान नाट्य-शास्त्र मूलतः तीन प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। प्रथम (१) और मुख्य लक्ष्य तो अभिनेताओं को शिक्षा देने का है। इन लोगों को नाट्य-शास्त्र भरत-पुत्र कहता है। नाट्य-शास्त्र का यह भी प्रयत्न है कि अभिनेताओं को सामाजिक दृष्टि से ऊँची मान्यता प्राप्त हो। दूसरे (२) लक्ष्यीभूत श्रोता, प्रेक्षक सामाजिक हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्र प्रेक्षकों में अनेक ग्रन्थों की आशा रखता है। संस्कृत-नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए, इस विषय में नाट्य-शास्त्र ने स्पष्ट रूप में कहा है (२७-५१ और आगे) कि उसकी सभी इन्द्रिय दुरुस्त होनी चाहिएँ; ऊहापोह में उसे

पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल आडिएंस कहते हैं, ऐसा होना चाहिए), दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके अर्थात् जो संवेदनशील न हो उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक या दर्शक का पद नहीं देना चाहता।[1] इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाट्य-शास्त्र अनेक प्रकार की नाट्य-रूढ़ियों का विवेचन करता है और ऐसे इंगित बताता है जिससे दर्शक रंगमंच पर अभिनय करने वाले व्यक्तियों के आकार, इंगित, चेष्टा और भाषा द्वारा बहुत-कुछ अनायास ही समझ ले। नाट्य-शास्त्र में ऐसी नाट्य-रूढ़ियों का विस्तार-पूर्वक संग्रह किया गया है जो दर्शक को रसानुभूति में सहायता पहुँचा सकती हैं। तीसरा (३) लक्ष्यीभूत श्रोता कवि या नाटककार है। शास्त्रकार नाटकों के निबन्धन की विधियाँ बताता है और कथा के विभिन्न अवयवों और अभिनय की विभिन्न चेष्टाओं के संयोग से चरित्र और घटना-प्रवाह के परस्पर आघात-प्रत्याघात द्वारा विकसित होने वाले नाटकीय रसानुभूति के सूक्ष्म कौशलों का परिचय कराता है। वह आशा करता है कि कवि या नाटककार इन सूक्ष्म कौशलों का अच्छा जानकार होगा और कथा का ऐसा निबन्धन करेगा कि कुशल अभिनेता और सहृदय पाठक-प्रेक्षक दोनों को रस ग्रहण करने में आसानी होगी। परवर्ती-काल में नाट्य-शास्त्र के बताये हुए विस्तृत नियमों का संक्षेपीकरण हुआ और अभिनेता तथा पाठक की अपेक्षा कवि या नाटककार को ही ध्यान में रखकर छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की गई है। 'दश-रूपक' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य-निबन्धन की विधि बताना है। अभिनेता उसकी दृष्टि में बहुत कम हैं और सहृदय प्रेक्षक बहुत गौण रूप से हैं। आगे इसी संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति पर विचार किया जायगा। (क्रमशः)

१. पृ० २७-५२।

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

राष्ट्र-निर्माण में लेखक का सहयोग

वास्तव में प्रस्तुत विषय, सवालों का सवाल है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले राष्ट्र की गुलामी ही हमारी प्रमुख समस्या थी। स्वतन्त्र भारत की प्रमुख समस्या—राष्ट्र-निर्माण की समस्या है। इस विषय के मूल में बहुत सारी समस्याओं की गुत्थी उलझी हुई है। और, मुझे लगता है कि यही एक प्रश्न है जिसको हल करने के लिए हमें बार-बार एकत्र होने की आवश्यकता पड़ रही है। इसलिए आरम्भ में ही निवेदन कर दूँ—ऐसे कठिन और महत्त्व-पूर्ण विषय पर मुझ-जैसे नये चिन्तक के विचार सहचिंतन को उलझायँगे ही। आदर्श राष्ट्र के बारे में, जन-मन-गन-अधिनायक के गायक ने कहा था—आधुनिक युग में हम उसी राष्ट्र-नीति को श्रेष्ठ कहेंगे जो सर्वजन की स्वाधीन बुद्धि और स्वाधीन शक्ति को प्रकाशित करने का समुचित अवसर दे।

देश को स्वाधीन हुए एक दशक हो रहा है, किन्तु प्रवीण चिन्तन की परम्परा हमारे देश में अभी अंकुरित ही नहीं हुई है। अन्य क्षेत्रों में जो-कुछ भी हुआ है—चिन्तन के क्षेत्र में कोई अग्रगति नहीं हुई है। प्रवीण-चिन्तन—जिसको कवि-गुरु ने चित्र का स्वराज्य एवं मोह-युक्त बुद्धि का उदार अनुशीलन कहा है। अत्यानुसन्धान, तीव्र विचार विरोध-गणतन्त्र की सफलता और अग्रगति के न्यूनतम उपकरण हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि जीवन को उपवासी और जीर्ण रखकर मनन और चिन्तन का उन्नयन किया जाय। सभ्यता के सभी उपकरण प्रस्तुत कर देने से ही अन्तर की स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो जाती। इसलिए कुछ दिन तक अविरत आत्मानुसंधान करने की आवश्यकता है। वर्ना, हमारे सामने जो रूमानी आवरण है, वह दूर नहीं होगा। और, उस आलोक के बिना अन्धकार में अग्रसर होने का अर्थ—पतन की ओर बढ़ना है।

हमारे देश में चित्त का स्वराज्य नहीं हुआ है। हमारी बुद्धि मोह-मुक्त नहीं हो सकी है। राष्ट्र-निर्माण की जिन परिकल्पनाओं के कार्य प्राम्भ हुए हैं, क्या उनसे हमारे दुःख और दारिद्रय का सचमुच ही अवसान होगा? हमने इस पर भी कभी विचार किया है। अपने इस दैन्य का अभिशाप हम भोग रहे हैं।

राष्ट्र-व्यवस्था-गठन करके, जन-कल्याण के पथ पर हमारा देश अग्रसर हुआ है। कल्याण-साधन के कार्य भी आरम्भ हुए हैं। किन्तु, हमारे राष्ट्र-नायकों के जन-कल्याण की प्रचेष्टा में, बुद्धि को जाग्रत करने का अभिप्राय कहाँ नहीं मिलता। तरह-तरह के वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों के द्वारा, सर्व-साधारण के बीच विज्ञान का प्रसाद वितरण कर देने से कुछ नहीं होगा। जन-साधारण की वैज्ञानिक दृष्टि को खोलने की भी आवश्यकता है। वैज्ञानिक सम्पद्

लाभ करने के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि-लाभ श्रेयस्कर है। देश की खरस्रोता नदियों के जल-स्त्रोत को विज्ञान की शृंखला में बाँधकर, देश की बञ्जर और गैर-आबाद जमीन को शस्य-श्यामल बनाने के साथ-साथ मानसिक दुर्भिक्ष-ग्रस्त राष्ट्र की चित्र-भूमि को उर्वर बनाने की आवश्यकता थी। जन-साधारण के सूखते हुए मनन-स्रोत की ओर हमारे राष्ट्रनायकों का ध्यान कभी नहीं गया। यही कारण है कि कोई भी परिकल्पना जन-साधारण के हृदय में प्रविष्ट होकर प्रतिष्ठित नहीं हो पा रही है। इसे राष्ट्र-जीवन का दुरुपयोग ही समझना चाहिए।

विद्युत्-आलोक से गाँव-गाँव की अली-गली को आलोकित करने का क्या अर्थ, जब कि सर्वजन के मन के कोटर में चिर-अन्धकार बद्धमूल हो रहा है? शिक्षा की अपूर्णता हमारे साहित्य के मुक्ति-विधान में बाधक हो रही है— इसे हम देखकर भी नज़रअन्दाज कर रहे हैं। शिक्षा और साहित्य का सम्बन्ध अभिन्न है। किन्तु हमारा दुर्भाग्य, हमारे देश में शिक्षा और साहित्य का प्रत्यक्ष संयोग अभी तक नहीं हुआ। निश्चय ही यह स्थिति किसी राष्ट्र के लिए संकटपूर्ण प्रमाणित हो सकती है।

पंचवार्षिक परिकल्पनाओं का शुभ सन्देश लेकर जब हमारे राष्ट्रनायक जनता के बीच आते हैं तो जन-गन के खाली दिल-दिमाग को देखकर वे परेशान होते हैं। झुँझलाते हैं। अपने अजीबो-गरीब मुल्क पर तरस खाते हैं। और कभी-कभी ललाट पर बल डाल-कर अपने राष्ट्र के लेखकों को खोजते हैं—कहाँ हैं वे—सपनों के संसार वाले? हम यहाँ कितने सपनों को साकार करने जा रहे हैं। हमारे राष्ट्र के लेखक और कलाकार निर्विकार हैं।

लेखक और कलाकार निर्विकार नहीं हैं। हाँ, वे असमञ्जस में अवश्य पड़े हुए हैं। असमञ्जस का कारण है। स्वाधीनता-संग्राम के मूल में जो त्याग और सेवा का आदर्श जीवन्त था—वह धीरे-धीरे विलुप्त हो चुका है, हमारे राष्ट्र के आचरण से। महात्मा गांधी ने अपनी जीवन-साधना से इस राष्ट्र के जन-मानस में जिस प्रचण्ड शक्ति को उद्दीप्त किया था, वह भी लुप्तप्राय है। विदेशी नौकरशाही प्रतिवेश से चिपके रहने के कारण हमारे राष्ट्रनायक इस हकीकत को नहीं समझ सकते हैं। राष्ट्र को संगठन-मूलक प्रचेष्टा में प्रवृत्त कराने के लिए जिस आदर्श की आवश्यकता है, उसे हमारे राष्ट्रनायक खो चुके हैं। जब कि स्वाधीनता-संग्राम में उसकी जितनी आवश्यकता थी, उससे भी अधिक आवश्यकता आज है। राष्ट्र-निर्माण की परिकल्पनाओं को सफल करने के लिए देश की जनता को त्याग स्वीकार करना होगा। भविष्य की ओर देखकर वर्तमान का दुःख-कष्ट सहन करना होगा। किन्तु, उपर्युक्त आदर्श की अनुपस्थिति में देश की जनता को बृहत्तर स्वार्थ के लिए अनुप्राणित करना बहुत कठिन व्यापार है।

इस अंधकारपूर्ण परिपार्श्व में, लोक-तन्त्र की प्रतिश्रुति की आशा का एक-मात्र प्रकाश है। इसीके भरोसे हमें सब-कुछ करना है। प्लेटो ने लेखक और कलाकार को अपांक्तेय और अछूत करार देकर, राज-काज के मामले से इन्हें बहिष्कृत करने की सलाह दी थी। उसने लेखक और कलाकार को गैर-जिम्मेवार, पागल और नमकहराम समझा था। किन्तु, लोक-तन्त्र के नेताओं ने अनुभव से यह जान लिया है कि किसी भी राष्ट्र के निर्माण में लेखक और कलाकार की सहयोगिता अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

यह सही है कि लेखक-वर्ग विभिन्न राजनीतिक मतवादों से प्रभावित है। जिन पर

किसी राजनीति का प्रभाव नहीं, उनकी अपनी राजनीति है, उनका अपना दर्शन है। हममें से अनेक ऐसे हैं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि प्राप्त कर ली है। इसलिए राष्ट्र-निर्माण को हम विभिन्न दृष्टि से देखते हैं। इसके बावजूद, भारतीय लेखक वर्ग राष्ट्र-निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकता है। यह हमारा विश्वास है। क्योंकि, भारतीय-जन ने राष्ट्रीयता का पाठ अच्छी तरह पढ़ा है। फिर लेखक या कलाकार जिसका धरती से इतना लगाव हो, वह राष्ट्र-निर्माण के कामों को देख-सुनकर अनुप्राणित हुए बिना कैसे रह सकता है? बहुजन हिताय परिकल्पनाओं को शंका की दृष्टि से देखने वाले आलोचकों को भी सम्भवतः कोई वाजिब दलील नहीं मिलेगी। यहाँ मुझे एक ऐसी ही दलील की याद आ रही है। हमारे एक प्रतिष्ठित लेखक-बन्धु कोई 'डैम' देखने गए थे। नव-निर्माण को देखकर रचनाकार प्रभावित अवश्य हुआ। किन्तु, 'डैम' के पास ही एक किसान से उसकी भेंट हो गई। किसान ने कहा—'क्या देख रहे हैं बाबू साहब? यह नदी तो विधवा हो गई।' और, हमारे प्रिय कलाकार के मन में यह बात बैठ गई। उसका सारा उत्साह शेष हो गया। उसने देखा—वास्तव में नव-निर्माण-कार्ताओं ने नदी का सुहाग लूट लिया है। नदी विधवा हो गई है। कवि का हृदय कातर हो गया और सम्भवतः नव-निर्माण-विमुख भी।

आरम्भ में ही मैंने प्रवीण चिन्तन की चर्चा की है। उपर्युक्त कातरता यदि राजनीतिक पूर्वग्रह की उपज नहीं तो नाबालिग चिन्तन का अकाल परिपक्व फल अवश्य है। राष्ट्र-निर्माण के कार्यों को देखने के पहले उसकी निगाह या तो शासक-पार्टी के झण्डे पर थी अथवा जन-जीवन से परे पले हुए व्यक्तित्व पर—जो ऐसे क्षणों में अपनी लघुता में काँप-काँप जाता है। नहीं तो उस अचैतन्य किसान के सामने वह उस नदी की सही तस्वीर उपस्थित करता—आँचल में सुख-समृद्धि लिये खड़ी सुहागिन पुण्य सलिला! जो कुछ दिन पूर्व तक डायन थी, अपने बच्चों को खाती थी; वह जन-जन में नवजीवन बाँटने के लिए आई है। यदि किसी एक व्यक्ति के सरोवर को परिपूर्ण करने के लिए उस नदी को श्रीहीन किया गया तो हमारे बन्धु का ही कर्तव्य था—जन-साधारण को इस बर्बरता की सूचना को देकर, इसके विरुद्ध जनमत तैयार करना। किन्तु, उसका तटस्थ रहना तो किसी भी अवस्था में क्षम्य नहीं। विज्ञान-भवन की भव्य अट्टालिका में—सर्वाधुनिक प्रसाधनों से परिपूर्ण तथा आरामदेह आसनी पर बैठते समय निश्चय ही अनेक लेखकों को अपने जन-साधारण की याद आई होगी। किन्तु किसी कवि का हृदय कातर नहीं हुआ, अन्दाज की बात है।

प्रश्न उठता है, लेखक या कलाकार राष्ट्र-निर्माण में किस तरह सहयोग दे? क्या वह 'अप्सरा' पर महाकाव्य लिखे? चिरन्तन पर नाटक की रचना करे? मेरे विचार से, यही वह भ्रमपूर्ण स्थल है, जहाँ हम भटक जाते हैं। अपने देश की नौकरशाही ने इस भ्रम को और भी गाढ़ा कर दिया है।.......राज्य को लेखकों और कलाकारों की जरूरत है। उनके सहयोग की आवश्यकता है। भ्रष्ट नौकरशाही आगे बढ़कर लेखकों को बटोरने का काम शुरू कर देती है। तरह-तरह के साज-सरंजाम के साथ लेखक बटोरने का राष्ट्रव्यापी आयोजन प्रारम्भ होता है। वे जानते हैं कि लेखक गरीबी और अवहेलना का मारा हुआ है। इसलिए वह पुकार-पुकारकर कहता है लेखको! महाप्राप्ति योग उपस्थित है तुम्हारे द्वार पर। इस लुभावनी पुकार से लेखकों में चांचल्य की सृष्टि अवश्य होती है। सहयोगिता

के नाम पर बटोरे हुए लेखकों को राष्ट्र-नायक गुण-कीर्तन रचने से लेकर नदी-घाटी योजना के भ्रष्ट पदाधिकारियों का यशोगान करने के लिए तक सलाह दी जाती है। बीच-बीच में तफरीह के लिए देश के विभिन्न निर्माण-क्षेत्रों में भेजकर नौकरशाही अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाती है। किन्तु लेखक का सन्देहशील मन क्रमशः कोटरगत हो जाता है। नौकरशाही मशीन का नट-वाल्ट बनकर वह रह जाता है। उधर, राजनेता जब लेखा-जोखा करने बैठता है तो उसकी झुँझलाहट फिर बढ़ जाती है। क्या बात है ? हमने लेखक माँगे थे—ये तो मुहर्रिर हैं। लेखक का क्या कुसूर ? उसे मुहर्रिर होने का कम दुःख नहीं। किन्तु व्रत छोड़कर वृत्ति स्वीकार करने के बाद कलम, नश्लन-बाद-नश्लन पुष्ट होते हुए फाइलों के दस्तावेजों की नकल करने में ही घिसती है। हमारा प्रचार-साहित्य इसका प्रमाण है।

असल में लेखक से सहयोगिता स्थापित करने के ये सारे नौकरशाही तरीके गलत ही नहीं, अहितकर भी हैं। इससे राष्ट्र-निर्माण में न तो कोई सहायता मिल सकती है और न साहित्य का कोई मंगल होता है। इसके विपरीत साहित्य का निर्मल जल अकारण ही गँदला होता है और लेखकीय मंच पर शोर-गुल, छीना-झपटी तथा ईर्ष्या-कातरता को पनपने का मौका मिलता है। इस तरीके को किसी भी आत्म-सम्मानशील लेखक की स्वीकृति नहीं मिल सकती।

यदि हमारे राष्ट्र के लेखक को महान् निर्माण-कार्यों से प्रेरणा नहीं मिलती, तो उसे राजकीय पैमाने पर प्रेरित न किया जाय। रचने दीजिये उन्हें देहवादी रचनाएँ। नव-निर्माण की पहली शर्त है—राष्ट्र को नई प्रेरणा प्रदान करना। और, बावजूद सारी खामियों के इसने हमारी देश की जनता को प्रेरित करना शुरू किया है। आन्तरिकता-शून्य उपदेशों का असर उलटा होता है। जन-जीवन के सुख-दुःख से परे रहने वाले साहित्यकार की कटाई हुई रचनाओं का प्रभाव जन-जीवन पर नहीं पड़ सकता। जीवन के क्षेत्र में कुण्ठा, अव्यवस्था और घुटन महसूस करने वाले लेखकों से, नव-निर्माण से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की आशा करना, हिमाकत के सिवा और कुछ नहीं।

क्या पता कि नव-निर्माण की तीव्र प्रेरणा कहीं किसान के बेटे को स्पन्दित कर रही हो। और वह अपनी अटपटी भाषा में मन के उल्लास को जोड़ने की चेष्टा कर रहा हो। दूर किसी उदास गाँव में बैठा कोई बूढ़ा लुहार ट्रैक्टरों, बुलडाजरों की गड़गड़ाहट को सुनकर फिर से जवान हो रहा हो। उसकी बाँहों में फिर से फौलादी ताकत आ रही हो। सेनेटोरियम की खिड़की से, पचास कोस दूर थरमल-पावर प्लाट की चिमनियों को देखकर किसी क्षयग्रस्त युवक के फेफड़े के घाव भर रहे हों। विपुल प्राण-धर्म से ओत-प्रोत जीवन-छन्द रचने को वह बेदार हो रहा है।

सम्भव है, साहित्य के इतिहास में उनका नाम कभी न लिया जाय। साहित्यकारों की पंक्ति में उन्हें स्थान न मिले। किन्तु, जन-जीवन में नवीन प्रेरणा और आदर्श स्थापित करने का सारा श्रेय उन्हीं कलाकारों का होगा। एक फ्रेंच राष्ट्र-नायक ने कहा था—"वार इज़ टू सीरियस ए थिंग टू बि लेफ्ट ओनली टु दि जनरल्स।" इस विख्यात उक्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि रचना का गुरुत्व इतना अधिक है कि इसे सिर्फ साहित्यकारों के हाथ में छोड़ देने से अनिष्ट अवश्यम्भावी है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

प्रगति और परम्परा

परम्परा और प्रगति जीवन के दो अभिन्न पक्ष हैं, एक ही सत्य के वे दो रूप हैं। मनुष्य अपनी परम्परा के आधार पर प्रगति करता है। बिना मनुष्य के इतिहास की दीर्घ और अखण्ड परम्परा के ज्ञान को हम नई मञ्जिलों तक नहीं पहुँचा सकते : और न वह परम्परा ही सार्थक है, जिसका विकास और प्रस्फुटन रुक गया हो। विकासमान परम्परा बढ़ती हुई नदी के समान है, जिसका जीवन प्रति क्षण नये प्राण और नई शक्ति से स्पन्दित होता रहता है, जो अविराम आगे बढ़ती है।

मनुष्य अपने पूर्व-अर्जित ज्ञान के आधार पर प्रगति करता है। जो कुछ उसने अपने पूर्व-पुरुषों से उत्तराधिकार के रूप में पाया है, उसमें वह विकास की नई कड़ियाँ जोड़ता है। ज्ञान की तुलना दीप से की गई है, जिसे एक पीढ़ी अपनी अगली पीढ़ी को समर्पित करके अदृश्य में विलीन होती है।

आदिम काल में मनुष्य ने बोलना सीखा, भाषा सीखी, लिखना सीखा। इस आधार पर अगली पीढ़ियों ने साहित्य रचा, कला की सृष्टि की, दर्शन और विज्ञान की अपूर्व उड़ानें लीं। उसने घर बनाए, अग्नि जलाना सीखा, गेहूँ और कपास उगाई। उसी आधार पर आगे चलकर उसने पिरामिड पार्थनन और अजन्ता का निर्माण किया। ताजमहल के समान भव्य इमारत खड़ी की। उसने भाप, बिजली और अणु की शक्ति पर प्रभुत्व प्राप्त किया और अब इन अपूर्व स्वप्नों को सत्य में परिणत करने की कामना करता है। उसने गीता और उपनिषदों की रचना की, शेक्सपियर और मिल्टन, वेदव्यास और वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी, टालस्टॉय और प्रेमचन्द्र, टैगोर और रोम्यारोलाँ के समान महान् स्वप्न-द्रष्टा उत्पन्न किये। उसकी साधना, उसके महाभियान और जय-यात्रा का कोई ओर-छोर पाना असम्भव लगता है।

मनुष्य की इसी सदियों और युगों-पर्यन्त विकासशील परम्परा के हम अधिकारी हैं। इस परम्परा की प्रगति अनन्त काल तक चलती रहेगी। अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित ज्ञान के आधार पर आज मनुष्य प्रकृति पर और भी अप्रत्याशित विजय पाने की आशा रखता है। आज उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं लगता। वह ग्रह-उपग्रहों की यात्रा के स्वप्न देख रहा है, उसने काल और दूरी पर विजय पा ली है, रोग और मृत्यु पर वह विजय प्राप्त करने को आतुर है।

मनुष्य की इसी अखण्ड विजय-यात्रा का वृत्तान्त हम संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्रों में भी पाते हैं। हमारे देश की सांस्कृतिक परम्परा का स्रोत सहस्रों वर्ष पुराना है।

परम्परा और प्रगति का ऐसा अटूट मेल हम चीन और भारत के समान देशों में ही पायँगे। हमारी संस्कृति की जड़ें पृथ्वी का हृदय फोड़कर अदृश्य के गर्भ में चली गई हैं। भारत ने अपने लम्बे इतिहास में कभी किसी अन्य देश पर आक्रमण नहीं किया। हमने सदियों-पर्यन्त केवल प्रेम और शान्ति के सन्देशवाहक दूरस्थ देशों को भेजे थे। हमारे पूर्वजों ने ज्ञान के क्षेत्र में ऊँची उड़ानें ली थीं। उन्होंने 'वेद' और 'ब्राह्मण', 'उपनिषद्' और 'गीता', 'रामायण' और 'महाभारत', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'मेघदूत' के समान उच्चतम कृतियों की रचना की। उन्होंने अपने सिद्धान्त और आदर्श सदैव ऊँचे रखे, उन्होंने अनेक अद्भुत स्वप्न देखे और उन्हें यथार्थ बनाया। अजन्ता और ऐलौरा के गुहा-मन्दिर चिरकाल तक उनकी दिव्य-शक्ति और अनुपम सृजन-प्रेरणा के साक्षी रहेंगे। उन्होंने करुणा, प्रेम, शान्ति और सत्य का सदा पक्ष लिया और यही आदर्श आधुनिक भारत के प्राणों को भी स्पन्दित करते हैं। हम अपने चतुर्दिक् बड़े अभाव, बड़ी पीड़ा, दुर्दमनीय दैन्य, बड़ी व्यथा का साम्राज्य देखते हैं। मनुष्य अपने अक्षय ज्ञान की शक्ति से इस अभाव और पीड़ा को सहज ही दूर कर सकता है। इसे दूर करना ही होगा—यही हमारी अतुलनीय सांस्कृतिक परम्परा हमें सिखाती है। जहाँ हम हैं, वहाँ—कदापि हम रुक नहीं सकते। हमें पृथ्वी पर स्वर्ग उतारकर लाना है। अन्धकार को दूर करके हमें असंख्य घरों में ज्योति लानी है।

हमारी सांस्कृतिक परम्परा में अनेक ऐसे तत्त्व भी लिपटे हुए हैं, जिन्हें अलग करके ही हम प्रगति के पथ पर बढ़ सकते हैं। यह तत्त्व हैं जातिवाद, अस्पृश्यता, अनेक अन्ध-विश्वास, इतिहास की गति में अनेक मृत विश्वास। जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण उदात्त है, किन्तु उसे उत्तरोत्तर अधिक वैज्ञानिक बनाने का कार्य अभी शेष है।

इसी प्रकार विश्व के स्तर पर भी मानव-परम्परा को नई दिशा लेनी है। ज्ञान ने मनुष्य को अनेक सहस्रचक्षु प्रदान किये हैं। इनका प्रयोग वह किस प्रकार करेगा, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठा है। विज्ञान की अजस्र शक्ति, उसकी अक्षय निधि का प्रयोग वह सामाजिक कल्याण के लिए करेगा, अथवा विनाश के लिए ? यह जिज्ञासा आज सभी सचेत व्यक्तियों के मन में नाच उठी है। प्रकृति पर मनुष्य के इस असीम प्रभुत्व के युग में मनुष्य की सदियों-पर्यन्त सञ्चित सम्पदा कुछ ही व्यक्तियों की निजी पूँजी अब नहीं रह सकती। अन्यथा, अनन्त धन-संचय के लोभ से वह मनुष्य की युगों-पर्यन्त पोषित संस्कृति की ही युद्ध के होम में आहुति दे देंगे।

हिन्दी की साहित्यिक परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। यह सन्त कवियों की परम्परा है, जिन्होंने लोक-कल्याण की भावना को अपनी रचनाओं में उन्नत स्वर दिया था। इन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को ठुकराकर जन-हित का अलख अपने साहित्य में जगाया था। इनकी वाणी सम्पूर्ण लोक-मानस में व्याप्त हो गई है और पाठकों की अन्तश्चेतना को प्रभावित करती है। इन्होंने कला के शृंगार को उसका सर्वोपरि ध्येय नहीं माना, इन्होंने कला के प्राण को अपनी उन्नत विचार-धारा से सम्पन्न बनाया।

हिन्दी की समर्थ परम्परा के वाहक हैं 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' के सदृश कृतियों के रचयिता, भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के लेखक; प्रकृति के सौन्दर्य और जीवन की पीड़ा से हिन्दी-पाठक को अवगत कराने वाले छायावादी कवि। इस परम्परा के शक्ति-

सम्पन्न पोषक थे प्रेमचन्द, जिन्होंने भारत के दैन्य-जर्जर किसान को प्रथम बार साहित्य के आसन पर प्रतिष्ठित किया। हिन्दी-साहित्य की इसी सबल और स्वस्थ परम्परा को आज के समाज-चेता लेखक विकास की नवीन मञ्जिलों तक ले जा रहे हैं। इस परम्परा का विकास राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय और नागार्जुन के समान तेजस्वी लेखक नई सामाजिक क्रान्ति की दिशा में कर रहे हैं।

हिन्दी-साहित्य की शिल्पगत परम्परा भी सदियों के हस्तलाघव और अभ्यास से परिमार्जित हुई है। हमारे पूर्वजों ने हिन्दी-भाषा में अनन्य सौष्ठव, लालित्य और माधुरी भरी है। यह परम्परा नित्य-नवीन समृद्धि के पथ पर अग्रसर हो रही है। कला और शिल्प के क्षेत्र में भी भावी पीढ़ियाँ हमारी अभिव्यञ्जना-शक्ति और शैली में नए गुण भरेंगी। किन्तु अपनी सम्पूर्ण कलात्मक परम्परा के वैभव को त्यागकर हम सम्पन्न नहीं बनेंगे। आज के अनेक लेखक हमारी लोक-परम्परा की ध्वनियों को साहित्य में उतार रहे हैं। यह इसी बात का समर्थन है कि समर्थ कलाकार अपनी समृद्ध परम्परा की अवहेलना नहीं करता, वरन् इस वैभव से सम्पन्न होकर वह अपने कृतित्व को अधिक सामर्थ्यवान बनाता है।

जिस प्रकार टी० एस० इलियट की चेतना में शेक्सपियर, स्पेन्सर और मिल्टन की अनुगूँज है, उसी प्रकार हमारे छायावादी कवियों की चेतना में तुलसीदास, सूर, कबीर और मीरा की गूँज विद्यमान है। पूर्व पुरुषों के छन्द, संगीत, चित्र, उपमाएँ अनजाने ही हमारी वाणी में मुखर होते हैं। जिस प्रकार अंग्रेजी लेखकों के स्वर में बाइबिल का स्वर गूँजता है, उसी प्रकार हिन्दी-लेखकों के स्वर में तुलसीदास का। उनके अनेक पद लोक-स्मृति में बस गए हैं और तीव्र अनुभूति के क्षणों में हम उन्हें दोहराते हैं। अपनी काव्य-पुस्तक 'तुलसीदास' में 'निराला' बड़े मार्मिक शब्दों में कवि-गुरु की वन्दना करते हैं :

'देश-काल के शर से बिंधकर
यह जागा कवि अशेष छवि धर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी :
निश्चेतन, निज तन मिला विकल,
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएँगी।'

'सूर' काली रात की उपमा साँपिन से देते हैं। इस कला-शिल्प के वैभव की समता आसानी से नहीं हो सकती। 'सूर' कहते हैं :

'पिया बिनु साँपिन कारी राति।
कबहुँ जामिनि होत जुन्हैया, डसि उल्टी ह्वै जाति।'

इन कवियों की वाणी हमें अपने देश की जनता से प्रेम करना सिखाती है। यह एक महामन्त्र हमें उनसे अतुलनीय भेंट के रूप में मिला है। कबीर कहते हैं :

'पढ़ि-पढ़ि के पत्थर भया
लिखि-लिखि भया जु ईंट।
कहै 'कबीरा' प्रेम की
लगी न एकौ छींट॥'

छायावादी कवियों ने खड़ी बोली को सुकुमार, कोमल और मधुर बनाया। पत्थर को काटकर मानो उन्होंने चिकना और निर्मल बनाया। उनके काव्य में प्रकृति की समस्त श्री अनायास ही फूट पड़ी है। तारों-भरा आकाश, गंगा की धारा-सी दूर तक फैलती ज्योत्स्ना, सागर की लोल लहरें, सभी के प्रति हिन्दी का पाठक सजग हो उठा है। इस सौन्दर्य को उसने नित्य-प्रति देखा था, किन्तु अब पहली बार इससे प्रेम करना उसने सीखा। इस काव्य का संगीत भी आज के पाठक के मन में निरंतर गूँजता रहता है। 'प्रसाद' की सार्वभौमिकता, पन्त की कोमलता, निराला के पौरुष और महादेवी वर्मा की करुणा ने हिन्दी-साहित्य की परम्परा को पुष्ट, परिपक्व और समृद्धिशाली बनाया है।

किसी भी साहित्य की जीवन्त परम्परा में गतिशीलता का गुण अनिवार्य है। परम्परा में विकास के लिए प्रयोग भी सदा होते रहेंगे। नये संगीत, चित्रों और ध्वनियों की खोज में नई पीढ़ी ने सदैव ही तत्परता दिखाई है। खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवि, छायावादी कवि, प्रगतिशील कवि और नये कवि वस्तु और शिल्प दोनों में ही विद्रोही रहे हैं। लेकिन प्रयोग अपनी परम्परा से हमें अलग नहीं कर सकते। परम्परा से टूटकर कवि बे-घर-बार हो जाता है। विदेशी साहित्य के अन्धानुकरण के फलस्वरूप हिन्दी-कविता में हम कभी-कभी इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ भी पाते हैं। नये कवियों में अनेक सच्ची काव्य-प्रतिभा रखते हैं। किन्तु उनमें से कुछ के काव्य-संगीत, शब्द-चित्रों, उपमाओं और ध्वनियों में पाठक को गद्यात्मकता की मरुभूमि पार करनी होती है। उनकी आत्म-रति, अनास्था, सामाजिक हित के प्रति उनकी उदासीनता भी हिन्दी-साहित्य की परम्परा से विलग रहने वाले अनोखे तत्त्व हैं।

हमारी परम्परा की जड़ें धरती में गहरी गई हैं। हमारी संस्कृति का वृक्ष इन्हींके आधार पर अनन्त काल तक पुष्पित और पल्लवित होता रहेगा। मानव-संस्कृति का विकास सहस्रों वर्षों पर्यन्त होता रहा है। आज मनुष्य के असीम ज्ञान की शक्ति ने विकास की अप्रत्याशित सम्भावनाओं के द्वार खोल दिए हैं। यदि यह अखण्ड ज्ञान मुट्ठी-भर मनुष्यों के स्वार्थ के पोषण में ही न लगा, यदि पूरे समाज का अधिकार मानव की संचित अनन्त ज्ञान-राशि और धन-राशि पर हो, तो मनुष्य इतिहास में पहली बार प्रकृति की शक्तियों पर अभूतपूर्व आधिपत्य पा सकता है। इतिहास के महान् मनीषियों और चिन्तकों के स्वप्न तब सत्य हो सकेंगे। मनुष्य के सभी बन्धन तब खुल जाएँगे, मुक्त पंछी की भाँति तब वह पंख खोलकर आकाश में उड़ सकेगा। प्रागैतिहासिक युग का तब अन्त होगा और इतिहास का आरम्भ होगा। प्रेम और शांति की गंगा तभी विश्व में प्रवाहित होगी। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शासन का अन्त तब होगा, और केवल वस्तुओं का शासन शेष रह जायगा। तब न राज्य रहेगा, न राजा और प्रजा। तब मानव-संस्कृति इतिहास में पहली बार उन्मुक्त विकास करेगी और पूर्व-काल के स्वप्न सत्य बन सकेंगे। आज वह सभी सम्भावनाएँ कल्पना की परिधि से निकलकर यथार्थ होने की प्रक्रिया से गुजर रही हैं।

आज के सभी सचेत लेखक, कवि और कलाकार मनुष्य के इन्हीं दिव्य स्वप्नों को अपनी कला के माध्यम से व्यक्त करेंगे और इस प्रकार उद्दाम जीवन की प्रगति में शक्ति के अजस्र स्रोत बनेंगे।



जगन्नाथप्रसाद शर्मा

'दिव्या' का वितर्क पक्ष

'दिव्या' उपन्यास के प्राक्कथन को लेखक ने सारगर्भ बना दिया है। जैसे 'रामचरित मानस' के आरम्भ में गोस्वामीजी ने 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि' आदि लिखकर अपने महाकाव्य के अध्ययन की कुञ्जी प्रस्तुत कर दी है उसी प्रकार यशपाल ने अपने इस उपन्यास की मूल वृत्ति का सूचनात्मक कथन अपने प्राक्कथन में उपस्थित किया है। कुछ पंक्तियों में कृतिकार ने अपने इस इतिहासाश्रित उपन्यास का सामूहिक अभिप्राय बड़ी कुशलता से कह दिया है—'दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना-मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।' यदि इस कृति की समीक्षा का मूल आधार लेखक की इसी स्थापना को मान लिया जाय तो रचना की सर्वांगीण परीक्षा का सम्पूर्ण सौन्दर्य स्वयमेव उद्घाटित हो उठेगा।

'दिव्या' की ऐतिहासिक कल्पना केवल कल्पना की सौन्दर्य-सत्ता की विवृत्ति नहीं है, उसका अपना उद्देश्य है। इस रचना के माध्यम से लेखक जीवन के एक तथ्य एवं दर्शन को सामने लाना चाहता है। वह चाहता है कि उपन्यास की कथा-धारा को इस क्रम से प्रवाहित करे कि 'व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र' अंकित हो उठे। यों तो 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' ही व्यक्तिमूलक अहंवाद को परितुष्ट करता है फिर भी वह अपने को स्थायी स्वरूप प्रदान करने के अभिप्राय से अथवा अपने मंगल के संघटन की दृष्टि से कुछ विश्वासपरक विधानों एवं बन्धनों को स्वीकार कर लेता है। यह उसकी प्रवृत्ति है। बात यहीं समाप्त हो जाय ऐसा नहीं प्रतीत होता। अपने लिए बन्धनों का विधान यदि उसे प्रिय है तो अपनी उस प्रिय निर्मिति का समूल उच्छेदन भी उसकी उतनी ही प्रबल प्रवृत्ति है। बनाने में कर्तापन का अहं उसे सन्तोष देता है और बिगाड़ने में अथवा पराजित करने में भी उसे अहं की शक्ति का बोध होता है। इसी प्रवृत्ति-वैचित्र्य का काव्यात्मक कथन 'दिव्या' का प्रतिपाद्य है।

'दिव्या' व्यक्तिमूलक अहंवाद का प्रतीक है। उसने आद्यंत अपने व्यक्तित्व से प्रेम किया है। उसकी विविध प्रवृत्तियों एवं प्रगतियों का साथ दिया है। विचार ऊहापोह और दृढ़तापूर्वक जीवन की पिच्छल भूमि पर उसने पैर बढ़ाए हैं। अपनी साधना में रस का अनुभव किया है उसके जीवन की गति कभी सम नहीं रही है। वह नीचे-ऊँचे सभी ओर स्थिर होकर चढ़ी है, गिरी है। उत्कर्षापकर्ष के अनेक रूप उसके सम्मुख उपस्थित हुए हैं।

कहीं व्यक्ति और समाज ने उसकी उपासना और आराधना की है, प्रशंसा और स्तुति की है, उसे कला की अधिष्ठात्री देवी माना है, और कहीं उसे निरादृत, उपेक्षित और त्याज्य मान लिया है, उसकी कदर्थना, उपहास और व्यंग किया है, दर-दर की ठोकरें खिलाकर अपमानित और लांछित किया है। पृथुसेन ने अपने ढंग से और रुद्र-धीर ने अपने ढंग से उसे प्रताड़ित और विक्षुब्ध किया है। वह धीर अभिमान-भरी नारी सब प्रकार के घात-प्रतिघातों, संघर्षों और कुरूप विषमताओं का सामना करती हुई अपने गन्तव्य मार्ग पर अडिग चलती गई है। उसके जीवन की धारा सुख-दुःख, चिन्ता उद्वेग और आत्म-ग्लानि की लम्बी और करुण कहानी बन गई है।

पर जीवन के नानात्व के अन्तराल में से चलकर जो दिव्या का व्यक्तित्व गठित हुआ है वही रचना में अध्ययन का विषय है, उसीमें जीवन का निखार उभरा है, और वही लेखक की सच्ची कला-कृति है। संक्षेप में उसकी यातना की कहानी इतनी ही है—उच्च सामंत वंश के प्रासाद में उसका समस्त आभिजात्य संगठित हुआ, यौवनोत्कर्ष वेला में कला-कौशल ने उसमें चार चाँद लगा दिए। मद्र राज्य और सागल नगरी की आराधना का वह अप्रतिम विषय बन गई। राजकीय और सामाजिक सम्मान से आपूर्ण अपने नारीत्व को उसने सहज विश्वास के साथ पृथुसेन को अर्पित कर दिया। यहीं से व्यक्ति और समाज ने उसका विरोध आरम्भ किया। पृथुसेन प्रवञ्चक प्रमाणित हुआ। इस पर कुलाचार ने दिव्या को लांछित और परित्याज्य घोषित किया। फिर तो विषम धाराओं में वह बह निकली। प्रौढ़ श्रेष्ठी प्रतूल ने बेटी संबोधन करके भी उससे निर्दयता का ही व्यवहार किया। मथुरा के दास व्यापारी भूधर ने दारा नाम धारिणी दिव्या को प्रतूल से खरीदा और पुनः पुरोहित चक्रधर के हाथों बेच दिया। वह चक्रधर के यहाँ जाकर अपार यातनाओं में पड़ी। इस प्रकार समाज और व्यक्तियों की अमानवीय क्रूरताओं के दुर्दान्त थपेड़ों को सहन करते-करते वह कातर हो उठी; पर लड़ाई उसकी गतिशील रही। अपनी और अपने नवजात शिशु शाकल की प्राण-रक्षा के अभिप्राय से वह गई बुद्ध की शरण, धर्म की शरण, संघ की शरण में। नाना प्रकार के अनुनय-विनय और तर्क-वितर्क करने पर भी उसे वहाँ प्रवेश नहीं मिल सका। सब प्रकार से अपने को दीन-हीन, असहाय और प्रवंचित पाकर उस समय उसके जड़ मस्तिष्क में केवल एक ही बात स्पष्ट थी—वेश्या स्वतन्त्र नारी है, परतन्त्र होने के कारण उसके लिए कहीं शरण और स्थान नहीं—इसलिए वह वेश्या बनेगी।

इनके उपरान्त तो फिर दिव्या शूरसेन प्रदेश की जनपद कल्याणी, राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा का प्रश्रय प्राप्त कर लेती है और तब उस कलावती की जीवन-धारा कुछ समगति से प्रवाहित होती है। दारा का नाम अंशुमाला हो जाता है और वह श्रेष्ठी, युवक सामंतगण और राजपुरुषों के प्रेम और अभ्यर्थना का विषय बन जाती है। विलास-वैभव से आपूरित उसका अपना व्यक्तित्व-ऐश्वर्य सिद्ध दिखाई पड़ने लगता है। रुद्रधीर और मूर्तिकार चारवाक-मारिश जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति उसकी ओर आकृष्ट होने लगते हैं और अपने-अपने अनुरूप प्रणय-निवेदन उपस्थित करते हैं। इस प्रकार समस्त प्रतिष्ठित समाज की उपासना पाकर भी दिव्या में आरम्भ का आन्तरिक उल्लास मुखरित न हो सका। वह अपने प्रति सर्वथा निरपेक्ष ही बनी रही। उत्कर्षापकर्ष की उन कठोर भूमिकाओं की यथार्थ वस्तु-स्थितियों को

वह न भूल सकी जिनके भीतर से चलकर जीवन की दारुण विभीषिकाओं का वह सामना कर चुकी थी। ग्रीष्म की प्रतप्त आतप-रश्मियों की वह प्रचण्ड तीव्रता आज भी उसके अन्तःकरण में घर किये थी जिसमें स्तनों को पीठ-पीछे बाँधे वस्त्र के एक टुकड़े और कटि पर बँधे अन्तर्वासक के अतिरिक्त उसके शरीर पर अन्य वस्त्र न था और वह अपने शाकुल को अंक में दबाए कहीं शरण पाने के लिए मारी-मारी फिर चुकी थी। यहाँ तक आते-आते कठोर अनुभूतियों की नग्न वास्तविकता उसके जीवन की समस्त रस-सरिता को सुखा चुकी थी और वह पद्मपत्रमिवांभसि वाह्य ऐश्वर्य-सज्जा से पूर्ण होकर भी भीतर अत्यन्त विरक्त भाव धारण किये रहती थी।

एक बार पुनः परिस्थितियों ने करवट ली और वह मल्लिका की उत्तराधिकारिणी—जनपद कल्याणी—वेश्या बनने के लिए सागल नागरी में अवतीर्ण हुई—अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ; परन्तु यहाँ आकर पुनः सामाजिक मान्यताओं ने उसे बन्धन में डाल दिया। मद्र के समस्त जन-समूह ने, सामन्त-वर्ग ने और अभिजात समाज ने एक स्वर से ललकार दिया—मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठकर जन के लिए भोग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती। धर्म-व्यवस्थापक, नीतिविद्, महापण्डित, महाचार्य रुद्रधीर ने भी अपनी व्यवस्था का उद्घोष कर दिया कि वर्णाश्रम की व्याख्या त्रिकाल के लिए सत्य है। इस आर्य सत्य के सम्मुख दिव्या ने सिर झुका लिया और वह निभृत एकान्त में बैठकर अपनी भाग्य-लेखा का रूप समझने के लिए आकुल हो उठी। एक बार फिर समाज से बहिष्कृत होकर वह अपने अदृष्ट को स्थिर रूप देने की चिन्ता में आ पड़ी।

अपने कण्टकित जीवन का इतना मार्ग तय करते-करते उसमें एक अपना सुदृढ़ व्यक्तित्व स्फुटित हो गया है। सार-सर्वस्व रूप में उसके भीतर सुस्थिर भावनाएँ, विचार और कर्तृत्व भर चुका है। अब वह इस स्थिति में आ चुकी है कि पूर्व की सभी अपनी समस्याओं का यथोचित उत्तर और समाधान प्रस्तुत कर सके। अपने सभी प्रताड़कों—व्यक्ति, समाज, धर्म आदि को दो टूक खरा-सा जवाब वह दे सके—ऐसी क्षमता उसके चरित्र में उत्पन्न हो गई है। उपन्यास के अन्त में विषय का जैसा समाहार लेखक ने किया है उसमें दिव्या का यही रूप उभरा है। उसके भीतर नारी का कठोर बुद्धिवादी स्वरूप निखर उठा है और उसकी निर्णयात्मिका शक्ति गम्भीर और अडिग हो गई है। उपन्यास का अन्तिम दृश्य पान्थशाला में उद्घाटित होता है। वस्तुतः इस कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दृश्य यही है। यह उपन्यास का मस्तिष्क है। इसे प्राक्कथन में उपस्थित की गई स्थापना का उत्तर पक्ष मानना चाहिए।

× × × ×

चारों दीपदण्डधारी कक्ष के चारों कोनों में खड़े हो गए। अँधियारा कक्ष प्रकाश से जगमगा उठा। दिव्या अप्सरा के वेश में भित्ति का सहारा लिये हुए भूमि पर बैठी थी। मस्तक उठाकर उसने आगन्तुकों की ओर देखा। वह निश्चल बैठी रही। द्वार से झाँकने वाला जन-समूह विस्मय में मौन था।

स्थिर नेत्र उठाकर दिव्या ने आचार्य से प्रश्न किया—'इस प्रताड़िता के लिए अब क्या आज्ञा है?'

भूमि पर बैठी हुई दिव्या के सम्मुख कंचुकी द्वारा बिछाया आसन ग्रहण करके आचार्य बोले—'देवी, तुम्हारा स्थान नर्तकी वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुल-कन्या हो। तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुल माता के आसन पर है। आचार्य रुद्रधीर देवी को आचार्य-कुल की महादेवी के आसन पर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित है। देवी, अपना आसन स्वीकार करके आचार्य को कृतार्थ करो!'

निष्पलक दृष्टि आचार्य के मुख पर स्थिर किये दिव्या ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—'आचार्य, कुलवधू का आसन, कुलमाता का आसन, कुलमहादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख आदर से मस्तक झुकाती है परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुलमहादेवी निरादृत वेश्या के समान स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर नहीं हैं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय-मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य, अपनी इच्छा से अपने स्वत्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगा? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्म-निर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।'

आचार्य अपनी असीम क्षमता को असमर्थ अनुभव करके दिव्या की कठिन मूर्ति की ओर विवश दृष्टि किये बैठे रहे।

× × × ×

दिव्या के जीवन को आमन्त्रणपूर्ण प्रभाव से आन्दोलित करने वालों में एक रुद्रधीर भी थे। तत्कालीन सांस्कृतिक संगठन के अनुसार सर्वोत्तम आभिजात्य के श्रेष्ठ अधिष्ठान रुद्रधीर थे। आभिजात्य-प्रेम दिव्या के जीवन को पतनोन्मुख बनाने का प्रधान कारण था। कुलगृह के विच्छेद से ही सूखे पत्ते की भाँति उसे जीवन में इधर-से-उधर उड़ते रहना पड़ा था। व्यक्ति स्वातन्त्र्य को मूलतः उच्छिन्न कर देने वाला यह अमानवीय पाषण्डवाद पूर्णतया अहंवादिता का समर्थक था और व्यक्तिमूलक नारी के स्वत्व-सम्मान को स्वीकार नहीं करता था। अतएव अहं-प्रबुद्धा और स्वत्वाभिलाषिणी नारी की प्रतिहिंसा का लक्ष्य था। जीवन के कठोर और अनुमानित सत्य पर आश्रित दिव्या का व्यवहार-दर्शन पुरुष के इस कोटि के एकाधिकार को स्वीकार नहीं कर सका। इस उपन्यास में स्वत्व और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की लिप्सा से अभिभूत नारी की प्रतिहिंसात्मक भावना का प्रतीक दिव्या है। अहं का पूर्ण आभोग ही उसके जीवन का इष्ट बन गया है। यही कारण है कि आभिजात्य भावापन्न रुद्रधीर के पाषाण मुख पर उसने इतनी कड़ी चोट की है। प्रतिशोध ने उसे प्रेरित किया कि वह भले ही नर्तकी वेश्या न बनने पावे, पर कुलाचार और रूढ़-परम्परा की बर्बरता के प्रतीक आचार्य की भोग्या बनना भी उसे स्वीकार नहीं।

× × × ×

उस समय आचार्य के आसन के समीप आकर भिक्षु ने पुकारा—'आर्ये, मैं तथागत का सेवक भिक्षु पृथुसेन समाज से प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में ग्रहण करने के लिए उपस्थित हूँ।'

दीपदण्डों के प्रकाश में सम्मुख खड़े काषाय-चीवरधारी भिक्षु का स्वर सुनकर और परिचय पाकर दिव्या के नेत्र फैल गए। एक कम्पन-सा उसके शरीर पर हुआ। एक गहरे श्वास से उसका वक्ष उठा और वह भिक्षु की ओर दृष्टि लगाए फिर निश्चल हो गई।

आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाकर भिक्षु पृथुसेन बोला—'देवी, तथागत की कृपा से तुमने आसक्ति और मोह के भ्रम को जानने का अवसर पाया है। देवी, शान्ति वैभव में नहीं, शान्ति प्रभुता में नहीं, शान्ति तृप्ति में नहीं। देवी, चिरन्तन सुख केवल निर्वाण में है। देवी, संसार का कोई दुःख निर्वाण के आनन्द को क्षुब्ध नहीं कर सकता। देवी, संसार के पीड़ित समाज से प्रताड़ित बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शान्ति पाते हैं। देवी, उस अपार करुणा की शरण ग्रहण करो।'

क्षण-भर के लिए मौन दिव्या की दृष्टि धुँधली हो गई। दीपदण्ड से प्रकाशित कक्ष में अधिकार और शक्ति की प्रतिमा महामात्य रुद्रधीर और काषाय-चीवरधारी भिक्षु उसकी दृष्टि से लुप्त होकर मथुरापुरी के महाबोधि विहार के मुँदे पटों के सम्मुख वृक्ष के नीचे, सन्तान गोद में लिये अशरण, आर्तनारी भगवान् बुद्ध, धर्म और संघ से शरण की भिक्षा माँगती दिखाई देने लगी।

दिव्या के नेत्र पुनः दीप्त हो गए। काँपते स्वर में दिव्या ने प्रश्न किया—'भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?'

भिक्षु ने धीरे स्वर में उत्तर दिया—'देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।'

'भन्ते, अपने निर्वाण-धर्म का पालन करें—' दिव्या ने मन्द परन्तु दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, 'नारी का धर्म निर्वाण नहीं सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।'

दिव्या के जीवन में पृथुसेन धूमकेतु की तरह अवतरित हुआ है। दिव्या की समस्त कटु अनुभूतियों का मूल कारण वही है। उसकी प्रवचना ने दिव्या को कहीं का न रहने दिया, इसी के फेर में पड़कर उसको कौटुम्बिक निष्कासन का सामना करना पड़ा है और उसीके पाप से उसका सारा जीवन अभिशप्त हो उठा है। पृथुसेन परिस्थितियों का दास बनकर सीरो के अन्धकार में ऐसा पड़ा कि दिव्या को सामाजिक हीनताओं और अपकर्षों में धँसना पड़ा है। उसका सारा भविष्य मानसिक और शारीरिक व्यथाओं का पुञ्जीभूत रूप बन गया है। उसका कौमार्य भ्रष्ट हुआ, मातृत्व संकट में पड़ा और सम्पूर्ण आभिजात्य भयंकर प्रवंचना में पड़कर कलंकित हुआ है। नारी-गरिमा का दारुण पतन पृथुसेन ने किया है। यही कारण है कि उसके प्रति दिव्या के हृदय में निर्मम पीड़ा ने घर कर लिया है और वह उसके हाथ से वरदान, शान्ति, निर्वाण और अमृत भी नहीं ग्रहण कर सकती।

इसके अतिरिक्त संघनियमों की अमानवीय व्यावहारिकता का नितान्त गलित रूप भी वह देख चुकी है। उसमें न तो उसे कोई सौन्दर्य दिखाई पड़ा है और न मंगल का कोई दिव्य विधान। अतृप्त वासनाओं और कलुषित चारित्र्य के प्रतीक पृथुसेन जीवन की असफलताओं की करुण कहानी पृथुसेन को धर्म के पाखण्डवाद का समर्थक होते देखकर उसके प्रति दिव्या की भावनाएँ तिक्त और क्षुब्ध हो उठती हैं। जीवन की चतुर्दिक् असफलता से विक्षुब्ध होकर पलायनवाद के रूप में पृथुसेन ने प्रव्रज्या ग्रहण की है। इस सत्य से दिव्या

पूर्णतया परिचित है। इसीलिए उसे धर्म के नाम पर करुणापूरित होते पाकर दिव्या उसके प्रति तिरस्कार, व्यथा, प्रतिहिंसा से कठोर बन उठी है। उसे न तो प्रवंचक पृथुसेन में कोई आकर्षण रह गया है न घटाटोप पाखण्डी धर्म संघ में कोई श्रद्धा दिखाई पड़ती है।

× × × ×

(अवसर पाकर पूर्व देश से आए पथिक ने भिक्षु के समीप आकर पुकारा 'मैं मारिश, देवी के सामीप्य के लिए ही मथुरापुरी से सागल आया हूँ।'

दीपदण्ड के प्रकाश में दिव्या के नेत्र पुनः विस्मय और जिज्ञासा से फैलकर चमक उठे। धूलि-धूसरित पथिक बोला—'मारिश देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह ससार के सुख-दुःख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी के साथ कर सकता है। वह संसार के धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है। सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।'

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिए। उसका स्वर आर्द्र हो गया—'आश्रय दो आर्य।')

प्रत्यक्ष एवं व्यवहार-सिद्धि पर पूर्ण आस्था रखने वाले मारिश ने दिव्या को ठीक से समझा है। उस नारी की आन्तरिक कुण्ठा और बुभुक्षा का यथार्थ रूप उसकी समझ में आ गया है। राज-प्रासाद की महादेवी-भावना से प्रवंचित और आभिजात्य की यथार्थ अमानवता से पूर्ण परिचित दिव्या इन रंगीनियों और प्रलोभनों से कदापि नहीं जीती जा सकती। इन दोनों के भीतर अपने-अपने ढंग की जो कुरूपताएँ हैं, इसका ज्ञान वह कर चुकी है। महादेवी-भावना के भीतर उसे व्यक्ति की रूढ़ और विकृत सत्ता का रूप दिखाई पड़ता है। महादेवीत्व प्रदान करने वाला व्यक्ति उस पद-मर्यादा को स्वीकृति प्रदान करके अपने को दाता और अनुग्रह करने वाला मानता है। इसमें स्त्री-गरिमा का अपहरण समझती है दिव्या, आदान-प्रदान के समत्व और संतुलन का इसमें अभाव पाती है, इसे वह स्त्री के स्वत्वमूलक अहंवाद का सर्वनाश मानती है। इसलिए इसे सर्वथा अग्राह्य घोषित करती है। इसके अतिरिक्त आभिजात्य का व्यामोह कितना अनर्थकारी है इसका ज्वलन्त स्वरूप उसका अपना जीवन स्वयं है। इतना नाच नचाकर अथवा काँटों पर दौड़ाकर यदि अन्त में वही अभिजात्य उस पर अनुग्रह-जल का अभिसिंचन करना चाहे तो उसे उपेक्षा और तिरस्कार से विलुण्ठित करना ही दिव्या का लक्ष्य है। यदि आभिजात्य किसी अभिजात के अपकर्ष का कारण बनता है, उसकी हत्या में योग देता है तो वह उसका शत्रु है—उसकी आराधना का विषय नहीं हो सकता। दिव्या ने रुद्रधीर के प्रस्ताव को ठुकराकर शत्रु के समस्त शौर्य को विगलित कर दिया है। उसकी क्रान्ति के आलम्बन यही दोनों शत्रु हैं, इसीलिए उन पर इतना निर्मम प्रहार उसने किया है। उसके इस मर्म को मारिश ने समझ लिया है।

मारिश ने यह भी देखा कि दिव्या संघ-जीवन की ओर आकृष्ट नहीं है। निर्वाण में

उसकी कोई आस्था नहीं है। जिस प्रकार के जीवन एवं दर्शन का भिक्षु पृथुसेन प्रलोभन दे रहा था उस ओर उसकी अभिरुचि नहीं। एक ओर सृष्टि और उत्पादन की ओर प्रवृत्ति रखने वाली नारी का स्थान संघ में सम्भव नहीं, दूसरी ओर धर्म-निर्वाण को वह अपने लिए ग्राह्य नहीं मान सकती। ऐसी स्थिति में ऊर्जस्वित और सत्यानुशील नारी की भाँति उसने पृथुसेन के आमन्त्रण एवं प्रस्ताव को ठुकरा दिया है। इस कठोर उपेक्षा और अश्रद्धा को उद्दीप्त किया है संघ की कुरूप स्मृति ने जो उसके भीतर जग उठी। भिक्षु के स्वरूप में उसके अन्तस्थ की सारी कड़ुआहट प्रतिबिम्बित हो गई। इसके अतिरिक्त एक और प्रबल कारण उपस्थित है इस निमन्त्रण का दाता वही पुरुष है, जिसके फेर में पड़कर उसका जीवन इतना विप्लवकारी बन गया। उस व्यक्ति के प्रति उसके भीतर घृणा-भाव घर कर गया है। चरित्र से दरिद्र और परिस्थितियों के दास पृथुसेन में ऐसा कुछ है ही नहीं जिसमें वह कुछ विश्वास नियोजित कर सके। शुद्ध अन्तःकरण से उसके ऐसा जीव कभी धर्म की ऊँची भूमिका पर पहुँच सकता है इसका विश्वास वह कैसे कर सकती है। अतएव उसके स्वागत-जाल में वह कदापि फँसना नहीं चाह रही है--इस बात को भी मारिश-जैसे व्यवहारवादी दार्शनिक ने परख लिया है। स्थिति की इसी वास्तविकता ने मारिश को प्रेरित किया है कि वह अपने सच्चे रूप को सामने रखे और यथार्थ की ओर दिव्या को उन्मुख करे।

समस्त वस्तुस्थिति का आकलन करते हुए मारिश ने अपना आमन्त्रण उपस्थित किया है। अपने पक्ष का निवेदन करने के पूर्व उसने उन प्रलोभनों का तिरस्कार किया है, जिनसे दिव्या प्रवंचित हो चुकी है। और जिनके प्रति उसके मन में नगण्यता-विधायक विरक्ति पूर्णतया उद्दीप्त हो चुकी है। ऐसा करके मारिश ने दिव्या की आन्तरिक सहानुभूति प्राप्त कर ली और उसके आगे के अनुकूल निश्चय के लिए भूमिका प्रस्तुत कर दी।

इसके अतिरिक्त भौतिक ऐश्वर्य-विभव की नगण्यता अथवा उपेक्षा का संकेत देते हुए उसने स्वीकार किया है कि 'वह धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है' और दिव्या को किसी रंगीन दुनिया में ले जाकर नहीं स्थापित कर सकता। उसी सामान्य जीवन को यदि दिव्या अपना समस्त नारीत्व अर्पित कर सके तो वह भी अपने पुरुषत्व का समर्पण कर सकता है। इस प्रकार लेन-देन को, आश्रय के आदान-प्रदान को वह अपने जीवन की आधारशिला बना सकता है। इस क्षण-भंगुर जीवन में अनुभूतिजन्य सन्तोष के भव्य प्रासाद की स्थापना वह ऐसी ही शिला पर करना चाहता है। इस प्रासाद की अधिष्ठात्री देवी के रूप में यदि दिव्या अवतरित होना चाहे तो वह संवेदनापूर्ण सन्तोष उत्पन्न करने में योग दे सकता है।

अन्त में यदि इस उपन्यास का सार-संग्रह किया जाय तो कहना होगा कि इसकी मूलवृत्ति समस्या-प्रधान है और समस्या सम्बद्ध है दिव्या के जीवन से। व्यक्ति, परिवार, धर्म और समाज के प्रति चिरन्तन नारी का व्यक्तिमूलक अहं पूर्णतया प्रबुद्ध होकर क्रान्ति के रूप में विवृत हुआ है—इस उपन्यास में। अन्याय, प्रतारणा और उत्पीड़न को चुनौती देने के लिए, वर्गवादी समाज की अहंमन्यता के मुँह पर थप्पड़ मारने के लिए दिव्या के रूप में नारी का शाश्वत और स्वतन्त्र व्यक्तित्व खड़ा किया गया है। जीवन में आदर्श की पराजय और व्यावहारिक दृष्टिकोण अथवा भौतिक दर्शन की विजय ही इस उपन्यास का साध्य पक्ष कहा जा सकता है।

बालकृष्ण राव

राष्ट्र-निर्माण और लेखक

इससे पहले कि हम इस विषय पर सोचना शुरू करें कि राष्ट्र-निर्माण के विराट् अभियान में आज के लेखक का क्या स्थान है, यह आवश्यक है कि हम यह भली भाँति समझ लें कि इस समस्त पद, 'राष्ट्र-निर्माण' का प्रयोग हम किस अर्थ में कर रहे हैं। बिना इस शब्द का अर्थ निश्चित किये कुछ भी कहना सार्थक न होगा।

साधारणतया 'राष्ट्र-निर्माण' कहने से पंचवर्षीय योजनाओं का बोध होता है। कुछ उसी तरह जैसे 'विद्योपार्जन' कहने से स्कूल जाने का। पर स्कूल जाना विद्योपार्जन नहीं है, विद्योपार्जन की एक विधि-मात्र है। उसी तरह पंचवर्षीय योजनाओं की परिकल्पना और उनका परिचलन राष्ट्र-निर्माण की एक विधि-मात्र है। जिस व्यापक और गम्भीर अर्थ में साहित्यकार इस शब्द का प्रयोग करता है वह पंचवर्षीय योजनाओं में प्रतिबिम्बित भले ही हो, उन्हीं तक सीमित नहीं रह जाता। सत्य तो यह है कि साहित्यकार की दृष्टि 'राष्ट्र' से बृहत्तर मानव-समाज को सहज ही अपनी गोचरभूमि बना लेती है। राष्ट्र की चेतना बहुत दूर तक उसे प्रेरणा नहीं दे पाती। वह उन उदात्त क्षणों में, जिनमें उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि हो सकती है, देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है, स्वयं अपने से बड़ा हो जाता है। वह जिन सीमाओं से, जिन स्तरों से ऊपर उठ जाता है उन्हें क्षुद्र मानकर आगे नहीं बढ़ता, उन्हें अनिवार्य, आवश्यक, सत्य मानता हुआ, उनके प्रति सच्चा रहता हुआ, सहज गति से बढ़ता है। वर्ड्स्वर्थ ने यह बात यों कही थी :

"अपने आदर्श, कल्पना, चिन्तन के स्वर्ग और पैरों के नीचे पड़ी घर की ज़मीन, दोनों के प्रति समान रूप से सच्चा रह सकना ही साहित्यकार की चरम सफलता है।"

हम यहाँ आदर्श, कल्पना, चिन्तन के स्वर्ग की नहीं, भूमि की ही बात करने जा रहे हैं—और सो भी उस छोटे-से भूखण्ड की; जिसे वह अपना देश और जिसकी सीमाओं के भीतर रहने वाले मानव-समूह को अपना राष्ट्र मानता है। उसकी दृष्टि इन सीमाओं के भीतर ही नहीं रह जाती। सम्भव है कि वह राष्ट्र की चेतना को मनुष्य के विकास के मार्ग पर गड़ा एक मील का पत्थर-मात्र मानता हो, उसका वह विश्वास हो कि आगे चलकर हम राष्ट्र-भावना को उसी तरह पुरानी, सड़ी-गली, त्याज्य मानने लगेंगे जैसे आज जात-पाँत, छुआ-छूत, आर्य-अनार्य के भेद-भावों को मानने लगे हैं। यह सम्भव ही नहीं, अनिवार्य है कि हम विकास के क्रम को इन स्थूल सीमाओं पर सदा के लिए रुका हुआ न देखना चाहें, न देख सकें। पर यदि वह सच्चा साहित्यकार है, दोनों ही उसके लिए सत्य होंगे—आदर्श भी और यथार्थ भी। देश और काल की सीमाओं से आगे जा सकना एक बात है, ठोस भूमि पर

पैर जमा न पाना दूसरी। भूमि को नीचे छोड़कर आकाश में उड़ सकना भूमिवासी के लिए वरदान होगा, पर भूमि पर लौट न पाना अभिशाप हो जायगा। सच्चा साहित्यकार अपने आदर्श के आकाश में मनचाहा विचरण करने की शक्ति पाने और पाकर उसे सुरक्षित रखने के लिए न ठोस भूमि पर लौटने का अपना सहज अधिकार ही गँवा बैठता है, न प्रवृत्ति ही।

जब राष्ट्र-भावना उतनी पुरानी और निर्जीव हो जायगी जितनी पुरानी और निर्जीव आज हमें जात-पाँत की भावना दिखाई देती है, तब की तब देखी जायगी; पर इस समय न वह पुरानी है, न निर्जीव। कोई उससे बहुत अधिक प्रभावित है, कोई बहुत कम; पर इससे कोई शायद ही इन्कार करे कि उसके मन में किसी-न-किसी प्रकार या किसी-न-किसी रूप में राष्ट्र-चेतना का संस्पर्श होता ही है। यथार्थ को देखने और समझने वाला साहित्यकार यथार्थ के बहिरंग को जानकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह यथार्थ के अन्तस् से भी परिचित होता है, उसकी अन्तर्निहित प्रगतिशीलता को पहचानता है। आज के मनुष्य के लिए राष्ट्र-चेतना उतना ही बड़ा सत्य है जितना पारिवारिक सम्बन्धों में माँ-बेटे और भाई-भाई के बीच निकटता का भाव। हमारे मन में राष्ट्र-चेतना उतनी सबल न हो, जितनी हमारे विचार में औरों के मन में है; पर हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि हम जिस समाज के सदस्य हैं उसके अन्य सदस्यों के मन राष्ट्र की भावना से सहज ही प्रभावित हो जाते हैं, राष्ट्र-निर्माण, राष्ट्रोन्नयन की आकांक्षा उनमें से बहुतों के मन में उठा करती है। हम अपने समाज के गुणों और दोषों से परिचित न हों, यह सम्भव नहीं है; पर यदि हम सच्चे अर्थों में साहित्यकार हैं तो केवल गुण-दोषों से ही नहीं—जिनसे विदेशी पर्यटक भी बहुत-कुछ परिचित हो जाते हैं—समाज के मन और प्रवृत्तियों से भी हमारा गहरा परिचय हो जाता है। हम यह भली भाँति जानते हैं कि हमारे समाज की सामूहिक चिन्ता-धारा किस ओर, किस गति से बह रही है। हम यह पढ़-सीखकर नहीं, अपने समाज और अपने परिवेश से तादात्म्य स्थापित करके जान लेते हैं—और अपने समाज और परिवेश से तादात्म्य स्थापित करना साहित्य-सर्जना की प्रक्रिया का ही एक अनिवार्य अंग है।

इस प्रकार समाज के अन्तर्मन से अपना तादात्म्य स्थापित करके हम अपनी आत्मिक विशिष्टता गँवा नहीं देते, समाज बलिदान की वेदी नहीं है, न साहित्यकार का व्यक्तित्व ही बलिदान का बकरा है। सर्वाधिकारवादी समाज-व्यवस्था में बलिदान की वेदी और बलि-पशु की समस्या भले ही खड़ी हो जाय, सामान्य, स्वाभाविक रूप से नियोजित समाज में यह स्थिति नहीं होती—न उस समाज की वह स्थिति है जिसके हम सदस्य हैं। हमारी बुद्धि, वाणी, लेखनी, किसी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। समाज के जिन सदस्यों के हाथ में शासन का भार है वे चाहते हैं हम उनके द्वारा बनाई हुई राष्ट्र-निर्माण की योजनाओं को सफल बनाने में अपना योग दें। इस आशय से वे हमें प्रेरणा देने की चेष्टा करते हैं। पर वे, भाग्यवश इस स्थिति में नहीं हैं कि हमें अपनी योजनाओं की सफलता के निमित्त कुछ कहने या लिखने के लिए विवश कर सकें। यदि हम उन योजनाओं की भर्त्सना करना चाहते हैं तो कर सकते हैं, स्तुति करना चाहें तो भी कर सकते हैं—और यदि सर्वथा उदासीन रहना चाहते हैं तो भी हमें कोई टोकने वाला नहीं है। इस परिस्थिति में यदि हम, विश्वास और अन्तःप्रेरणा के कारण अथवा

शासक को प्रसन्न करके आर्थिक लाभ उठाने के लोभ से या केवल 'फैशन' के साथ चलने की इच्छा से, किसी निर्माण-योजना-विशेष के प्रति अपने भावकों को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ लिखते हैं, तो यह हमारी अपनी मर्ज़ी; नहीं लिखते हैं तो हमारी मर्ज़ी। इस स्थिति में भी हम यह कहकर अपने मन में उठती शंकाओं को दबाना चाहते हैं कि "हम क्या करें! जी तो नहीं चाहता था कि उस योजना पर प्रबन्ध-काव्य लिखें, प्रेरणा ही नहीं थी, पर आमदनी का कोई जरिया तो बाल-बच्चे वाले को चाहिए ही। क्या करता? लिखकर दे दिया, रुपये मिल गए तो घर का काम चला।" जो ऐसे स्पष्ट वक्ता नहीं हैं वे सरकारी नौकरी करने और निर्माण-योजनाओं के लिए प्रचार करने के कार्यों को देश-सेवा और राष्ट्र-निर्माण की भावना को लाभ देकर अपने शंकाकुल मन को आश्वस्त करने की चेष्टा करते हैं। साथ ही वे यह भी मानना—या यों कहें कि मनवाना चाहते हैं कि इस प्रचार-कार्य से श्रेष्ठतर साहित्य-साधना हो ही नहीं सकती। रीति-काल के कवि ने कहा था, "आगे के सुकवि मानिहैं तौ कविताई, न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है"—बाँध-निर्माण पर प्रबन्ध-काव्य लिखकर पारितोषिक पाने वाला कवि अपने पूर्ववर्ती के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकता है, "आगे के सुकवि मानिहैं तौ कविताई, न तो लोक-सेवकाई करिबे कौ बहानो है।" इन लेखकों के मन में इस प्रकार के बहाने बनाने की इच्छा इसीलिए तो उठती है कि इनमें अभाव है। यदि प्रधान उद्देश्य नौकरी करना या पारितोषिक पाने की कोशिश करना कोई चोरी-डकैती तो नहीं, जो छिपाने की आवश्यकता हो।

हमारे यहाँ ही नहीं और भी अनेक देशों में साहित्यकार और पत्रकार में यह अन्तर माना जाता रहा है कि जहाँ साहित्यकार शाश्वत मूल्यों का अन्वेषण करता है वहाँ पत्रकार तात्कालिक मूल्यों का; साहित्यकार किन विषयों को अपने चिन्तन की परिधि से बाहर रखता है, किन्हें उसके भीतर ले लेता है, यह सब उसकी दुनिया की बातें हैं—समाज जिन समस्याओं से उलझता रहता है वे समस्याएँ साहित्यकार के चिन्तन की नहीं, पत्रकार के लिए उपयुक्त हैं। हम इसके भी आदी रहे हैं, और अब तक हैं, कि शाश्वत मूल्यों के अन्वेषी को उससे अधिक आदर के योग्य मानें जो केवल इस समय के जीते-जलते प्रश्नों के उत्तर खोज रहा है। अतः यह बहुत आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे अनेक भाई-बन्धु अपनी और औरों की आँखों के आगे नैतिकता, देश-भक्ति और लोक-कल्याण की भावना के चमकीले पर्दे गिराकर अपनी भूख और प्यास की नग्नता छिपाने की कोशिश करें—यद्यपि उन्हें प्रेरणा देने वाली शक्ति उनकी भूख थी, देश-भक्ति नहीं। साहित्यकार—अथवा कोई भी—कौन-सा कार्य किस उद्देश्य से, किस प्रेरणा के फलस्वरूप करता है, यह उसे शायद कभी पूरी तरह से मालूम नहीं हो पाता। उसके उपचेतन मन में अनेक अतृप्तियाँ और कुण्ठाएँ, नेपथ्य में बैठी, उसे अनेक दिशाओं की ओर बढ़ने, अनेक कार्य हाथ में लेने, अनेक लिये हुए काम अधूरे ही छोड़ देने की प्रेरणा दिया करती है। बहुधा इन अदृश्य शक्तियों से अपरिचित रहने के कारण ही हम अपने-आपको धोखा देने के लिए नहीं, सच्चे मन से ग़लत बात बता दिया करते हैं। निरुद्देश्य और स्वान्तः सुखाय साहित्य-रचना की बात करना, सच्चे मन से यह मानना कि हम "कला के लिए कला" का नारा नहीं लगाते, वास्तव में उस नारे को अपने धर्म का मूल मन्त्र बना चुके हैं, इसी तरह की एक भल हो सकती है। लोक-कल्याण की भावना से

प्रेरित होकर, देश-भक्ति के आवेश में आकर यदि कोई बेकार नौकरी कर लेता है, निर्धन धन कमाने लगता है, तो अधिक सम्भावना इसीकी है कि वह भी उसी तरह अपने को बहला रहा है जिस तरह उस शिव-भक्त ने अपने दिल को बहलाने की कोशिश की थी, जिसने कहा था "पूजा ते विषदोषभोगरचना, निद्रा समाधिस्थितिः--यद्यत्कर्मकरोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।"

यह प्रवञ्चना है—जान-बूझकर की गई प्रवञ्चना हो या अनजान में। हमारा उद्देश्य यदि रुपया कमाना-मात्र है तो भी हमें बिना किसी संकोच के यह मान लेना चाहिए—कम-से-कम एकान्त में अपने-आप से—कि हमारे बाढ़-पीड़ित जनता के दुःख से विचलित होने के कारण ही हमारा शोक श्लोक में नहीं बदल गया, हमने व्यावहारिक बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन किया है। निर्धन, बाल-बच्चेदार आदमी अगर चार पैसे कमाने के इरादे से प्रचार-विभाग में नौकरी कर लेता है तो उसे तो यह मानने में और भी कम संकोच होना चाहिए कि उसके नौकरी करने के निर्णय के पीछे सबसे प्रबल प्रेरणा कौन-सी थी। प्रत्येक निर्णय के पीछे केवल एक ही उद्देश्य प्रेरक के रूप में खड़ा हो, यह आवश्यक नहीं है। अनेक स्पष्ट, अर्द्ध-स्पष्ट, अस्पष्ट उद्देश्यों का संचित बल हमें प्रेरणा दे सकता है, देता रहता है। हमारा नैतिक कर्तव्य-मात्र इतना ही है कि हम उनमें से जितनों को देख और पहचान सकते हैं उनके विषय में अपने-आपको भ्रान्ति में न रखें। दूसरा नैतिक दायित्व, अपने प्रति, हमारा यह है कि हम यह न समझते रहें कि मात्र इस कारण ही हम लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार हैं, हमारी धाक जमी हुई है, साहित्य के इतिहास में हमारा उल्लेख है और होता रहेगा, हम जो भी लिखें वह साहित्य की कृति हो जायगी। उसी शिव-भक्त ने, जिसने 'पूजा ते विषयोपभोग रचना' कहकर आशुतोष को सन्तुष्ट करने की और अपने शंकाकुल मन को मनाने की चेष्टा की थी, यह भी कहा था कि 'स्तोत्राणि सर्वा गिरा।' हम भी प्रचारार्थ 'बाँध बावनी' लिखकर यह विश्वास कर बैठते हैं कि हमारी रचना होने के कारण, क्योंकि हम लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार हैं, हमारी 'बाँध बावनी' साहित्य की श्रीवृद्धि करेगी। यह समझना कि एक बार में दो नहीं तीन शिकार मारने की सुविधा है—धर्म, पुण्य, यश; एक साथ तीनों कमाने की हमारी भूल है। प्रचार और पत्रकारिता साहित्य नहीं है, भले ही वे साहित्य से निम्न कोटि की साधनाएँ न हों।

प्रचार प्रचार है, साहित्य साहित्य—पर ऐसा भी अनेक बार हुआ है कि प्रचार-मात्र प्रचार ही नहीं रहा, साहित्य के स्तर तक उठ गया है। मिल्टन ने 'एइरोपैजिटिका' की रचना अपने देश और समय के लिए की थी। उसके सामने एक उद्देश्य था—प्रकाशन पर लगाये गए प्रतिबन्धों को हटाने के लिए शासक-वर्ग को राज़ी कराना। फिर भी उसकी कृति अंग्रेजी साहित्य की बहुमूल्य निधि बन गई। टालस्टाय और बर्नार्ड शॉ के नाम, सोद्देश्य, प्रचारार्थ रचना करने वाले श्रेष्ठ साहित्यकारों की नामावली में, सादर रखे जाते हैं। इन उदाहरणों से यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि प्रचारार्थ लिखी गई चीज़ अनिवार्य रूप से साहित्य के स्तर तक उठ ही जायगी; इनसे केवल यही प्रमाणित होता है कि प्रचार के उद्देश्य से लिखी हुई चीज़ भी साहित्य के ऊँचे-से-ऊँचे स्तर तक पहुँच सकती है।

साहित्यकार सब समय लेखक ही रहता है, पर लेखक सब समय साहित्यकार नहीं हो पाता। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का एक छोटा-सा लेख पिछले दिनों 'नई धारा' में

प्रकाशित हुआ है, जिसका पहला वाक्य है : 'साहित्य के क्षेत्र में सभी लेखक साहित्यकार का गौरव नहीं पा सकते।' मैं बख्शीजी से पूर्णतया सहमत होता यदि वे इतना और जोड़ देते कि 'साहित्यकार स्वयं हर समय साहित्यकार नहीं रहता।' उसके हाथों खोदा हुआ कुआँ, कुआँ ही होगा, काव्य न हो जायगा।

और माखनलाल जी के अग्रलेख पत्रकारिता के नमूने हैं, कविताएँ साहित्य की कृतियाँ हैं। बड़े-से-बड़े साहित्यकार का प्रचार-कार्य प्रचार कार्य ही रहेगा—'बाँध बावनी' केवल इस कारण साहित्य न हो जायगी कि उसका रचयिता एक आधुनिक भूषण है। इसमें शर्म भी नहीं, गर्व की बात है कि हम ऐसी चीज़ के लिए प्रचार-कार्य कर रहे हैं जिसमें हमारी आस्था है—उसे 'साहित्य' की संज्ञा दिये बिना बेचैन रहना यही तो दिखाता है कि हमारे अन्तर्मन में उसके प्रति इतनी आस्था, इतना आदर नहीं है जिसका हमने प्रचार किया, कि हम, सबके सामने या अकेले में अपने-आपसे, यह स्वीकार करें कि "हमने यह रचना प्रचारार्थ की है, वह साहित्य के स्तर की हो या न हो, हमें इसकी चिन्ता नहीं है। हम इस समय अपने समाज के लिए प्रचार-कार्य ही उचित और कल्याणकर मानते हैं। 'भूखे भजन न होहि गुपाला।' भूख मिटाना हमारा काम है; भजन हमारे बाद की पीढ़ियाँ गायँगी।" यदि लेखक की अन्तर्वाणी उसे 'बाँध बावनी' लिखने की प्रेरणा दे रही है तो वह 'बाँध बावनी' की रचना अपना सहज कर्म मानकर करे—क्षण-भर को भी इसकी चिन्ता किये बिना कि यह प्रचार-कार्य माना जायगा, समाज में उसकी साहित्यिक प्रतिष्ठा घटेगी।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

: २ :

तो क्या हमारे समाज में लेखक का इतना ही दायित्व है कि वह अपना 'सहज कर्म' पहचाने और उसे करे? मैं निःसंकोच कहूँगा, "हाँ केवल इतना ही। आज भी यही उसका दायित्व है, कल भी यही था और भविष्य में भी यही रहेगा।" वर्ड्स्वर्थ ने कहा था—"उसके लिए यही सब-कुछ है कि वह अपनी स्थिति को स्वीकार करे, उसके प्रति सच्चा रहे। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'।"

फिर भी केवल इतना ही कहना काफ़ी नहीं है कि—क्योंकि इसका अर्थ यह लगा लिया जायगा कि साहित्यकार को देश-काल की सीमाओं के अस्तित्व को स्वीकार करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, पैरों के नीचे की भूमि और अपने चारों ओर के समाज के प्रति सच्चा होना तो दूर, उन्हें जानने की भी उसे कोई ज़रूरत नहीं है। एक समय था जब यही बहुतों की मान्यता थी, पर आज से बहुत पहले। आज हम विकास करते-करते जहाँ पहुँच गए हैं वहाँ यह मान्यता हमारे लिए निरर्थक है। हम व्यक्तित्व को एक विकसित पुष्प के रूप में समझने लगे हैं, जिस पुष्प के लिए वायु, सूर्य-रश्मि, टहनी, काँटे, जड़, उद्यान की भूमि, सभी का महत्त्व है, सभी उसके हैं और वह उनमें से प्रत्येक का है। पुष्प अनेक पंखुड़ियों के सह-अस्तित्व का परिणाम है, किसी एक के क्षत या अविकसित होने का दुष्प्रभाव उस पर पड़ता ही है। हम अनेक पंखुड़ियों के समानान्तर, जीवित चेतन पुष्प की तरह सामाजिक उद्यान

विकसते-मुरझाते हैं—प्रत्येक पंखुड़ी हमारी अपनी है, किसी एक का क्षत या अविकसित होना हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में कमी लाता है। हम साहित्यकार हैं, मनुष्य हैं, एक समाज के सदस्य हैं, एक देश के नागरिक हैं। हमारे सारे खंडशः विभक्त व्यक्तित्वों का सहज समातार हमारा सम्पूर्ण, विकसित व्यक्तित्व है। हम किसी के भी प्रति उदासीन होकर अपनी सम्पूर्णता के आदर्श से गिरेंगे, हमारा विकास अपूर्ण रह जायगा। और पूर्णतया विकसित होना हमारा सहज कर्म है, हमारा जीवन के प्रति सबसे बड़ा दायित्व है।

हम अपने उन दायित्वों के प्रति, जिन्हें हम अपने नागरिक या सामाजिक दायित्व कहते हैं, उदासीन होकर अपने ही विकास को रोकते हैं, अपने प्रति स्वयं शत्रुता करते हैं। आज का साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को अनेक खण्डशः विभक्त व्यक्तित्वों के संश्लेष के रूप में यदि नहीं देखता तो, चिन्तन के स्तर पर, वह आज के नहीं सदियों पुराने संसार में रह रहा है। यदि इस संश्लिष्ट रूप को पहचानता हैं तो वह यह भी जानता है कि वह मात्र साहित्य-कार है, न हो सकता है। वह परिवेश से तादात्म्य स्थापित करने और अपने अन्तस् की वाणी सुनने में कोई पारस्परिक विरोध नहीं देखता—जो विरोध उसे दीखता है वह अन्तर्मन के आदेश और बाह्य आचरण का विरोध ही होगा, परिवेश और अन्तर्मन के बीच कोई मौलिक विरोध न होगा। अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की पहचान अपने समस्त दायित्वों का स्वीकरण है। दूसरे शब्दों में राष्ट्र-निर्माण और आत्म-निर्माण में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, पर केवल एक के परिवेश में दायित्व-वहन की चेष्टा अपने ही सम्पूर्ण विकास को रोकने का अनिवार्य कारण होगी। साहित्यकार का कर्तव्य आज यह है कि वह परिवेश के प्रति, समाज के प्रति, समय की माँग के प्रति जागरूक हो; यह जाने और माने कि वह देश और काल से ऊपर, बाहर जा सकता है, पर इनसे बाहर रह नहीं सकता; यह समझ ले कि उसका प्रत्येक कार्य साहित्य-साधना न होगा, पर यदि वह दायित्व-निर्वाह का कार्य है तो उसके स्वीकरण से उसकी साहित्य-साधना में कमी न होगी। साहित्यकार के रूप में राष्ट्र-निर्माण में यही उसका दायित्व है, यही योग-दान। नागरिक के रूप में वह चाहे श्रम-दान करे, चाहे भूमि-दान; मात्र-लेखक के रूप में वह मनचाहा प्रचार करे—साहित्यकार के रूप में उसका दायित्व उस संश्लिष्ट व्यक्तित्व का सहज कर्म ही है जिसकी मैंने चर्चा की है। वह सहज कर्म समाज के प्रति समान रूप से दायित्व-निर्वाह का ही दूसरा नाम है :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्व्वमिदं ततम्।
स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

प्रो० ब्रजलाल वर्मा

नई कविता : एक प्रश्न

फ्रायड ने कहा कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे काम की प्रेरणा रहती है। यह पूर्ण रूप से सत्य हो या आंशिक रूप से, परन्तु यह भी सत्य है कि निखिल भुवन में प्रत्येक मनुष्य प्रतिष्ठा, महत्त्व और सम्मान का आकांक्षी है। यह तथ्य गम्भीर विचारकों की भाषा में इस रूप में आया कि संसार में मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे आत्म-सम्मान और आत्म-प्रतिष्ठा का भाव रहता है। इस प्रतिष्ठा और महत्त्व की उपलब्धि के लिए प्रयास सक्षम और अक्षम दोनों की ओर से होते हैं। सक्षम और अक्षम की प्रतियोगिता उक्त प्रयासों में चलती रहती है। अक्षम व्यक्ति समर्थ की पद्धति का अनुसरण करके प्रतिष्ठा का अधिकारी न हो सकने के कारण कोई नया और प्रतिरोधी मार्ग अपनाता है। परम्परा ने केवल उच्चकोटि के साधकों को ही प्रतिष्ठा का अधिकारी बनाया है। परम्परा का विघटन छोटे-बड़े सबको महत्त्वशाली बना देता है। कभी-कभी रूढ़ि-जर्जर परम्पराओं का उच्छेदन मानव के लिए वरदान बन जाता है, पर सामान्यतः परम्परा का विनाशन युग की विभूतिमत्ता को विनष्ट करने में ही सहायक होता है। हम परम्पराओं को मानव की युगानुगत साधना के सिद्ध निष्कर्ष मानते हैं, अतः निष्कर्षों का अव्याहत हनन भावी साधना को कभी प्रौढ़ नहीं बनने देता। नित्य नवीन का आराधन और पुरातन का मर्दन सत्य को एक आसन पर नहीं बैठने देता। यह विचार समाज की हर दिशा में सुविधा से घटित हो जाता है। क्या राजनीति, क्या समाज-शास्त्र, क्या दर्शन और क्या साहित्य, सर्वत्र इस विचार की प्रामाणिकता देखने को मिलती है। नये अथवा प्रतिरोधी सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रयत्न कभी केवल प्रतिष्ठा प्राप्त करने के निमित्त, कभी पुराने सिद्धान्त के अनुपयोगी हो जाने के कारण सभी क्षेत्रों में हुए हैं। यह भी ठीक ही है एकदम नई बात कहने वाले की ओर जन-दृष्टि तत्काल आकृष्ट होती है—उसकी चर्चा समाज में अधिक होने लगती है।

हमारे आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ठीक यही हुआ, कविता के क्षेत्र में विशेष रूप से। प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, नई कवितावादी बे-सिर-पैर के अनर्गल प्रसंगों की अवतारणा, अप्रचलित शब्दावली, स्वच्छन्द एवं विरस-शैली में करने लगे। पाठक न समझ पाया उनकी कविता को···वह कविता के दुरूह और दुर्ललित होने का उपालम्भ प्रस्तुत करने लगा। इन कवियों ने अपने काव्य की दुरूहता और दुर्लालित्य के निवारण के लिए दो बातें कहीं—जिनमें एक शिकायत थी, दूसरा आश्वासन।

१. पाठक, तुम्हारी समझ में फेर है, अपनी समझ दुरुस्त करो तब नई कविता समझ सकोगे।

२. नई कविता सुनने और समझने का अभ्यास नहीं हुआ, धैर्य धारण करो पाठक, कुछ समय पश्चात् सब समझ में आने लगेगा।

नये कवि की ओर से प्रस्तुत किये गए दोनों तर्क कच्चे एवं गदराए कवियों के पकने में सहायक बन गए। या यों कहिए कि दोनों में नये कवि के लिए पहला तर्क तलवार बन गया और दूसरा ढाल। इसी ढाल और तलवार से यह नई कविता का वीर समर जीता जा रहा है और बड़ा बनता जा रहा है। परन्तु, "कोई लेखक बहुत ही असम्बद्ध रचनाओं को प्रकाशित करके बड़ा नहीं बन सकता—हम हिन्दी के कुछ लेखकों को जानते हैं, जो विदेशी रचनाएँ पढ़ते हुए उनकी प्रतिक्रिया में कविताएँ लिखने बैठ जाते हैं—ऐसी रचनाओं में स्वतः एक प्रकार की नवीनता आ जाती है किन्तु ऐसी बहुत-सी रचनाएँ एक संगठित व्यक्तित्व को प्रतिफलित नहीं कर सकतीं और उनकी नवीनता कम संस्कृत पाठकों को ही रोचक लग सकती है।"[1] नई कविता के शूर सामन्त-महारथियों पर हमें पहले विचार करना चाहिए, अनुचरों पर बाद में; और इससे भी पहले नई कविता के सामान्य लक्षणों का उल्लेख भी कर देना चाहिए।

१. नई कविता के शीर्षस्थ नेता जिस कविता को नई कविता कह दें वही नई कविता है।

२. जहाँ कविता सछन्द न हो, स्वच्छन्द हो; वह नई कविता है।

३. जो कविता नई कविता के किसी संकलन में प्रकाशित हो वह नई कविता है।

४. जिसमें 'शब्द' में लय और तुक न हो प्रत्युत वर्ण-मात्र में ही लय और तुक हो वह नई कविता है अथवा यों कहें कि जिसमें शब्द-संगीत न होकर वर्ण-संगीत हो, वह नई कविता है।

५. जो भक्तिकालीन, रीतिकालीन तथा आधुनिक कालीन (विशेष रूप से छाया-वादी) काव्य-धारा के प्रतिरोधी स्वरूप में हो वह भी नई कविता है।

६. जिसमें मानव-हृदय के भावों व विचारों का तारतम्यपूर्ण नहीं, वरन् विकल एवं टूटा-टूटा वर्णन हो, आशय यह कि हृद्गत भावों का क्रम से वर्णन न हो, बीच-बीच में भावों को छोड़ दिया गया हो और रिक्त भाव-स्थान की पूर्ति पाठक को स्वयं करनी पड़े वह नई कविता है।

७. जिसमें पुराने शब्दों के नये अर्थ, पुराने अर्थों के लिए नये शब्द तथा नवीन अर्थ के लिए नव-निर्मित शब्दों का प्रयोग हो वह नई कविता है।

८. जिसमें फ्रायड के काम-शास्त्र की सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक और अडलर जुंग के व्यावहारिक नहीं, सैद्धान्तिक विचारों की व्याख्या हो वह नई कविता है।

९. जिसके ९० प्रतिशत आशय को पाठक समझ न पावे, वह १० प्रतिशत ही आशय पकड़ सके तथा जिसका आशय उसका रचयिता कवि ही ठीक-ठीक समझ सके वह नई कविता है।

१०. घिसे पिटे, सौन्दर्य-बोध, संचयन, मुलम्मा, परिवेश, चेतन, अवचेतन, उप-चेतन, मनःस्थित, पूर्वग्रह, बिम्ब, संवेदन, शिल्प, रूढ़ि, अर्थ-लय, प्रयोग, युगसत्य, कुण्ठा,

१. 'युग चेतना' पत्रिका जून १९५६ का सम्पादकीय, ले० श्री देवराज।

कथ्य, प्रक्रिया, संवेग, अरौंदी राह, अनगढ़ आदि शब्द नई कविता के शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। ये शब्द जहाँ आवें वहाँ नई कविता का कुछ-न-कुछ संसर्ग अवश्य होता है।

११. जिसमें उक्ति-वैचित्र्य के स्थान पर शब्द का प्रयोग-वैचित्र्य हो, बौद्धिक जटिलता हो, भाव का हृदय से कुछ भी सम्बन्ध न हो, बुद्धि ही सारा काम कर रही हो, वह नई कविता है।

१२. जिसमें प्राचीन रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण के सारे सिद्धान्त असिद्ध ठहरते हो अथवा वर्णन ऐसा हो कि रस-सिद्धान्त की सारी शास्त्रीयता असंगत प्रतीत होने लगे वह नई कविता है।

१३. अंग्रेज़ी की नई कविता के कवियों—जैसे टी० एस० इलियट, एजरापाउण्ड, ह्विटमैन प्रभृति कवियों की परम्परा और शैली की छाया जहाँ हों वह नई कविता है।

१४. नयी कविता के प्रचार तथा प्राचीन काव्य के धिक्कार में जहाँ कहीं कुछ मिल जाय वह नयी कविता है।

१५. युग का नहीं, सम्पूर्ण जीवन का नहीं, जीवन-खण्ड का नहीं, जहाँ केवल किसी 'क्षण' की या क्षणिक 'मूड' की अवतारणा हो वह भी नई कविता है।

इस प्रकार इन १५ सूत्रों को कण्ठस्थ कर लेने से पाठक यह जान लेगा कि यह नई कविता है अथवा नहीं, नई कविता समझते ही उसे अर्थ जानने की चेष्टा न करनी होगी। क्योंकि वह सहज ही में समझ लेगा कि नई कविता का अर्थ पाठक के लिए कुछ होता ही नहीं या वह उसे समझ में नहीं आ सकता, लिखने वाले कवि के लिए कुछ भले ही होता हो। उपर्युक्त 'पंचदशी' पाठक के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध होगी।

नई कविता की एक विशेषता और है जिसका उद्‌घाटन अब तक हमने नहीं किया। नई कविता का कवि काव्य-प्रणेता और अपनी कविता का स्वयं आलोचक भी होता है। नई कविता के कवियों में शायद ही कोई ऐसा कवि हो जो स्वयं अपना आलोचक न हो; अंग्रेज़ी नई कविता के कवि बचते-बचते भी कहीं-कहीं नई कविता का सिद्धान्त-निरूपण करने में खुल गए हैं। उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि अन्य कोई माने या न माने, मैं तो ऐसी ही कविता चाहता हूँ मुझे यही पसन्द है।[1] उन्होंने अपनी पसन्दगी को पाठकों की रुचि पर लाद दिया। पाठकों में नई रुचियाँ उत्पन्न करने की साध जो इन कवियों की थी। हिन्दी

१. The Background of Modern Poetry, J. Isaac, P. 33

फरवरी १९१२ में प्रकाशित श्री हेराल्ड मुनरो के Poetry Review में Ezra Pound ने लिखा—

"As to twentieth century, the poetry which I expect to see written during the next decade or so, it will, I think move against poppy cock, it will be as.........."nearer the bone". It will be as much like granite as it can be; its force will be in its truth......it will not try to seem forcible by rhetorical din and luxurious riot. We will have fewer painted adjectives impeding the stroke and shock of it. Atleast for myself, *I want it* so austere, direct, free from emotional slither."

नई कविता की भी यही कहानी है। हिन्दी के नये कवि भी अपनी रुचि को, अपने ज्ञान को, सर्वोपरि रखते हैं।

नये कवि अर्थ की सम्यक् निष्पत्ति में व्यर्थ की तुकबन्दी को कुछ भी स्थान नहीं देना चाहते। यदि मैथिलीशरण गुप्त की यह रचना नये कवि अथवा नई कविता के किसी समीक्षक के समक्ष रख दी जाय तो निश्चय ही वह उसे सौ बार धिक्कारेगा :

आ मित्र चक्षु के दृष्टि लाभ
ला हृदय-विजय रस-वृष्टि लाभ
पा हे, स्वराज्य बढ़ सृष्टि लाभ
जा दण्ड-भेद जा साम-दाम
ओ क्षण भंगुर भव राम राम[1]

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इन पंक्तियों में कवि ने तुकबन्दी की सीमा का अतिक्रमण कर दिया है। प्रत्येक पंक्ति के प्रारम्भ में तुकबद्ध शब्दों की योजना है, जैसे आ, ला, पा, और जा; प्रत्येक पंक्ति के अन्त में लाभ तथा अन्तिम शब्दों से पहले भी अनुप्रास की विचित्र योजना की गई है, उदाहरणार्थ दृष्टि, वृष्टि, सृष्टि। यह तो थी पुरानी घिसे-पिटे शब्दों वाली रूढ़िजर्जर कविता, किन्तु नई कविता की ओर भी आइए, इसी के संसर्ग में उसकी भी एक झलक देखिए। नई कविता के आद्याचार्य श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन के एक रचना-खण्ड पर दृष्टि डालिए :

कुछ नये कुछ पुराने मिले,
कुछ अपने कुछ बिराने मिले,
कुछ दिखावे कुछ बहाने मिले,
कुछ अकड़ कुछ मुँह चुराने मिले।[2]

इन पंक्तियों में तुकबन्दी, पाद-पूर्ति में श्री अज्ञेय ने गुप्तजी से सफल होड़ ले ली। कुछ-कुछ-कुछ-कुछ के साथ पुराने मिले, बिराने मिले, बहाने मिले, चुराने मिले शब्दावली में कितना नाद-सौन्दर्य है। नाद-सौन्दर्य ने अर्थ-सौन्दर्य का कठोरता पूर्वक ग्रीवा-मर्दन किया है। गुप्तजी की कविता में हमने किसी प्रकार के सौन्दर्य की खोज नहीं की, क्योंकि वह पुरानी थी। परन्तु अज्ञेय जी की इन पंक्तियों में कोई-न-कोई सौन्दर्य तो खोजना ही पड़ेगा; क्योंकि नई हैं! तुकबन्दी में श्री अज्ञेय ने गुप्तजी को इसी रचना के अन्त में मत दे दी। उन्होंने लिखा :

कुछ पड़े मिले
कुछ खड़े मिले
कुछ झड़े मिले
कुछ सड़े मिले[3]

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' कृति से।
२. 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' श्री अज्ञेय की कविताओं के संकलन की 'सत्य तो बहुत मिले' शीर्षक रचना से।
३. वही पुस्तक।

इन पंक्तियों में एक शब्द तुक से पृथक् नहीं है। अब पाठक स्वयं विचार करें कि कविता का वास्तविक मापदण्ड क्या है या फिर नई कविता अप्रमेय है ? जिस तुकबन्दी के कारण हम गुप्तजी की कविता को लांछित करते हैं तुकबन्दी का उससे गुरुतर भार अज्ञेय की इन पंक्तियों में है। फिर इसमें नवीन क्या है, नया क्या है, यह समझ में नहीं आता। अंग्रेजी के कवियों के समानान्तर श्री अज्ञेय ने अपने कवि का परिचय देते हुए 'मैं वहाँ हूँ' शीर्षक रचना में लिखा है :

यह जो गदहे हाँकता हूँ
यह जो तन्दूर झोंकता हूँ
यह जो कीचड़ उलीचती है
यह जो मनियार सजाती है
यह जो कन्धे पर चूड़ियों की पोटली लिये गली-गली झाँकती है
यह जो दूसरों का उतारन फीचती है
यह जो रद्दी बटोरता है।
यह जो पापड़ बेलता है बीड़ी लपेटता है वर्क कूटता है
धोंकनी फूँकता है कलई गलाता है रेड़ी ठेलता है
चौके लीपता है बासन माँजता है ईंटें उछालता है
रुई धुनता है गारा सानता है खटिया बुनता है
मशक से सड़क सींचता है
रिक्शा में अपना प्रतिरूप लादे खींचता है
जो भी वहाँ पिसता है
पर हारता है नहीं न मरता है[1]

इस कविता की एक विशेषता हम मान सकते हैं कि कवि समाज के जिन पद्दलित अंगों को अपनी कविता का विषय बनाना चाहता है उन अंगों की पूरी तालिका ही कवि ने प्रस्तुत कर दी है, कुछ अंग फिर भी रह गए। जैसे 'जो छुज्जे पर बैठती है, जो टट्टी साफ करती है, जो सन्ध्या में तेल मालिश करता है' आदि। हम प्रश्न करेंगे यह कविता है। श्री अज्ञेय की 'रेंक' शीर्षक एक दूसरी रचना है, एक नमूना उसका भी देखिए :

रेंक रे रेंक गधे
कुटिया के पीछे का
आंगन डेढ़ बित्ते का
छेंक ले छेंक गधे
फेंक रे फेंक गधे[2]

इन पंक्तियों में गधे से रेंकने के लिए जो विनय कवि ने की है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को ध्यान आया। प्रायः हम कोयल को कूकने को प्रेरित करने के लिए स्वयं कूकने लगते हैं, कुत्ते को भुँकवाने के लिए स्वयं भूँकने लगते हैं, कदाचित् उसी

१. 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' श्री अज्ञेय-कृत संकलन की 'मैं वहाँ हूँ' शीर्षक रचना।
२. वही संकलन।

भाव-प्रवणता में हो सकता है श्री अज्ञेय का कवि भी गधे को रेंकवाने के लिए स्वयं ही पहले रेंकने लगता है।

नई कविता का प्रत्येक कवि रीतिकालीन कवि की भाँति नई कविता के सम्बन्ध में एक लक्षण रचना प्रचारार्थ अवश्य लिखता है।

श्री अज्ञेय भी इस दृष्टि से पुण्य-भाजन बने। उनकी एक रचना का शीर्षक 'नई कविता : एक सामान्य भूमिका' है, उसका खण्ड है :

आपका जो गांधियन सत्य है
उसको क्या यही साठ-आठ वर्ष पहले
गांधी पहचानते थे ?
तुलना नहीं है। हमको चर्राया नहीं
शौक मसीहाई का
आज के निखिल अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें आत्मसात कर लें

नया कवि अतीत के आश्वासनों पर जी रहा है, उसका वर्तमान जब अतीत बन जायगा तो उसकी भी पूजा होगी—इस विचार में उसकी निष्ठा है। पाठकों को एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम यहाँ पर उस कवि की निदर्शना प्रस्तुत कर रहे हैं जिसने साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'कैंटेम्पोररी इण्डियन लिटिरेचर' नामक ग्रन्थ में, जिसमें १५ भाषाओं के साहित्यिक विकास की गतिविधि पर पृथक्-पृथक् एक स्वतन्त्र निबन्ध दिया गया है, संयोग से हिन्दी के सम्बन्ध में स्वयं ही निबन्ध लिखा है। उस निबन्ध का लेखक एस० एच० वात्स्यायन नाम के प्रच्छन्न 'अज्ञेय' हैं उसमें उन्होंने हिन्दी के कई अधिकारी कवियों को तोड़ा है, कई अनधिकारी कवियों को जोड़ा है और अपने सम्बन्ध में आत्मस्तवन के लिए विचारों को दूर तक मोड़ा है। हम श्री अज्ञेय की 'हमने पौधों से कहा' शीर्षक एक रचना के इस खण्ड को पूरी तरह नहीं समझ सके :

बन्धु हमें काव्य दो
सुन्दर दो शिव दो सार सत्य दो
किन्तु किन्तु किन्तु
किन्तु किन्तु किन्तु
किन्तु किन्तु किन्तु
किन्तु किन्तु किन्तु

हमने कवि से कहा

यहाँ पर १२ बार प्रयुक्त 'किन्तु' का अर्थ हम नहीं समझ सके हम पुनः प्रश्न करते हैं—यही नई कविता है ?

दूसरे कवि श्री दुष्यन्त कुमार हैं जिनका 'सूर्य का स्वागत' संकलन प्रकाशित हुआ है। इस संकलन में हम श्री दुष्यन्त कुमार को बिम्बवादी की अपेक्षा प्रतीकवादी ही अधिक पाते हैं। प्रतीकों का प्रयोग नई कविता की चित्रण-भूमि से बाहर की वस्तु है। यहाँ तो बिम्ब और अभिनव उपमान ही अपेक्षित हैं। कवि ने 'सूर्य के स्वागत' में प्रतीकों के माध्यम

से नई कविता और नये कवि का पर्याप्त उद्बोधन किया है। कहना चाहिए इन्होंने भी नई कविता पर प्रचारोक्तियाँ लिखी हैं।

इन्होंने भी नई कविता पर प्रचारोक्तियाँ लिखी हैं :

मुझ पर हर ओर से चोटें पड़ रही हैं
कोपलें उग रही हैं
पत्तियां झड़ रही हैं

यहाँ कोंपलें नवोदित नये कवियों का प्रतीक हैं। पत्तियाँ प्राचीन परम्परा के कवियों का प्रतीक हैं। इतना ही नहीं कवि ने प्रतीकों की झड़ी लगा दी है।

अगर इस लड़ाई में मेरी सांसें उखड़ गईं,
मेरे बाजू टूट गए,
मेरे चरणों में आँधियों के समूह ठहर गए
मेरे अधरों पर तरंगाकुल संगीत जम गया
या मेरे माथे पर शर्म की लकीरें खिंच गईं
तो मुझे पराजित मत मानना
मेरी प्रगति या अगति का
यह मापदण्ड बदलो तुम
मैं अभी अनिश्चित हूँ[1]

इस कविता में नये कवि का संघर्ष-मग्न स्वरूप चित्रित किया गया है और यह बताया गया है कि नई कविता अभी अपनी निर्माण अवस्था में है, उसके सम्बन्ध में अभी कुछ निश्चयात्मक रूप से कहना उचित नहीं। उक्त खण्ड में आये हुए उपमानों को हम प्रतीक की ही कोटि में रखेंगे। हो सकता है कि भ्रमवश नये कवि इन्हें बिम्ब मानें। इस कविता में कवित्व है इसलिए कि भाव-धारा परम्परा-ग्रस्त है परम्परा-मुक्त नहीं; इसलिए कि यह कविता है इसलिए नहीं कि यह नई है। इसी प्रकार :

प्रसव काल है
सघन वेदना
मनकी चट्टानो कुछ खिसको[2]

में प्रसव को नई कविता की संघर्ष-प्रसूत आविर्भावकालीन वेदना का प्रतीक बनाया गया है परन्तु इन सभी रचनाओं को नई कविता का प्रचार-विज्ञापन ही मानना पड़ेगा। आगे देखिए :

हाँ जिस दिन पिंजड़े की
सलाखें मोड़ लूँगा मैं
उस दिन सहर्ष
जीर्ण देह छोड़ दूँगा मैं[3]

१. 'सूर्य का स्वागत' की 'मापदण्ड' शीर्षक रचना से।
२. वही, ले० दुष्यन्त कुमार, 'कुंठा' नामक रचना से।
३. वही, 'पुस्तक', 'क़ैदी परिन्दे का बयान' शीर्षक रचना से।

इन पंक्तियों में भी कैदी परिन्दे को परम्परा-ग्रस्त कविता का प्रतीक मानकर तथा सम्भाव्य-मुक्त परिन्दे को नई कविता का संकेतात्मक प्रतीक माना गया है। दुष्यन्तकुमार के शब्द बेचारे इन शब्दों में रो रहे हैं :

थके हुए हम
बिखरे-बिखरे क्षीण हो गए हम
कई परत आ गई धूलि की
धुँधला-सा अस्तित्व पड़ गया
संज्ञाएँ खो चुके

एक तीसरे कवि श्री कुँवर नारायण हैं जिनका 'चक्रव्यूह' नामक रचना-संकलन प्रकाशित हुआ है। स्थानाभाव-वश हम इनकी रचनाओं की समीक्षा तो न कर सकेंगे, पर संक्षेप में इतना अवश्य कहेंगे कि इनकी रचनाओं के शीर्षकों और रचना में प्रस्तुत भाव में कोई संगति या अनुरूपता नहीं है, शब्द के साथ 'अन' जोड़कर विलोमार्थक शब्द गढ़ देने के ये अच्छे अभ्यासी हैं उदाहरणार्थ 'अनभूला', 'अनमना', 'अनपूरा', 'अनथही' इस कवि की रचनाओं में कोई सार्थकता हो या न हो, पुस्तक के नाम 'चक्रव्यूह' में अवश्य सार्थकता है, साहित्य के और भाषा के बड़े-बड़े अभिमन्यु, कवि के इस 'चक्रव्यूह' से लौटने की बात तो दूर रही उसमें प्रवेश भी न पा सकेंगे, श्री कुँवरनारायण अपनी प्रत्येक रचना के शीर्षक सजाने में अतिशय सावधान रहते हैं, प्रत्येक शीर्षक में वे भाव-वैचित्र्य का संयोजन करने लगते हैं चाहे रचना के मूल भाव से उसका कोई सम्बन्ध हो या न हो।

हमें यह मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार रीतिकालीन काव्य-धारा की प्रतिक्रिया में छायावाद और स्वच्छन्दतावाद आया ठीक उसी प्रकार छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रयोगवाद और नई कविता आई, प्रतिक्रिया का दर्शन सदैव अस्वस्थ और अपूर्ण होता है। प्रयोगवादी कविता ने छायावादी काव्य की शैली का बहिष्कार किया, सौन्दर्य-चेतना, वर्ण्य-विषय आदि सभी का विरोध किया, प्रयोगवादी काव्य के यथार्थ ने आदर्श को आपादमस्तक रौंद डाला, कहाँ तक कहें सौंदर्य के मानदण्डों का आमूलपरिवर्तन कर डालने की ठान ली, सन्देह नहीं प्रतिक्रियाओं की शृंखला में बँधकर कविता का मार्दव नष्ट हो गया, वह रूखी-रूखी कठोर-काय होकर हमारे समक्ष आने लगी, रसों में वीभत्स और अद्भुत को अधिक प्रश्रय मिला, करुणा और विप्रलम्भ शृंगार यदि आए भी तो विकृत होकर।

कविता की ऐसी ही दुर्गति देखकर दुःख-दग्ध होकर एक बार फ्लेचर महोदय ने गुप्त रूप से 'मिस अमी लावेल' को लिखा था : मैं नहीं चाहता कि कविता में बिम्ब प्रस्तुत किये जाँय, मेरा विचार है कि उसमें भावना प्रस्तुत की जाय। मैं स्पष्ट कठोर और निश्चयात्मक चित्रण पर विश्वास नहीं करता, मैं संश्लिष्ट अथवा सरस चित्रण में विश्वास करता हूँ मैं वर्ण्य-विषय के निर्वाचन में भी स्वच्छन्दता का पक्षपाती नहीं हूँ, मेरा विश्वास है कि (चुनाव) शब्द का अर्थ ही है स्वतन्त्रता का अभाव।

मेरा लय में नहीं तुक में विश्वास है, मेरी बाह्य में अनुरक्ति नहीं अतः मैं बिम्ब को नहीं स्वीकार कर सकता, मैं तुकवादी हूँ, प्रतीकवादी हूँ, बिम्बविधानवादी नहीं।[1] नई कविता

१. 'Imagism' P. 180, Stanley K. Coffman. Jr.

के प्राण और कलेवर देखकर कविता-प्रेमियों को मि० फ्लेचर[१] की भाँति निराशा होती है। इसी तथ्य के प्रसंग में एक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी की आधुनिक काव्य-धारा पर अंग्रेजी कविता की आधुनिक प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव है, शैली में विशेष रूप से। अंग्रेजी कविता के 'वाद' हिन्दी कविता के 'विवाद' बनते गए। वहाँ का रोमांटिसिज़्म यहाँ का स्वच्छन्दतावाद, वहाँ का सिम्बालिज़्म यहाँ का प्रतीकवाद, वहाँ का इमेजिज़्म यहाँ का बिम्बविधानवाद, वहाँ का आइडियलिज्म यहाँ का आदर्शवाद, वहाँ का रियलिज़्म यहाँ का यथार्थवाद, वहाँ का सररियलिज्म यहाँ का अति-यथार्थवाद बन गया। आधुनिक हिन्दी-काव्य के मूल में अनुकरणवाद की प्रधानता ही लक्षित होती है, यह किसी भी स्वतन्त्र जाति के साहित्य के लिए नितान्त घातक है। यहाँ के संस्कृत-काव्य में दूसरे साहित्यों का प्रभाव भले ही दृष्टिगोचर होता हो अनुकरण वहाँ लेश-मात्र भी नहीं है, प्रभाव और अनुकरण दो पृथक् वस्तुएँ हैं, एक के द्वारा जीवन मिलता है दूसरे द्वारा जीवनापहरण होता है। प्रभाव तो गति और दिशा देता है अनुकरण जड़ और पंगु बना देता है। नई कविता को क्या हम कुछ भाषा-बुद्ध जनों की शब्द-क्रीड़ा और बुद्धि-विलास-मात्र न मानें ? हमारे जीवन से इस नई कविता का क्या सम्बन्ध है। भाषा को यह नई कविता क्या कुछ भी समृद्ध बना रही है। क्या हमारी भाषा की समृद्धि को दैन्य और दरिद्रता में यह नहीं बदल रही ? क्या यह नई कविता आलोचक 'टले' के शब्दों में किसी प्रकार भी हमारी जीवन-सहचरी बन रही है। क्या उसमें कुछ भी प्राणदायिनी प्रेरणोत्पादक शक्ति है ?[२] अंग्रेज़ी के कवि श्री टी० एस० इलियट की कविता का मूल्य है। परन्तु वे भी कविता के जिस साधारणीकरण की बात कहते हैं, हिन्दी की नई कविता उससे भी हीन एवं असंपृक्त है। इलियट द्वारा प्रतिपादित वह शाश्वत, सार्वत्रिक एवं सार्वजनीन तत्त्व हिन्दी की नई कविता में कहाँ प्राप्त हो पाता है ?[३] इलियट महोदय ने अंग्रेज़ी नई कविता

१. A private letter to Miss Amy Lowell by John Gould Fleteher : "I do not believe that a poem should present an 'Image'. I believe it should present an emotion. I do not believe in 'clear hard and definite presentation.' I believe in a complete that is to say shifting and fluid presentation. I do not believe in 'absolute freedom in choice of subject'. I believe that the very word 'choice' means lack of freedom. If one chooses, one had certain standards whereby one chooses. I do not believe that the exact word is possible. I do not believe in cadence but in rhythm (a different thing altogether). I do not believe in externality. Therefore I do not accept imagism. I am a rhythmist or a symbolist but not the imagist."

२. The use of Poetry and the use of Criticism, P. 54, T. S. Eliot.

Tully says that poetry, "nourisheth, instructeth our youth; delights our age ; adorns our prosperity; comforts our adversity ; travails with us; watches; divides the time of our earnest and sports shares; in our country; recesses and recreations in so much as the wisest and best learned have thought her the absolute mistress of manners and nearest of kin to virtue."

३. From the same book, P. 141.

"No two readers perhaps will go to poetry with quite the same demands. Amongst all these demands from poetry and responses to it, there is always some permanent element in common."

के भाव क्लिष्ट होने तथा दुरूह होने के चार कारण प्रस्तुत किये हैं :

१. वैयक्तिक कारण जो कवि की आत्मानुभूति को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करने में बाधक होते हैं यद्यपि यह दुःख का कारण है।

२. कविता के नव्य होने के कारण।

३. पाठक के मन में अकस्मात् यह भाव उपस्थित होने के कारण कि कविता अब दुरूह सिद्ध होने जा रही है।

४. कवि या लेखक द्वारा, वर्णन में उस वस्तु के दौड़ जाने के कारण जिस पर पाठक की आस्था होती है तथा जिसकी खोज करने के बाद भी वस्तु के न मिलने पर पाठक को निराशा होती है।

इलियट द्वारा दिये गए चारों कारण उचित हैं परन्तु इन कारणों में पाठक को ही अधिक उत्तरदायी बनाया गया है कवि को कम। हमारे विचार से इन कारणों में कुछ संशोधन की गुञ्जायश है। जहाँ हिन्दी के नये कवियों का प्रश्न है उनके लिए कुछ नये कारणों की उद्भावना भी करनी पड़ेगी इनके लिए तो प्रारम्भ में दिया गया कारण 'महत्त्व-लोलुपता' के लिए अतिशय नवीन बात कहना जिसे पाठक समझे या न समझे भी एक प्रमुख कारण हो जाता है, परन्तु पाठकों को श्री प्रभाकर माचवे की यह सूचना अतीव आश्वासनदायिनी सिद्ध होगी, "मगर हिन्दी के समझदार पाठक अब धीरे-धीरे सुबुद्ध और विवेकवान हो रहे हैं। वे इस तरह के डण्डे के बल से हाँके जाने लायक अपने-आपको भेड़ या गरीब गउवें नहीं समझते।"[1] इसका अर्थ क्या हम यह समझें कि पाठक अब प्रमत्त कवि-गजों को मनचाही दिशा में मोड़ने वाले और क्षण-मात्र में धराशायी कर देने वाले पराक्रमी शार्दूल बन गए हैं? नई कविता के एक-दूसरे हिमायती-कवि और आलोचक दोनों—डॉ० धर्मवीर भारती का कथन है कि "जब कलाकार अपनी अन्तःप्रेरणा का सामना नहीं कर पाता, जो कृति उसमें से उद्भूत होना चाहती है उससे वह बाहर की ओर भागता है। कुछ आरोपित धारणाएँ स्वीकार करता है चाहे वह आर्थिक प्रलोभन के कारण हो या राजनीतिक दबाव के कारण या सस्ती लोकप्रियता के लोभ के कारण—उस समय वह अपनी अन्तःप्रेरणा से पलायन करता है। उससे विच्छिन्न हो जाता है। फलस्वरूप उसकी कृतियाँ झूठी पड़ने लगती हैं और उनका कलात्मक स्तर समाप्त हो जाता है।"[2] श्री भारती की यह धारणा शत प्रतिशत नई कविता के साथ लागू हो जाती है। हाँ, यहाँ एक बात टूट गई है कि किशोर नये कवि समाज में कवि रूप में प्रतिष्ठित होने के लोभ से भी बे-सिर-पैर की कविता लिखने लगते हैं। डॉ० जगदीश नई कविता का पक्ष-पोषण करने में नई कविता के विरोधियों को अत्यन्त कवित्वपूर्ण शैली में फटकारते हैं, वे कहते हैं "वस्तुतः विरोधी पक्ष को जब अपने सारे तर्क झूठे पड़ते दिखाई दे रहे हैं तो वह इसी 'सींक के बाण को' मन्त्र पढ़कर ब्रह्मास्त्र बनाने के लिए कटिबद्ध हो रहा

---

१. **'नई कविता' अंक ३ सन् १९५६ में प्रकाशित 'भारतीय भाषाओं में नयी कविता : कुछ नोट्स' शीर्षक निबंध, ले० श्री प्रभाकर माचवे।**

२. **'आधार' पत्रिका 'नयी कविता विशेषांक, पृष्ठ ७४; 'काव्य सृजन' निबन्ध ले० धर्मवीर भारती।**

है।"[१] हमें दुःख है कि हमें डॉ० जगदीश को यह भी बताना पड़ रहा है कि ब्रह्मास्त्र सींक के बाण से भी छोटा था, उसकी विशेषता आकार की विशालता नहीं थी। अमोघ शक्ति ही उसका प्राण थी। हम यहाँ यह सम्मति देंगे कि सींक या सींक से भी छोटे आयुधों से सदैव बचना चाहिए। नई कविता का विरोधी कोई नहीं है। इन तथाकथित नये कवियों के बुद्धि-विक्षेप का विरोधी प्रत्येक साहित्यिक मर्मज्ञ होगा। नये कवि और जो आलोचक भी हैं प्रायः इन दिनों संस्कृत के उद्धरणों का बड़ा आश्रय लेते हैं।[२] अपने मतों की पुष्टि में काव्य-मीमांसाकार राजशेखर, काव्य-प्रकाशकार मम्मट, ध्वन्यालोक-प्रणेता आनन्दवर्द्धन तक के निष्कर्षों और मान्यताओं को जुटाने में नहीं हिचकिचाते। हमें आश्चर्य होता है यह देखकर कि एक ओर तो इन नये कवियों की दृष्टि में जो भी परम्परागत है, वह रूढ़ है, जर्जर है फिर इन आचार्यों के विचार उन्हें क्योंकर नये ताज़े प्रतीत होते हैं और मन भा जाते हैं।

अब हम अपने उसी भाव-केन्द्र को लौटेंगे जहाँ से हमने नई कविता पर अपनी विचार-यात्रा प्रारम्भ की थी, हमने प्रारम्भ में कहा था मिथ्या प्रतिष्ठा और सम्मान का मोह इन नौसिखिए तरुण कवियों को रचना प्रतियोगिता में असंयत और चंचल बना रहा है, हम तो नये कवि से कहेंगे कि मानव की मूल सौंदर्य-बोध-वृत्तियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें बदलने का प्रयास व्यर्थ रहेगा, मानव-हृदय की चेतना को ऊर्ध्वस्वित करने वाले तत्वों का कविता में समावेश होता रहे तो कविता रहेगी अन्यथा एक बुद्धिविलास-मात्र होकर वह अपना स्वाभाविक स्वरूप खो बैठेगी। हम कविता के स्वरूप-निर्माण के लिए एक खण्ड वह प्रस्तुत करेंगे जिसे नये कवि रूढ़ तथा जर्जर मानते हैं और दूसरा खण्ड नई कविता से देंगे जिसे नये कवि वस्तुतः कविता मानते हैं। पाठक दोनों रचना-सौन्दर्य में स्वयं अन्तर आँकें और निष्कर्ष प्राप्त करें :

गतेऽर्द्धं रात्रे परिमन्द मन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषिकाल मेघाः ।
अपश्यती वत्समिवेन्दु बिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुंकरोति ॥[३]

अर्द्धरात्रि के बीत जाने पर वर्षाकाल में जो मेघ गरज रहे हैं वे मेघ नहीं हैं प्रत्युत वह रात्रि-रूपी गऊ है जो अपने इन्दु-वत्स को न देखकर हुंकड़ रही है, हेतूत्प्रेक्षा का कैसा प्रभावोत्पादक एवं रोचक उदाहरण है। साथ-ही-साथ वस्तु-विषय भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो गया है। आधी रात है, वर्षा काल है, अन्धकार है, बादल गरज रहे हैं, आकाश मेघाच्छन्न है। चन्द्रमा अदृश्य हो गया है।

नई कविता देखिए :

माना इस बस्ती में धुआँ है,
खाई है,
खन्दक है,

१. नई कविता, अंक ३, १९५६ 'अर्थ की लय' नामक निबन्ध, ले० डॉ० जगदीश गुप्त।
२. नई कविता, अंक १, सन् १९५४ में 'नई कविता नई अभिरुचि' शीर्षक निबन्ध "राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में ऐसे अपवादी 'निरंकुश' लोगों की ओर तीव्र कटाक्ष किया है।" ले० डॉ० जगदीश गुप्त।
३. वैयाकरण महर्षि पाणिनि विरचित अप्राप्य कृति 'जाम्बवती विजय नाटक' से।

कुआ है,
पर जाने क्यों ?[1]

होइए रसमग्न इन पंक्तियों में ! कवि ने मानो अपने और पाठक के डूब मरने के लिए खाई, खन्दक और कुआँ सभी-कुछ खोद डाला है । गीतकार से हमारा निवेदन है कि अपने मधुर स्वर एवं गीतों द्वारा इन खाई-खन्दकों को पाट दें और नये कवियों की रचनाओं में यदि हृदय को कुछ भी न मिल रहा हो तो पण्डितराज जगन्नाथ के स्वर में साहस के साथ कह दें :

निर्माणे यदि मार्मिकोसि नितरामत्यन्त पाकद्रव—
न्मृद्वीकामधुमाधुरी मद परि हारो क्षुराणां गिराम्,
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशाम्
नोचेद् दुष्कृत मात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथा:

हे सखे, यदि तुम्हारे काव्य में कुछ भी मार्मिकता है तो उसे मेरे समक्ष आनन्दपूर्वक कहो अन्यथा अपने पापों की भाँति ही इसे अन्तःकरण में ही रहने दो बाहर मत करो, किन्तु "हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, बृहत-से-बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिए खुलते जाते हैं उनके भीतर के नाना रमणीय और अद्‌भुत रूपों और व्यापारों का जो सर्व साधारण को प्रत्यक्ष नहीं है, काव्य में उपयोग करके उसके क्षेत्र का विस्तार न किया जाय । "[2]



१. नई कविता ।
२. 'भ्रमर गीत सार', आ० रामचन्द्र शुक्ल ।

डॉ० रामानन्द तिवारी

सौन्दर्य का रूप, भाव और तत्त्व

सामान्य व्यवहार और साहित्य दोनों में सौन्दर्य का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में होता है। सौन्दर्य को हम वस्तुओं का गुण मानते हैं और उन्हें सुन्दर कहते हैं। वस्तुओं को ही नहीं, हम व्यापार और व्यञ्जना के रूपों को भी सुन्दर कहते हैं। भावों के लिए भी सुन्दर का प्रयोग होता है। कला और काव्यों की कृतियों को तो सुन्दर कहा ही जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सौन्दर्य वस्तु का गुण है, मन का भाव है अथवा व्यञ्जना का रूप है ? यदि तीनों के ही सम्बन्ध में सौन्दर्य का प्रयोग उचित है तो यह विचार करना होगा कि सौन्दर्य की कल्पना में इनका क्या स्थान है ? वस्तुओं का सौन्दर्य इतना प्रसिद्ध तथ्य है कि उसका खण्डन करना मनुष्य की सामान्य धारणा के विपरीत चलना है। मनुष्य की सामान्य धारणाएँ होने के कारण ही सत्य वे नहीं है। सामान्य होते हुए भी वे गलत हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में इस तथ्य की व्याख्या करनी होगी कि गलत होते हुए भी वे धारणाएँ इतनी मान्य और प्रसिद्ध कैसे हो जाती हैं ? एक प्रचलित भ्रान्ति की व्याख्या उतनी ही आवश्यक है जितनी कि एक सत्य की स्थापना।

सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास में भाव, रूप और तत्त्व तीनों में ही सौन्दर्य का अनुसन्धान हुआ है। ग्रीक विचारकों ने वस्तुओं के बाह्य रूपों में सौन्दर्य का अन्वेषण किया। सामान्यतः वे अनेकता में एकता को सौन्दर्य का मूल सूत्र मानते रहे। अनेकता में एकता की व्यवस्था सामञ्जस्य, सन्तुलन, लय आदि के अनुसार होती है। अतः ये सौन्दर्य के वस्तुगत लक्षण हैं। कला के सम्बन्ध में इन रूपों की चर्चा प्रायः की जाती है और इन्हें महत्त्व दिया जाता है। चित्र-कला, मूर्ति-कला, संगीत आदि के शिक्षण और आलोचन में इन रूपों का प्रयोग सौन्दर्य के मानदण्ड के रूपों में होता है। चित्र-कला में रेखाओं और रंगों की योजना में तथा संगीत में स्वरों की योजना में सामञ्जस्य, सन्तुलन, लय आदि विशेषताओं का निदर्शन करके सौन्दर्य की व्याख्या की जाती है। यदि इन सब लक्षणों से सौन्दर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है तब तो कला के अधिकांश आलोचक भ्रान्ति में हैं। ऐसा कहना दुस्साहस प्रतीत होता है, यद्यपि कुछ विद्वानों के मत में ऐसी धारणाएँ भ्रान्त ही हैं। अनुभूतिवादी मत सौन्दर्य को चेतना का भाव मानते हैं। कोई भी वस्तुगत रूप उसका विधायक नहीं है। चेतना का सौन्दर्य भाव किसी भी वस्तु को सुन्दर बना देता है। उनके मत में सौन्दर्य चेतना का भाव है, वस्तुओं का गुण नहीं। इस अनुभूतिवादी मत में भी कुछ सत्य हो सकता है, किन्तु वस्तुओं के रूप में सौन्दर्य की सामान्य धारणा पूर्णतः भ्रान्तिमय हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। वस्तुओं के कुछ गुणों में, रेखाओं, रंगों और स्वर की कुछ योजनाओं में कुछ विशेषताएँ

अवश्य होती हैं जिनके कारण वे सामान्यतः सभी को सुन्दर प्रतीत होती हैं। चन्द्रमा, पुष्प, सूर्योदय, इन्द्रधनुष आदि सभी को सुन्दर लगते हैं। संगीत की राग-रागिनियाँ, स्वरों की वस्तुगत और सामान्य योजना के आधार पर बनी हैं। वस्तुओं के दृश्य गुणों के कान्ति, रंग, समानुपात आदि प्रायः सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। स्वरों के आरोह और अवरोह की लय संगीत में सौन्दर्य का विधान करती है। प्राचीन ग्रीक विचारकों की भाँति आधुनिक युग में फेकनर ने सौन्दर्य के वस्तुगत गुणों और नियमों का अनुसन्धान किया है।

सौन्दर्य के वस्तुगत आधार के सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि सौन्दर्य केवल आत्मगत और आन्तरिक भाव है अथवा बाह्य विषयों का अनुषंग उसके लिए आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि क्या इन वस्तुगत आधारों में कुछ ऐसे गुण अथवा विशेषताएँ होती हैं जिनका सौन्दर्य में विशेष सहयोग है। पहली बात का विचारणीय प्रसंग वे अनुभूतिवादी मत हैं जो सौन्दर्य के विषयों को भी चेतना की सृष्टि मानते हैं। अत: जिनकी दृष्टि में ये विषय आन्तरिक हैं। एक समाधि की अवस्था ही ऐसी है जिसमें बाह्य विषयों का विलय हो जाता है। किन्तु वह एक दुर्लभ और असाधारण अवस्था है। स्वप्न के विषय आन्तरिक कहे जाते हैं किन्तु स्वप्न-काल में वे बाह्य और यथार्थ ही प्रतीत होते हैं। दूसरे, स्वप्न की व्यवस्था समाधि के समान ही असाधारण और अल्पस्थायी है। कलाकार की सौंदर्य भावना स्वप्न अथवा समाधि के समान होती है यह मानना कठिन है, क्योंकि समाधि के विपरीत कलाकार को बाह्य वस्तुओं का बोध रहता है। सभी कलाकृतियों में बाह्य विषयों का प्रसंग है। कला की बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभति को पूर्णत: व्यक्त न करती हो यह सम्भव है, किन्तु दोनों के तत्त्व और रूप पूर्णत: भिन्न हैं, यह मानना कठिन है। कलाकृतियों और जीवन के सामान्य व्यवहार में सौन्दर्य का जो प्रयोग होता है उसमें बाह्य विषयों का अनुषंग सदा रहता है। चाहे वस्तुओं के गुण सौन्दर्य की पूर्ण और सन्तोषजनक व्याख्या न हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वस्तुओं में सौन्दर्य का व्यवहार भ्रान्ति नहीं है। बाह्य वस्तुओं के प्रसंग में ही सौन्दर्य का अनुभव होता है। सौन्दर्य की आन्तरिक चेतना भी बाह्य विषयों के रूपों में साकार होती है।

बाह्य वस्तुओं और विषयों के कुछ रूप और गुण हमें अधिक प्रभावित करते हैं। सामान्यत; वे सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि वस्तुओं के रूपों और गुणों में कुछ विशेषत: सौन्दर्य के अनुभव में योग देते हैं। कान्ति, आलोक तथा रंग और रेखाओं की कुछ व्यवस्था सभी को सुन्दर मालूम होती है। शरीर के सौन्दर्य के विषय में भी हमारी धारणाएँ बहुत-कुछ समान हैं। सौन्दर्य का यह रूप वस्तु-तत्त्व का आकार है। इस आकार में तत्त्व के अंगों की योजना-रूप का निर्माण करती है। वस्तु का आकार बाह्य और सामान्य होने के नाते सौन्दर्य का रूप भी बाह्य और वस्तुगत है। चित्र-कला और संगीत में यह रूप पूर्णत: एक बाह्य व्यवस्था है। तत्त्व और रूप के अभिन्न होने के कारण हम रूप को भी वस्तु के समान ही सौन्दर्य का आधार मान सकते हैं किन्तु प्रश्न यह है कि ये सौन्दर्य के विधायक हैं अथवा केवल उसके उपकरण हैं। जहाँ तक वस्तु-तत्त्व का सम्बन्ध है उसके सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि वह सौन्दर्य का उपादान-मात्र है। बाह्य तत्त्व के उपादान के बिना सौन्दर्य की कल्पना कठिन है। सामान्यत: बाह्य तत्त्व के रूप में अथवा उसके निमित्त से भाव

में सौन्दर्य साकार होता है। जीवन के व्यवहार और विज्ञान के अन्य रूपों में इन्हीं वस्तु-तत्त्वों का उपयोग होता है और इस उपयोग में सौन्दर्य का कोई प्रसंग नहीं है। रूप का सौन्दर्य से अधिक निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। रूप तत्त्व के आकार की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। अत: रूप में सौन्दर्य की भावना स्वाभाविक है। किन्तु कलाकृतियों के रूपों में वस्तु-रूपों से कुछ अन्तर है। वस्तु-रूप बाह्य तत्त्व के आकार होते हैं, कलाकृतियाँ कलाकारों की सृष्टि हैं। उनका रूप वस्तु-तत्त्वों का आकार ही नहीं, चिन्मय भावों की अभिव्यक्ति भी है। भावों की अभिव्यक्ति होने पर रूप केवल बाह्य सत्ता का आकार नहीं रह जाता, वह आन्तरिक चेतनाओं के भावों की अभिव्यक्ति का प्रकार भी बन जाता है। बाह्य वस्तुओं का रूप उनके आकार की अभिव्यक्ति है किन्तु काव्य अथवा कला का उपादान बनकर वह रूप भी तत्त्व बन जाता है। काव्य और कला में वस्तु-तत्त्व के सन्निधान के साथ-साथ उसके रूप का सौन्दर्य भी सन्निहित होता है, किन्तु केवल तत्त्व के रूप में सन्निहित होने पर यह रूप आवश्यक रूप से कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। सुन्दर वस्तुओं और रूपों का चित्रण अथवा वर्णन भी सुन्दर हो यह आवश्यक नहीं। उपादानों का सौन्दर्य आवश्यक रूप से कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। कला उस रूप की अभिव्यक्ति अथवा व्यञ्जना है। अत: कला का सौन्दर्य मुख्यतः अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। कला सृष्टि है इसलिए कला का सौन्दर्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। दृश्य रूपों और उनके चित्रण में रूप के सौन्दर्य का महत्त्व अधिक है किन्तु कला के अन्य रूपों में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य प्रधान है। संगीत और काव्य में इस अभिव्यक्ति का रूप सूक्ष्म होता है और यह अभिव्यक्ति व्यक्त होने वाले भावतत्त्व से एकाकार होती है। जीवन के बाह्य तथ्य और तत्त्व भाव की अभिव्यक्ति के उपकरण और माध्यम ही होते हैं। कलाओं का आन्तरिक तत्त्व मुख्यतः चिन्मय भाव होता है इसे हम आकृति कह सकते हैं। अभिव्यक्ति बाह्य उपकरणों और शब्द आदि के माध्यम से इस आकृति की व्यापक व्यञ्जना है। आकृति के भाव और रूप एक-दूसरे से अभिन्न हैं। इसीलिए आनन्दवर्द्धन ने दोनों के लिए समान पद का प्रयोग किया है। उनके मत में ध्वनि व्यञ्जित होने वाला भाव-तत्त्व, व्यञ्जना की शक्ति और व्यञ्जना का रूप तीनों ही हैं। कुछ विद्वानों के मत में सौन्दर्य, रूप और तत्त्व का समन्वय है। बोसनक्वेट के अनुसार शेक्सपियर और दाँते की महिमा का रहस्य यही समन्वय है। कालिदास और तुलसीदास की महिमा का रहस्य भी सम्भवतः यही समन्वय है। सफल कला का रूप एक आरोपण नहीं है वह भाव-तत्त्वों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। इसी सृजनात्मक अभिव्यक्ति में रूप और तत्त्व के समन्वय को मौरिस ने सौन्दर्य का स्वरूप माना है।

किन्तु रूप की जिस सृजनात्मक अभिव्यक्ति को कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य का स्वरूप माना है, वह कलात्मक सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का स्वरूप सूक्ष्म और आन्तरिक है। किन्तु वह बाह्य उपकरणों में ही साकार होती है अतः अभिव्यक्ति का यह रूप क्रोचे की आन्तरिक अभिव्यक्ति से भिन्न है जिसका बाह्य उपकरणों और माध्यमों से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। क्रोचे की अभिव्यक्ति कलात्मक सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति का आन्तरिक प्रकाशन ही है। इसीलिए क्रोचे ने कलात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति को एकाकार माना है। क्रोचे ने अभिव्यक्तिवाद के नाम से कलात्मक सौन्दर्य को पूर्णत: आन्तरिक और

अनुभवात्मक धारणा को आधुनिक युग में प्रतिष्ठित किया। क्रोचे और उनके अनुयायी कलात्मक सौन्दर्य को पूर्णतः आंतरिक, आत्मगत व्यक्तिगत मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य का मूल स्वरूप चिन्मय भाव ही है। उस चिन्मय भाव की स्थिति और अभिव्यक्ति दोनों व्यक्तियों में होती हैं। इस आधार पर, जैसा कि लिस्टोवेल का विश्वास है, सौंदर्य की व्यक्तिमूलक तथा अनुभूतिमूलक व्याख्याएँ समीचीन ही हैं। चेतना में सौन्दर्य की यह अनुभूति दृष्टि और सृष्टि दोनों ही हैं। एक ओर इसमें दर्शन की तटस्थता और निरीहता है। कैरिट का विश्वास है कि सौन्दर्य केवल दर्शन अथवा ध्यान से ही आह्लादित करता है। एटेस ने सौन्दर्य की इस तटस्थ दृष्टि को स्पष्ट किया है इसके लिए लिस्टोवेल ने एटेस के मत का विशेष महत्त्व माना है। किन्तु दृष्टि होने के साथ-साथ सौन्दर्य की अनुभूति सृजनात्मक भी है। आधुनिक युग में सौन्दर्य का यह सृजनात्मक रूप विशेष गौरव के साथ स्पष्ट हुआ है। अनेक विद्वानों ने सौंदर्य की चेतना की क्रियात्मकता पर जोर दिया है। क्रोचे तो सौन्दर्य की चेतना को पूर्णतः सृजनात्मक और क्रियात्मक मानते हैं। वह अपनी अभिव्यक्ति के रूप और तत्त्व दोनों की रचना अपनी एकतन्त्र क्रिया के द्वारा करती है। क्रोचे के अनुयायियों ने सौंदर्य की चेतना की सृजनात्मक सक्रियता का अधिक विवरण किया है। अर्वाचीन विद्वानों में इस के समर्थकों में फेल्डर का नाम उल्लेखनीय है।

इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य का वास्तविक और मूल स्वरूप चिन्मय भाव ही है, इस भाव को अनुभूति भी कह सकते हैं, क्योंकि यह आत्मा की सचेतन वृत्ति है। कलात्मक सौन्दर्य इस भाव की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति भाव में आकृति की व्यञ्जना है। इस अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का चिन्मय-भाव-साकार होता है किन्तु क्रोचे का यह मत यथार्थ नहीं कि सौन्दर्य की अनुभूति पूर्णतः एकान्त और आत्मगत है तथा उसकी अभिव्यक्ति पूर्णतः आन्तरिक है। एकान्त चेतना पूर्णतः उदासीन होती है इसीलिए सांख्य ने कैवल्य की चेतना को आनन्द-रहित माना है। आत्मानुभाव की जिस अवस्था को वेदान्त में आनन्द-मय माना गया है वह व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है। वेदान्त की आनन्दमय मुक्ति सर्वात्मभाव की स्थिति है। वह आत्मा और अनुभूति का व्यापक रूप है, जिसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। इस समात्मभाव में ही आकृति की व्यञ्जना सौन्दर्य का स्वरूप है। आकृति का चिन्मय भाव सौन्दर्य का तत्त्व है। व्यञ्जना का आकार उसका रूप है। वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं किन्तु उनकी घनिष्ठ आत्मीयता कला और काव्य के व्यक्त रूप में ही स्पष्ट होती है। वस्तुओं के बाह्य रूप और तत्त्व सौन्दर्य के अन्तरंग ही नहीं, किन्तु उसके आवश्यक उपकरण हैं जिनमें सौन्दर्य का चिन्मय-भाव और व्यञ्जना का सूक्ष्म रूप साकार होता है। जिन सामान्य भाव-तत्त्वों में हम सौन्दर्य मानते हैं वह समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यञ्जना के कारण ही है। प्रेम, करुण, शौर्य, ओज, साहस और सहानुभूति के सौन्दर्य का यही रूप है। बाह्य वस्तुओं के जिन विशेष रूपों में सामान्यतः सौन्दर्य की सत्ता मानी जाती है उनका सौन्दर्य अधिक वस्तुगत प्रतीत होता है। किन्तु इस सौन्दर्य की भावना कुछ वस्तुगत गुणों और व्यवस्थाओं के अनुरूप इन रूपों की प्रियता के कारण भी है। बाह्य वस्तु-तत्त्वों में कोई स्वरूपगत सौन्दर्य नहीं है। वे अपने वस्तुगत रूप तथा चिन्मय भाव के संयोग से ही सौन्दर्य के अधिकारी बनते हैं। चिन्मय भाव ही सौन्दर्य मूल स्रोत है। इसका कारण यह है कि

उसके संयोग से बाह्य तत्त्वों के सुन्दर रूप और अधिक सुन्दर बन जाते हैं। भाव का सौन्दर्य अपनी विभूति से ही रूप के सौन्दर्य को समृद्ध बनाता है। किन्तु भाव का यह सौन्दर्य एकान्त और आन्तरिक अनुभूति में ही पूर्ण नहीं है। बाह्य रूपों और तत्त्वों के उपकरणों और माध्यमों में ही वह साकार होता है।

सभी कलाओं में सौन्दर्य का यह समृद्ध, सम्पन्न और मूर्त रूप मिलता है किन्तु काव्य में सौन्दर्य के इन विभिन्न अंगों का समन्वय सबसे अधिक स्पष्ट है। केवल तत्त्व की सत्ता तो एक प्रत्याहार-मात्र है। तत्त्व सदा रूप से अभिन्न होता है। तत्त्व के आकार में ही रूप की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुओं के सभी रूप अपने-आपमें सुन्दर होते हैं। ऐसा कहना तो कठिन है, क्योंकि सभी वस्तु-रूप हमें अपनी सुन्दरता स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं करते। जिन वस्तु-रूपों को सामान्यतः सुन्दर माना जाता है उनमें अन्य रूपों की अपेक्षा कुछ विशेषताएँ होती हैं। कला और काव्य में वस्तु और वस्तु-रूप उपादान के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। कला का रूप उसकी अभिव्यक्ति अथवा व्यञ्जना में है। इस व्यञ्जना में ही उसका सौन्दर्य है। इसीलिए यह व्यञ्जना असुन्दर उपादानों को सुन्दर और सुन्दर को सुन्दरतर बना देती है। चित्र-कला और संगीत में जीवन के भाव-तत्त्व से रहित केवल रूपात्मक योजना सम्भव है। यदि वर्ण (रंग) और शब्द को भी हम भौतिक वस्तु-तत्त्व मानें तो दूसरी बात है अन्यथा इन कलाओं के शुद्ध रूपों में स्थूल भौतिक तत्त्व का आधान आवश्यक नहीं है। इन कलाओं के ये शुद्ध रूप संवेदना की प्रियता, और अभिव्यक्ति (जिसका रूप यहाँ केवल रूप-रचना है।) के कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं। इन कलाओं के शुद्ध रूपों में जगत् के वस्तु-तत्त्व और जीवन के भाव-तत्त्व का आधान आवश्यक नहीं है। चित्र-कला की कल्पनाओं (डिज़ाइनों) और वाद्य संगीत में इन कलाओं का शुद्ध रूप मिलता है। किन्तु इसके अतिरिक्त इन कलाओं का अधिक प्रचलित और लोकप्रिय रूप वह है जिसमें जगत् के वस्तु-तत्त्व और जीवन के भावात्मक दोनों का समाहार होता है। कलाओं के इतिहास में कला का ही समन्वित रूप अधिक प्रसिद्ध और मान्य है। आधुनिक युग में पिकासो की चित्र-कला और प्रयोगवादी काव्य में वस्तु और वस्तु-रूप दोनों की उपेक्षा करके अभिव्यक्ति का एकांगी महत्त्व एक अद्भुत रूप में व्यक्त हुआ है। इसके पूर्व भी संगीत और आलंकारिक काव्य में अभिव्यक्ति की महिमा अधिक बढ़ी थी। किन्तु उसमें वस्तु और वस्तु-रूप की ऐसी उपेक्षा नहीं थी।

अस्तु, (सामान्यतः) कला और काव्य में वस्तु-तत्त्व, वस्तु-रूप और भाव का समन्वय मिलता है। चित्र-कला और संगीत में भी यह समन्वय बहुत समृद्ध रूप में मिलता है। किन्तु इसका सबसे अधिक सम्पन्न रूप काव्य में मिलता है। इसका कारण काव्य के माध्यम शब्द की विशेषता है। शब्द एक ओर वस्तु-तत्त्वों और वस्तु-रूपों के प्रतीक हैं। दूसरी ओर वे जीवन के भाव-तत्त्वों के व्यञ्जक हैं। चित्र-कला और संगीत की अभिव्यक्ति में भी अपनी विशेष मार्मिकताएँ हैं। भाव और रूप के क्षणों को जितने तीव्र रूप में व्यक्त करने की क्षमता चित्र-कला और संगीत में है उतनी काव्य में नहीं है। रूप के साक्षात् माध्यम में ये भाव सबसे अधिक तीव्र रूपों में चित्र-कला में व्यक्त होते हैं। चित्र-कला के दृश्य रूप पर आश्रित होने के कारण कला की अभिव्यक्ति के रूप में ही भाव-सम्पत्ति का अपार सन्निधान

होता है। शब्द के भाव-तत्त्व के मानसिक होने के कारण भाव-व्यञ्जना का चेतना में अपार विस्तार होता है। इस दृष्टि से जहाँ चित्र-कला की रूपगत अभिव्यक्ति में भाव का आधान अधिक है वहाँ संगीत की सार्थक स्वर-योजना में भाव-व्यञ्जना की शक्ति अधिक है। इसी कारण चित्र-कला अधिक कठिन है और कठिन होने के कारण वह कम प्रचलित है। चित्र-कला सृजन और अवलोकन दोनों की दृष्टि से अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक एकांगी है। दूसरे उसके सृजन और प्रदर्शन की क्रियाएँ अलग-अलग हैं। उनमें संगीत की भांति योगपद्य नहीं है। वैसे तो वास्तविक अथवा काल्पनिक किसी-न-किसी रूप में समात्मभाव सभी कलात्मक सौन्दर्य के मूल में निहित है। किन्तु संगीत में सृजन और प्रदर्शन के योगपद्य के कारण यह सबसे अधिक साक्षात् रूप में वर्तमान रहता है। साक्षात् समात्मभाव में आकृति की व्यञ्जना सबसे अधिक समर्थ होती है। व्यञ्जना के ग्राहकों का सहयोग इसे अधिक समृद्ध बनाता है। इस साक्षात् समात्मभाव के कारण ही क्षण-क्षण के जीवन में सौन्दर्य की इतनी सम्भावना है कि उसे कोई कला पर्याप्त रूप में व्यक्त नहीं कर सकती। इस साक्षात् समात्मभाव के कारण ही संगीत के साधारण शब्दों में व्यक्त साधारण भाव भी बड़े मर्मस्पर्शी बन जाते हैं। काव्य में यह समात्भाव साक्षात् न होने के कारण यह सहयोग कम मात्रा में मिलता है। यद्यपि इस सहयोग के बिना कोई कलात्मक अभिव्यक्ति सफल नहीं हो सकती। अतः चित्र-कला की भाँति काव्य में भी अभिव्यक्ति का रूप अपने स्वरूप में ही अधिक सम्पन्न और समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त काव्य में जीवन का भाव-तत्त्व एक व्यापक परम्परा के रूप में सन्निहित होता है। आकृति का विस्तार-व्यञ्जना की महिमा को बढ़ा देता है। आकृति के इस विस्तार और व्यञ्जना की इस व्यापकता के कारण काव्य में जगत् के वस्तु-तत्त्वों और वस्तु-रूपों तथा जीवन के भाव-तत्त्वों के सन्निधान की सम्भावना सबसे अधिक है। कलात्मक समन्वय से युक्त होकर यह सन्निधान काव्य को कला का सबसे अधिक सम्पन्न रूप बनाता है।

इस समन्वय की सर्वाधिक व्यापकता के कारण 'महाभारत' पंचम वेद माना जाता है। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास की महिमा का भी यही रहस्य है। इनमें जीवन के भाव-तत्त्व और उनकी अभिव्यक्ति के रूप का ही समन्वय नहीं है। इसके साथ-साथ एक विशाल परिमाण में जगत् के वस्तु-तत्त्वों और वस्तु-रूपों का भी सन्निधान है। जीवन का भाव-तत्त्व काव्य को मर्मस्पर्शी बनाता है। अभिव्यक्ति उसे सुन्दर बनाती है। किन्तु जगत् के वस्तु-तत्त्व और वस्तु-रूपों का सन्निधान उसे यथार्थ का बल देता है। इस यथार्थ की भूमिका में ही अभिव्यक्ति का सौन्दर्य सत्य बनता है और भाव की गरिमा शिव बनती है। हिन्दी के भक्ति-काव्य में भाव अधिक है किन्तु जीवन के यथार्थ का सम्बल कम है। रीति-काव्य में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक है। किन्तु उसकी भाव-सम्पत्ति सीमित है। जगत् के रूप और तत्त्व का सन्निधान और भी कम है। इसीलिए जीवन और जगत् के यथार्थ के प्रति अधिक चेतना उत्पन्न होने के साथ-साथ भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की लोकप्रियता कम हो रही है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक और भाव-तत्त्व सीमित तथा जगत् के यथार्थ का सन्निधान स्वल्प होने के कारण हिन्दी का छायावादी काव्य भी लोक-मन को स्पर्श न कर सका। रवीन्द्रनाथ के काव्य में भी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक है। उसकी भाव-सम्पत्ति सीमित न होते हुए भी एकांगी नहीं तो उतनी व्यापक नहीं है जितनी कि ऐसे विशाल काव्य

के लिए होनी चाहिए। जीवन और जगत् के यथार्थ का सन्निधान भी उसमें आकार के अनुरूप नहीं है इसका कारण यही है कि रवीन्द्रनाथ को राजसी जीवन और जगत् की व्यापक यथार्थता का पर्याप्त स्पर्श सम्भव न था। यथार्थ की अनुभूति ही हो सकती है उसकी कल्पना कल्पना ही है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ और छायावादी कवियों का काव्य कल्पनाशील किशोर-किशोरियों को ही अधिक अनुरंजित कर सका। आज जब कि लोक की चेतना जीवन की भाव-सम्पत्ति की विशालता तथा जीवन और जगत् की यथार्थताओं के प्रति अधिक जागरूक हो रही है भक्ति-काव्य की भाँति ही रवीन्द्र के रहस्यवादी और हिन्दी के छायावादी काव्य की लोकप्रियता भी कम हो रही है। कल्पना के व्योम कुञ्जों का विहार जीवन की विषम यथार्थताओं का समाधान नहीं बन सकता। इसीलिए वर्तमान युग के मानव को जीवन और जगत् की यथार्थताओं तथा जीवन की विशाल भाव सम्पत्ति की महिमा से पूर्ण सुन्दर और ओजमयी अभिव्यक्ति से युक्त काव्य की अपेक्षा है। सन्तोष की बात है कि छायावादी युग के बाद के काव्य में इस यथार्थ और भाव-सम्पत्ति के प्रति अधिक जागरूकता दिखाई दी। इस परिवर्तन का सबसे अधिक श्रेय दिनकर को है। इस दृष्टि से दिनकर आधुनिक हिन्दी-काव्य के नव प्रभात के तेजस्वी सूर्य हैं। इस नव प्रभात में अभिनव हिन्दी-काव्य के अनेक आभामय नीरज खिल रहे हैं।

कृष्णानन्दन दीक्षित 'पीयूष'

उमापति-कृत 'पारिजात हरण' के गीत

यह बात निश्चय ही गौरवपूर्ण है कि जिस समय हिन्दी-साहित्य का प्रादुर्भाव हो रहा था, उस समय मैथिली भाषा उमापति और विद्यापति-जैसे मूर्धन्य कवियों की प्रसव-भूमि के रूप में महनीय हो चुकी थी। उमापति और विद्यापति एक ही मैथिली भाषा के दो प्रखर मणि-खण्ड हैं, जिनकी प्रसिद्धि ने हिन्दी साहित्य को बल प्रदान किया है। विद्यापति और उमापति दोनों ने मुख्यतः गीतों की ही रचना की है, जो उनकी प्रतिभा की यशस्वी परम्परा के पोषक सिद्ध हुए हैं। कहीं-कहीं विद्यापति और उमापति दोनों के गीतों में ऐसी समता मिलती है कि उन्हें पृथक् करना भी कठिन होता है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य के दो मनीषी कवियों—अश्वघोष और कालिदास के बीच कुछ श्लोकों को लेकर समता स्थापित की जाती है, उसी प्रकार उमापति और विद्यापति के मध्य भी समता की स्थापना सम्भव है। कहीं-कहीं तो एक ही पद दोनों कवियों के नाम के साथ चल पड़े हैं। इस असंबद्धता का कारण इनकी प्रामाणिक पाण्डुलिपियों का अभाव और लोक-कण्ठ में गाया जाना ही है। जहाँ तक इन दोनों कवियों के काल-निर्धारण का प्रश्न है, मैं ग्रियर्सन के साथ हूँ, अतः मैं उमापति के बाद ही विद्यापति को स्थापित करने के पक्ष में रहूँगा। ग्रियर्सन ने उमापति के काल-विचार पर विचार किया है, और उनका मत है—I have been unable to gather any paticulars regarding Umapati. If his patron was Harisena, then the poet must have preceded Vidyapati, the most famous master singer, who flourished nearly a century later, about the year 1400 A.D. under the later dynasty founded by Kameshwar Thakur.[1]

यह उमापति का दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि अभी तक उन्हें विद्यापति के पूर्ववर्ती के रूप में नहीं देखा गया। फलतः उनके गीतों की दीप्ति विद्यापति के समक्ष जाकर अपने महत्त्व को खोती-सी जान पड़ती है। विद्यापति की प्रसिद्धि के समक्ष उमापति को वह स्थान प्राप्त नहीं हो सका जो उनको अपेक्षित था। उमापति के नाटक 'पारिजात हरण' के गीत मैथिली कीर्तनिया नाटकों की गीति-परम्परा के आदि स्वर के रूप में सम्पूज्य हैं। विद्यापति के गीति-काव्य की धारा को जो विस्तृत प्रवाह मिला उसमें जन-जीवन बह-सा गया, फलतः उसने उमापति का गीति-सौन्दर्य (जो इस धारा में अन्तः-सलिला के रूप में विद्यमान था) उपेक्षित करार कर दिया। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उमापति के गीतों का

१. G. Grierson J.B.O.R.S. VOL III, Part I, Page 26. **उमापति के काल-निर्णय पर मैंने स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र अपनी अप्रकाशित पुस्तक 'उमापति का पारिजात हरण' में विचार किया है।**

सौन्दर्य विद्यापति से कम है। जहाँ विद्यापति ने अपनी लम्बी आयु और विशिष्ट रचना-कौशल के बल पर असख्य गीतों की रचना की है, वहाँ उमापति के गीतों की संख्या कम है। किन्तु कम संख्या में लिखे जाकर भी ये गीत उस प्रथम सान्ध्य-तारे की तरह हैं जो शून्य में अपनी उपस्थिति से नवीन चेतना को जन्म देता है। इस रूपक को प्रस्तुत करते समय मैं यह भी नहीं भूल रहा हूँ कि विद्यापति के गीत चन्द्र-ज्योत्स्ना के प्रतीक हैं, जो अपनी कमनीयता से मन को मोह लेती है। पर इतना होते हुए भी सांध्यतारा प्रथम अवस्थिति को लेकर अपनी विशिष्टता रखता ही है। जिस लोक-वाणी की गंगा को काव्य में उतारने का श्रेय विद्यापति को दिया जाता रहा है उसके वस्तुतः भगीरथ उमापति उपाध्याय ही हुए हैं। 'पारिजात हरण' के बीच जो गीत उमापति ने सजाए हैं, वे लोक-रुचि और उनकी मनोभावना के प्रति अदम्य निष्ठा के प्रतीक हैं। उनकी रचनाओं पर काम-शास्त्र का गर्हित प्रभाव नहीं, दूर की कौड़ी लाने को महनीय उत्कण्ठा भी नहीं है, पर उनमें जो सादगी, सरलता और स्वाभाविक जीवन की झाँकी है, वह विद्यापति में दुर्लभ है। इस सरलता को ही लेकर उमापति का महत्त्व होना चाहिए। महल के ऊपर कंगूरे पर जलने वाले दीपक का महत्त्व इस बात को लेकर है कि वह दूर से ही आते हुए पथिकों का ध्यान आकर्षित करता है, पर निम्न-प्रकोष्ठ में जलने वाला दीपक ही घर का अँधेरा हर लेता है। विद्यापति की तुलना उसी कँगूरे के दीपक से की जा सकती है जो अपनी प्रतिभा से दूरस्थ भू-भागों को आलोकित कर रहे हैं, पर उमापति की काव्य-प्रतिभा की दीप-शिखा निष्कम्प एवं एकाकिनी होकर हमारे घर के निम्न प्रकोष्ठ के तम को हर रही है। अब हम यहाँ उमापति द्वारा विरचित 'पारिजात हरण' नाटिका के गीति-सौन्दर्य की विवेचना उपस्थित करना चाहेंगे। हमारे आलोच्य-परिवेश में 'पारिजात हरण' के ही गीत हैं, जिनकी संख्या २० हैं। नाटिका में संयोजित इन बीस गीतों के भीतर एक समता स्थापित की जा सकती है। यह समता निम्नलिखित चार बिन्दुओं को लेकर सोची जा सकती है—

(क) 'पारिजात हरण' नाटिका के सभी गीत मैथिली भाषा में लिखे गए हैं, जो वाद्य-यन्त्रों की सहायता से गाए जाने वाले हैं। मालवा, ललित, केदार, वसन्त, वैजन्ती आदि राग-रागिनियों में ये बद्ध हैं।

(ख) ये सभी गीत नाटक की कथावस्तु से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। ये कथावस्तु को आगे बढ़ाने में सहायक हैं। नाटक से विच्छिन्न हो जाने पर इसमें के कई गीत तो अपना चमत्कार ही खो देंगे।

(ग) इन गीतों का अन्तिम चरण कवि और उसके आश्रयदाता, एवं उनकी पट्ट महिषी महेश्वरी देवी का उल्लेख करता है।

(घ) ये गीत शुद्ध मैथिली में रचित हैं, और मिथिला में लोक-प्रचलित कीर्तनिया नाटकों की गीति-परम्परा के आदि रूप में सोचे जा सकते हैं।

'पारिजात हरण'-जैसी छोटी-सी नाटिका में ये बीस की संख्या में गीत यद्यपि कुछ अस्वाभाविक एवं अत्यधिक प्रतीत होते हैं, किन्तु नाटिका के पठन के बाद यह बात पुष्ट होती है कि अभिनेयता की सुरक्षा के कारण भी यही गीत रहे होंगे। 'पारिजात हरण' के गीत प्रायः सम्पूर्ण कथा को प्रकट करने में समर्थ हो सके हैं। देवी वन्दना, नटी द्वारा मांगलिक गान,

कृष्ण-रुक्मिणी का रैवत वन-विहार, नारद का सभक्ति परिजात पुष्पसमर्पण, रुक्मिणी की गर्वोक्ति, सत्यभामा का प्रेम पश्चात्ताप, मान, कृष्ण द्वारा मान मोचन, दण्ड याचना, सत्यभामा की सम्पूर्ण पारिजात पुष्प की माँग, कृष्ण-इन्द्र युद्ध, पारिजात-वृक्ष प्राप्ति के बाद सत्यभामा की उसकी वंदना इत्यादि सभी उल्लेख्य प्रसंग इन गीतों के माध्यम से ही व्यक्त किये गए हैं। इन गीतों के माध्यम से जो कथावस्तु का विकास हुआ है, वह यह बतलाता है कि उमापति के काल में जनता की भाषा प्राकृत या अपभ्रंश न रहकर मैथिली ही हो गई थी। शास्त्रीय परम्परा के पालन के कारण ही इस नाटिका की भाषा अपभ्रंश और संस्कृत की गई अन्यथा यह सम्पूर्ण नाटिका विशुद्ध मैथिली में रचित हो सकती थी। 'पारिजात हरण' के इन मैथिली गीतों के माध्यम से नाटककार ने जहाँ पर्याप्त मनोरंजन एवं सरसता को प्रतिवेदित किया है, वहाँ वह समाजिकों (दर्शकों) को अपनी ओर से एक सहूलियत प्रदान करता हुआ भी दिखाई पड़ता है।

'पारिजात हरण' का प्रथम गीत 'जय-जय मधुकैटभ अर्दिनी' शक्ति को निवेदित है। फिर दूसरा गीत 'सुरतरु धन उपवन करु मण्डन वेदि रचल भल हिय अचला' शिव-पार्वती के प्रणय को लक्ष्य करता दिखाई पड़ता है। शेष अठारह गीतों में कृष्ण और सत्यभामा के प्रेम की गाथा चित्रित की गई है। यहाँ पर उमापति में 'अन्त: शाक्ता-बहि: शैवा:' का प्रमाण मिल जाता है। इन गीतों की योजना कथानक को गति देने के लिए की गई है। इनमें गीति-काव्य की संगीतात्मकता तो है (क्योंकि ये राग-रागिनियों में बद्ध हैं) पर इनमें वैयक्तिक चेतना का स्फोट नहीं है। फलत: ये गीत विद्यापति के पदों के लालित्य और आत्मनिष्ठता के सोपान तक नहीं पहुँच पाते। पर विद्यापति के पूर्ववर्ती कवि में जो भी अपेक्षित गुण होने चाहिएँ उनका निर्वाह ये गीत करते दिखाई पड़ते हैं। प्रवेशिकाएँ, भक्ति-वंदना, नर-याचना, कृतज्ञता प्रकाशन से सम्बन्धित गीतों में काव्य का निदर्शन नहीं है। कृष्ण-प्रवेशिका में 'भूमिक भार उतारब गरब हरब सुरराजक' कहकर अवतार के हेतु पर विचार किया गया है। इस नाटिका का उद्देश्य मूल रूप से इन्द्र का गर्वदलन ही प्रतीत होता है। इन गीतों में यत्र-तत्र स्थूल रूप से वर्णन का आभास भी मिलता है, यथा नारद के परि-धान आदि का वर्णन। 'सत्यभामा प्रवेशिका' में जो गीत आये हैं उनमें आलंकारिक ध्वनि पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

देखई यह चाँदकला क सन्देह,
वसुधा वस बन, बिजली रेह,
मणिमय-भूषण अंग अलूल।

ये पंक्तियाँ आगे आने वाले विरह की अच्छी पृष्ठभूमि बन जाती हैं। नारद की भक्ति-प्रार्थना, उनका पारिजात समर्पण करना, रुक्मिणी का उत्सव गीत, सत्यभामा का पारि-जात वृक्ष माँगना इत्यादि प्रसंगों के गीत इतने तथ्यात्मक हैं कि इनमें गीत की आत्मा के दर्शन नहीं होते हैं। अन्तिम गीत में जो मंगल-कामना की गई है, वह अपनी लोक-भावना और सरलता दोनों का आकर्षण लिये हुए है।

जगधर समय करय जलदाने

'पारिजात हरण' का गीति-सौन्दर्य उन गीतों को लेकर है जो रति-भाव पर अव-

लम्बित हैं। नारद द्वारा वर्णित इन्द्र-युद्ध वर्णन अपवाद के रूप में रखा जाता है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। इन गीतों की योजना कहीं-कहीं तो अभूतपूर्व है। इन गीतों को लक्ष्य करके जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है—Some of the Umapati lyrics in the present world will be recognised as worthy specimens of his dainty poetical style.[1] इन गीतों में विरह का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया गया है। 'सखि हेरलस रसचलु फुलबारि' वाले गीत में उसका उल्लास विशेष रूप से द्रष्टव्य है। वह कृष्ण के अनन्य रूप पर कितनी ही उत्प्रेक्षाएँ करती हैं। कृष्ण को देखने का यह चाव प्रेम की अनन्यता का ही सूचक है। कृष्ण का मुकुट मेरु शिखर का सूर्य है। सुघर नेत्र-युक्त मुखमण्डल दो कमलों से युक्त एक चन्द्रमा है। हृदय पट की माला अंजनगिरि पर लहराती हुई सुरसरि की माला है।[2] फिर उसी प्रकार रुक्मिणी-हरण का रैवत वर्णन बसंत की सम्पूर्ण मादकता लिये इस मान की अच्छी पृष्ठभूमि बन गया है।[3] उसका तात्कालिक हेतु है रुक्मिणी को पारिजात-पुष्प का उपहार प्रदान करना। सुमुखि द्वारा मानवती हतचेता सत्यभामा के चिन्तन में भ्रांतिमान अलंकार का प्रयोग कवि-कौशल का श्रेष्ठ प्रमाण है। वह आरसी में मुखबिम्ब को चन्द्रमा मानकर कुपित है, छाती पर उसका हाथ कमल के स्पर्श का भाव उत्पन्न करता है। अपनी बोली को पिकरव समझकर विरहिन 'हरि हरि' कह उठती है।[4] सत्यभामा का प्रेम पश्चात्ताप भी कृष्ण को दोषी करार नहीं करता। यह प्रेम की भारतीय मर्यादा का पालन है। निम्नांकित विरोध में उसके विरोध की तीव्रता अवश्य परिलक्षित होती है।

हरि सऊँ प्रेम आस कप खाओल
पामोल परिभव ठाये
जलधर छाहरि तर हम सुतलहुँ
आतप येल परिनामे ।।[5]

किन्तु यहाँ विरोध का लक्ष्य कृष्ण नहीं स्वयं सत्यभामा की अपनी अवस्था है। स्नेह का खण्डन उसकी दृष्टि में स्वभाव है, जैसे सर्प पोष्य नहीं मानता। अमृत में भीगे रहने पर भी पाषाण कोमल नहीं होता। यहाँ दृष्टान्त की ओर हमारा ध्यान जाता है। इसे विरह-प्रलाप के रूप में भी माना जा सकता है। इसके संगठन में उद्दीपनों का भी कम

१. Grierson. J.B.O.R.S. Vol. III. Part I.

२. **सखि हेरलस रस चलु फुलवारी।**
वहाँ मिलत मोहि मदन मुरारी ।।
कनक मुकुट मोहें मनि भल भासा।
मेरु सिखिर जनि दिन मनि वासा ।।
सुन्दर नयन वदन सानन्दा।
उगल-जुगल कुवलय लव चन्दा ।।
(गीत संख्या ८)

३. **द्रष्टव्य गीत संख्या ३ (वसंत वर्णन)—'पारिजात हरण' उमापति उपाध्याय।**

४. **द्रष्टव्य गीत संख्या १०—'पारिजात हरण' : उमापति उपाध्याय।**

५. **द्रष्टव्य गीत संख्या ११—'पारिजात हरण' : उमापति उपाध्याय।**

हाथ नहीं है। पूर्ण चन्द्र, कोकिल, अलिकुल इत्यादि उद्दीपन के तत्त्व विरहिन को ले डूबते हैं। उसे अपना जीवन असह्य हो जाता है। कृष्ण के द्वारा मान-मोचन का प्रसंग विरोध के तल पर आधारित है। मानिनी नायिका का वदन कोमल कमल से, अधर मधुर पुष्प की रक्तिमा से एवं समस्त शरीर ही पुष्प से निर्मित है। पर इस क्रूर विधाता को तो देखिए कि इसने इस पुष्पावली प्रेमिका का हृदय ही पाषाण से निर्मित कर दिया है। हृदय की इस निष्ठुरता का वर्णन कृष्ण द्वार कराकर उमापति ने अपनी काव्य-कला की विदग्धता प्रदर्शित की है।[1] यहाँ गम्भीर वृत्ति का अभाव खटकने वाला है। कृष्ण यह नहीं समझ पाते कि यह मान ईर्ष्याजन्य न होकर स्पर्धाजन्य है। सत्यभामा ने एक शब्द भी रुक्मिणी के विरोध में नहीं कहा है। उसे पारिजात पुष्प नहीं चाहिए। उसे अपने मान की बड़ी चिन्ता है। उसका मान तब जाता है जब कृष्ण-इन्द्र-युद्ध होता है। 'तनि बिनु ओरे नयन बरस इन जल-धार सम' का ही फल है कि वह पारिजात वृक्ष के साथ-साथ कृष्ण को भी पा लेती हैं और उसके मान का अन्त हो जाता है।

'कीर्तिलता' में युद्ध का जो विशद वर्णन विद्यापति ने किया है, वह स्तुत्य है, पर 'पारिजात हरण' में नारद द्वारा वर्णित कृष्ण और इन्द्र का युद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] इन्द्र और कृष्ण के बीच होने वाला युद्ध अत्यन्त रोमांचकारी है। मैथिली-जैसी कोमल प्राण भाषा से ओज का यह स्वर निकालना उमापति-जैसे समर्थ कवियों से ही सम्भव है। महाकवि पंत की 'गा कोकिल वर्षा पावक कण' की उक्ति यहाँ उमापति ने सहज ही चरितार्थ कर दी है। मैथिली-जैसी कोमलकान्त भाषा से ओजपूर्ण वीरत्व का यह स्वर निकालना कोकिल के स्वर से अंगारों की वर्षा कराना ही है। इस प्रकार 'पारिजात हरण' के गीत में शृंगार और वीर दोनों प्रमुख रसों का आलोड़न मिलता है। यहाँ तक तो हमने उमापति के गीतों की विवेचना भाव-भूमि के आधार पर की है। पर यहाँ यह बात भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 'पारिजात हरण' के गीतों का कला पक्ष भी बहुत सधा हुआ है। शब्दालंकारों, अर्थालंकारों के साथ सभी गुणों, वृत्तियों एवं रीतियों का शास्त्रीय रूप में पालन किया गया है। उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष, वक्रोक्ति और वीप्सा तो स्वाभाविक रूप में मिलते हैं। पर कहीं-कहीं तो एक ही गीत में अनेकानेक प्रमुख अलंकारों की योजना की गई है। यहाँ कुछ प्रमुख अलंकारों का उदाहरण 'पारिजात हरण' में से दिया जा रहा है—

(क) जलधर छाहहि हम सुतलहुँ
आतप भेल परिनामे। (परिकरांकुर)

१. द्रष्टव्य : गीत संख्या १३ : 'पारिजात हरण' : उमापति उपाध्याय।
२. ऐरावत असबार पुरन्दर घन भूखन घन हाथे।
सहस तुरग रथ चढ़ल धनुर्धर तनय जयन्तक साथे।।
भाई भाईरन मेल भयंकर गजबर गरुड़ डरन्ता।
अचरज देखय देवगन आयल गिरिस गोरिपरगन्ता।।
सारंग सर सुरपति उर वेधल गांडिव पाणि जयन्ता।
ठामहि ठोर ठोकि विनता सुत भाउल दिग्गजदन्ता।।
—पारिजात हरण, गीत संख्या १७।

(ख) पुरुष पिरिति रिति हनिजऊँ विसरल।
तहओ हुनकर दो से ।। (आक्षेप)

(ग) कतेक जतन घटि जऊँ परिचालिअ।
सांप न मानय पोले ।। (लोकोक्ति)

(घ) नव मधुर मधुर सुमगुध मधुकर निकर निकरस आवहीं।
जनि मानिनीजन मान भंजन मदन गुरुगुन गावहीं ।। (उपमा)

इस प्रकार प्रमाण के लिए अनेक उदाहरण रखे जा सकते हैं। ये अलंकार कृत्रिम अलंकरण के रूप में न आकर स्वाभाविकता के साथ आये हैं। सिद्ध रसज्ञ कवि की रचना के ये बंकिम छींटे हैं जिनसे पाठक का हृदय रसार्द्र हो जाता है। उमापति-विरचित 'पारिजात हरण' के गीत भाव, भाषा और शिल्प की दृष्टि से हिंन्दी गीति-कविता के उच्चतम सोपान के साझीदार हो सकते हैं। विद्यापति के गीतों के माधुर्य पर हम मोहित हैं, पर उसके पूर्ववर्ती इस कवि की रचनाओं की दीप्ति कुछ ऐसी है जो मन को झकझोर देती है। ये गीत धूलि के ढेर में छिपे हुए मणि-खण्ड हैं जिनकी दीप्ति और प्रतिभा की परख हमें करनी है।

प्रस्तुत प्रश्न

डॉ० प्रेमशंकर

परती : परिकथा

इधर लगभग दो दशकों के भीतर प्रकाशित अधिकांश नई पुस्तकों की समीक्षा पर हम यदि दृष्टि डालें तो एक आश्चर्यजनक तथ्य हमें प्राप्त होगा। उन कृतियों की समीक्षा का कोई सन्तुलित आधार नहीं रहा है और उनके विषय में कभी-कभी पूर्णतया विरोधी विचार भी मिलते रहे हैं। इसका कारण है साहित्य में वादग्रस्त भावनाओं का आधिक्य ! सन्तोष का विषय है कि 'परती : परिकथा' इस प्रकार की विरोधी समीक्षाओं की सीमा से बहुत ऊपर है। सम्भव है किसी प्रबल आकर्षण से बिंधकर आलोचकों ने उसकी आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर दी हो, और उसका अधिक सन्तुलित मूल्यांकन कुछ समय के अनन्तर ही हो। किन्तु इसका कारण यह भी है कि एक लम्बे अन्तराल के बाद एक सुन्दर कृति हमारे समक्ष आई है और उसने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। अभाव की पूर्ति करने वाली कृति को यह लाभ मिल ही जाता है। श्रीपतराय आदि एकाध एकाकी स्वरों को छोड़कर अधिक समीक्षकों, पाठकों ने इस कृति को सराहा है। जहाँ फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' से एक अभाव को भरा है वहीं यह भी ध्यान रखना होगा कि यह उनका आरम्भिक चरण है, जिसमें प्रतिभा है और इसी कारण उनसे आशाएँ हैं.......।

'परती : परिकथा' अपने शीर्षक से ही अपनी कथा-वस्तु का संकेत कर देती है। लेखक ने उपन्यास का आरम्भ करते हुए कहा है—'धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती.......। कथा होगी अवश्य इस परती की भी। व्यथा-भरी कथा, वन्ध्या धरती !' इस परती पृथ्वी का केन्द्र उसने परानपुर ग्राम को बनाया है, जिसे हम उपन्यास का प्रमुख रंगमञ्च स्वीकार कर सकते हैं। परानपुर को लेखक ने एक वैशिष्ट्य प्रदान किया है, उसे एक असाधारण गरिमा दी है। काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र आदि अनेक स्थानों का ऐतिहासिक गौरव है, जिसका प्रयोग कोई भी लेखक किंचित् सरलता से कर सकता है। किन्तु रेणु ने देश के एक छोटे-से अचीन्हे अंचल को लिया है और अपनी लेखनी से उसकी पूजा-रचा ली है। परानपुर का परिचय कराते

हुए वे लिखते हैं—'परानपुर की प्रतिष्ठा सारे ज़िले में है। सबसे उन्नत गाँव समझा जाता है। इस इलाके में सबसे उन्नत गाँव है परानपुर। किन्तु, जिस तरह बाँस बढ़ते-बढ़ते अन्त में झुक जाता है, उसी तरह यह गाँव भी झुका है····।' इस परानपुर ग्राम की विशेषताओं की चर्चा करते हुए लेखक कहता है। लोग यहाँ के दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोलकर देख लेते हैं। फारबिसगंज की किसी दुकान में चले जाइये, ज्यों ही मालूम हुआ कि परानपुर का ग्राहक आया है, दुकानदार अपनी बिखरी हुई चीज़ों को समेटना शुरू कर देता है····। हाकिम-हुक्काम भी यहाँ के लोगों से बातें करते समय इस बात का खयाल रखते हैं कि सिर्फ एक गाँव में, एक ही वर्ष के अन्दर सरकार के तीन-तीन विभागों के अधिकारियों की आँखों में धूल झोंकी गई···। ट्रेन के चैकर जानते है, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते। चार्ज करने वाले चैकर को रोड़े और पत्थरों से भाड़ा चुकाते हैं ये···।' परानपुर के वर्णन और आगामी पृष्ठों में वहाँ होने वाले अभिनय को देखकर कोई व्यक्ति प्रश्न कर सकता है, कि क्या उस ग्राम में सभी-कुछ वर्तमान था? इसका कारण यही है कि रेणु उस अंचल के माध्यम से सामयिक ग्रामीण जीवन का ही चित्र प्रस्तुत कर देना चाहते थे।

'परती : परिकथा' का कथा-पक्ष समीक्षाओं में सर्वाधिक विवाद का विषय बन सकता है। आरोप लगाया जा सकता है कि इसमें आदि से अन्त तक कोई केन्द्रित कथा नहीं है, जैसे उसका कोई गन्तव्य न हो। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि 'परती : परिकथा' स्थूल दृष्टि से एक कथा-समूह प्रतीत होगा। किन्तु उपन्यासों की कथा-परम्परा से किंचित् अलग हटकर यदि हम विचार करें तो हमें उपन्यासकार की प्रतिमा को सराहना होगा। मैं 'रेणु' को एक सफल कथा-निर्माता मानता हूँ। वे कहानियाँ गढ़ना जानते हैं, सुनाना जानते हैं। यह उनका अपना दुर्लभ गुण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कई प्रकार की कथाएँ हमें देखने को मिलती हैं। परती से सम्बन्धित अनेक लोक-कथाएँ हैं, जो जन-जीवन का एक अविच्छिन्न अंग हैं। 'सुन्नरि नैका', 'रानी डूबी घाट', 'शामा चकेवा', 'कोहवट रांड़ी' आदि से सम्बन्धित कथाएँ ऐसी ही हैं। इन कथाओं में सबसे प्रभावशाली और मार्मिक कथा सुन्नरि नैका की है। 'इस कथा के अन्त में, सभी बाल-बच्चे वाली महिलाओं ने रग्घू (कथावाचक) ने प्रार्थना की। उसकी सफेद दाढ़ी से झर-झरकर आँसू गिर रहे थे···।' इन लोक-कथाओं के अतिरिक्त अनेक छोटी-छोटी कहानियों का समावेश उपन्यास में है। ऐसा लगता है जैसे उपन्यास के हर महत्त्वपूर्ण पात्र की अपनी एक कथा है। जितेन्द्र को हम 'परती : परिकथा' का प्रमुख पात्र स्वीकार कर सकते हैं। उसकी और ताजमनी की एक कथा है। जितेन्द्र के आरम्भिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है—मिसेज रोजउड अथवा गीता मिश्र की डायरी से। जितेन्द्र के पिता शिवेन्द्र मिश्र का रोमांचकारी जीवन और एक विदेशी महिला का भारत-प्रेम इस डायरी की कथा-वस्तु हैं। डायरी के पृष्ठ जितेन्द्र की कथा से ही सम्बद्ध कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें उसके पिता की ही कथा तो है। इसी में पंचचक्र का वर्णन है, जिसमें किसी सीमा तक पौराणिक स्पर्श आ गया है। इस प्रमुख कथा के अतिरिक्त दिलबहादुर, कंछीचाचा, सुवंशलाल, मलारी आदि की भी कहानियाँ हैं। इस प्रकार यह उपन्यास एक कथा-सागर है। किन्तु इस कारण क्या उसे एक कथा

संग्रह मात्र की संज्ञा देनी होगी ? वास्तव में लेखक ने बड़े कौशल से इन सभी छोटी-छोटी कथाओं को जितेन्द्र की प्रमुख कथा से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। और परती के विशाल रंगमंच पर होने के कारण उनमें एक तारतम्य आ गया है। विच्छिन्न होकर भी वे परस्पर-सम्बद्ध हैं। अनेक कथा-प्रसूनों को जैसे उपन्यासकार ने एक ही अनुभूति-तन्तु से आबद्ध कर लिया है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यदि इनमें से एक-दो कहानियाँ निकाल दी जायँ तो उपन्यास की मुख्य कथा-धारा में अधिक अन्तर न आयगा, किन्तु इतना निर्विवाद है कि उसकी रोचकता कम हो जायगी। इसका कारण यह है कि सभी कथाएँ किसी सीमा तक रोचक हैं; उनकी एक सार्थकता है। कैण्टरबरी टेल्स और अरेबियन नाइट्स-जैसी कथाएँ ये नहीं हैं। ये कहानियाँ एक भूमि-खण्ड की जीवन-गाथा कहती हैं। 'परती : परिकथा' में कथानक की दृष्टि से एक विरलता प्रतीत हो सकती है, किन्तु इसे मैं 'रेणु' के एक प्रयोग-रूप में स्वीकार करता हूँ, जिसकी सफलता-असफलता का निर्णय उनके भावी विकास पर निर्भर करेगा। इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि 'परती : परिकथा' में वे एक अत्यन्त रोचक कथा-वाचक हैं। परती से लेखक का जो एक रागात्मक सम्बन्ध है, वह इन कहानियों में झलक आया है।

उपन्यास की विषय-वस्तु की चर्चा करते हुए फ्लावर्ट ने लिखा है कि 'उपन्यास के लिए सुन्दर विषय-वस्तु वह हैं जो एक पूर्ण खण्ड, एक सम्पूर्ण आकार बनकर आए। उसका एक आरम्भिक विचार (mother-idea) होता है जिससे अन्य धाराएँ प्रवाहित होती जाती हैं।' 'परती : परिकथा' में परानपुर की परती धरती और उसके भूमिपति जितेन्द्रनाथ मिश्र दो प्रमुख कथा-स्रोत हैं, जिनसे अन्य कथाएँ सम्बन्ध रखती हैं। कथा का गन्तव्य है—परती की कहानी को प्रस्तुत कर देना। और यह कथा उसके भूमिपति के अभाव में अपूर्ण ही कही जायगी। जितेन्द्र का जो जीवन इसमें अंकित हुआ है उसे हम ढहते हुए सामन्त-वादी युग की कथा कह सकते हैं। और परती की कथा में आशा और विश्वास के स्वर हैं। उपन्यास के अन्त में लेखक ने लिखा है—'सेमलवनी के आकाश में अबीर गुलाल उड़ रहा है। आसन्नप्रसव परती हँसकर करवट लेती है।' परानपुर और उसके इतिहास जितेन्द्रनाथ की कथा उपन्यास का मूल-बिन्दु है, जिसे पूर्ण सावधानी के साथ प्रस्तुत किया गया है। छोटी कहानियाँ संक्षेप से कह दी गई हैं किन्तु उनमें भी मार्मिकता की कमी नहीं है। मलारी की ही कथा को लें। महीचन, (मलारी का पिता) अपनी बेटी के जन्म के बाद से ही दाँत किटकिटाता है···। साली इतनी गोरी कैसे हो गई? सौरघर में ही घुसकर उसने अपनी स्त्री को लात से मारते हुए कहा था—अब बोलो ? यह गोरी मरी छोड़ी मलारी कहाँ से आई ? इसका मुँह योगेन्दर भुमिहरवा के जैसा क्यों है ? मलारी बढ़ती गई और महीचन का गुस्सा भी उसी अनुपात में बढ़ता गया। मलारी की माँ कम चालाक नहीं। दो वर्ष की उम्र में ही मलारी की शादी करा दी उसने, एक जवान रैदास से।······ दो वर्ष की बेटी अपना धन नहीं। पराये की चीज है, कोई कुछ नहीं कहे! लेकिन वर्ष लौटते-लौटते मलारी बेवा हो गई······।' उपन्यास की प्रमुख धारा से कुछ हटकर बहने वाली कथा-धाराओं में सबसे प्राणवान कथा जितेन्द्रनाथ के पिता शिवेन्द्रनाथ मिश्र की है, जिन्होंने एक अंग्रेज महिला मिसेज रोडउड, (आगे चलकर गीता मिश्र) से विवाह किया था।

'परती : परिकथा' की ये कथाएँ स्वयं में पूर्ण हैं, किन्तु परानपुर की धरती उन्हें एक सामाजिक दिशा देती है; उन्हें एक गन्तव्य तक ले जाती है। कथा में जड़ता नहीं है, उसमें गति है, दिशा है।

कथाएँ गढ़ना और उन्हें अत्यन्त रोचक ढंग से सुना देना जहाँ 'रेणु' की प्रमुख कला है, वहीं उनका दूसरा गुण है चरित्र-सृष्टि ! 'परती:परिकथा' के पात्रों की संख्या देखकर आश्चर्य होता है। एक विशाल जन-समूह ही एकत्र हो गया हो मानो ! अनेक पात्रों को एक स्थान पर लाकर प्रस्तुत कर देना स्वयं में कोई सिद्धि नहीं है। दाँते की 'डिवाइन कामेडी' में भी उनकी कमी नहीं है। रेणु की चरित्र-सृष्टि की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने सभी का अंकन सबल रेखाओं से करना चाहा है। जहाँ तक रेखांकन का प्रश्न है 'को बड़-छोट कहत अपराधू।' कथा-धारा में पड़कर कुछ पात्रों का चरित्र अधिक उभरकर आया है, किन्तु इस उपन्यास में ऐसे निरर्थक पात्र नहीं हैं जिन्हें केवल गणना के लिए अपनी खानापूरी के लिए रख दिया गया हो। ये सभी चरित्र परती जमीन के जीवन की विभिन्न दिशाओं के प्रतीक हैं। परानपुर के महोत्सव में सम्मिलित होने वाले ये चरित्र अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से पूरित हैं। वे किसी वर्ग के प्रतिनिधि-मात्र नहीं हैं। वे अपना एक जीवन जीते हैं। रेणु ने इनके बाहर-भीतर दोनों पक्षों का अंकन सफलता से किया है। मिसेज़ लीवी ने उपन्यास पर विचार करते हुए लिखा है—'चरित्र पाठक की सृष्टि है; लेखक की नहीं। वस्तुतः उपन्यास को केवल यही करना है कि वह उन्हें सबल रेखाएँ दे दे। पाठक उनसे सहयोग करेगा ताकि उसे निश्चय हो जाय कि वह वास्तविक व्यक्तियों के साथ है।' इस कथन की दृष्टि से 'परती: परिकथा' के सभी पात्रों का अंकन सबल रेखाओं से हुआ है। उनके शारीरिक वर्णन की ओर भी लेखक का ध्यान गया है, पर मुख्यतया उसने उनकी आत्मा को गढ़ने का प्रयास किया है। सभी पात्रों को लेखक ने एक व्यक्तित्व दिया है। इतने सारे चरित्रों को अलग-अलग व्यक्तित्व दे देना, उपन्यासकार की जागरूक प्रतिभा का प्रमाण है। ये सब चरित्र केवल वर्णन-मात्र के लिए ही नहीं रख दिए गए हैं। कथा की धारा में इनका योग भी है। छोटे-से-छोटे पात्र को यदि रंगमंच से हटा दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे उपन्यास का ताप कुछ कम हो गया है। जितेन्द्र और ताजमनी, शिवेन्द्र और गीता आदि प्रमुख पात्रों को कथा-धारा में अधिक स्थान मिला है, किन्तु साधारण-से-साधारण पात्र भी लेखक की सबल रेखाओं का संस्पर्श पाकर अविस्मरणीय बन गया है। यहाँ तक कि जितेन्द्र का कुत्ता मीरा और शिवेन्द्र का घोड़ा मूँगा भी उपन्यास की मार्मिकता में सहायक हैं। पात्रों की चारित्रिक रेखाओं पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगा कि कहीं भी पुनरावृत्ति दोष नहीं है। अपनी विशेषताओं से समन्वित होकर वे आए हैं। शिवेन्द्र मिश्र सामन्ती युग के प्रतीक हैं। उनकी पत्नी मिसेज रोजउड (गीता मिश्र) 'पूरब-पगली' हैं। शिवेन्द्र का पुत्र जितेन्द्र स्पष्ट देखता है कि सामन्ती परम्परा ढल रही है। वह नये आलोक को पहचानकर परिस्थिति से समझौता कर लेता है। ताजमनी 'अद्वितीया सुन्दरी' हैं। सामबत्ती 'घटघुमनी' है। गरुड़धुडा झा 'आधुनिक नारद' हैं। मुन्शी जलधारी लाल 'कलम के हजार करतब' जानते हैं। मिम्मल मामा की अपनी एक अलग ही भाषा है। लुत्तो 'राजानीति' जानता है। प्रेमकुमार दीवान 'कलात्मक प्रेम' के प्रतीक हैं। इतने अधिक पात्रों को लेखक तभी

उभार पाया है, जब कि उसने किसी का पक्ष नहीं लिया। इतने चरित्रों का अंकन एक ओर उसके मानव-अध्ययन का प्रमाण है तो दूसरी ओर हमें लेखक की सामर्थ्य को भी सराहना पड़ता है।

दो-चार चरित्रों पर दृष्टि डाली जाय तो उन सबल रेखाओं का आभास मिल जायगा, जिनसे इनका निर्माण हुआ है। पिता के समय से चले आते हुए जितेन्द्र की स्टेट का काम सँभालने वाले मुन्शी जलधारी लाल, जिन्हें बिना पढ़े-लिखे लोग सरबसोधनलाल दास कहते हैं। जिस कचहरी में रहा, उसका सब-कुछ सोध लिया।'...साठ साल से ज्यादा उम्र। लहीय-सहीय देह, साँवला रंग, नाटा कद और खिचड़ी दाढ़ी-मूँछ वाली सूरत पर भेद-भरी मुस्कराहट हमेशा खेलती रहती है। दोनों कानों पर सफेद बालों के घुँघराले गुच्छ, गर्दन पर दाद के बड़े-बड़े चकत्ते और ताम्बूल-रंजित काले दाँत।' उनकी कलम की मार अचूक होती है। उन्होंने 'जीत का कागज कभी कमजोर न होने दिया।' सुरपतिराय लोक-साहित्य का प्रेमी है। 'वह सात घाटों का पानी पी चुका है। कर्बला, रानी डूबी, संझा तथा गीत-वास घाट के आस-पास के गाँवों में पिछले छः महीने से घूम रहा है, वह।' जितेन्द्र के विरोधियों में सबसे प्रबल है लुत्तो। उसके पिता लरैना ने जीत के पिता शिवेन्द्र मिश्र के साथ भारी विश्वास-घात किया था और उसे दण्ड मिला था। लुत्ता अपने पिता के अपमान का बदला जीत से लेना चाहता है। इसीलिए वह कांग्रेस में आया है। 'खवास' सुनते ही उनके मर्म को चोट लगती है। 'बचपन से ही उसे रात-भर आँख खोलकर सपना देखने का रोग है। तीन बजे तक उसे नींद नहीं आती। सुबह, आठ बजे तक सोता है। क्या करे लुत्तो ? वही जो, पाँच या सात वर्ष की उम्र में एक रात को नींद उचटी, सो उचटी ही हुई है।' राजनीति को लेकर चलने वाले पात्रों में हैं मकबूल। नाम से भ्रम होता है कि खाँ साहब हैं। पर हैं वे पीताम्बर झा—नीलाम्बर झा के छोटे भाई। कॉमरेड हैं। दाढ़ी—'मकबूल खुद कैंची और रेजर से तराशते है, लेनिन की फोटो सामने रखकर, उससे एकदम मिलाकर।' और क को क, ख को ख, ग को ग कहने की आदत है, उनकी ! गरुड़धुज झा के पास दिन-रात मवक्किल चक्कर मारते हैं। वे चाहते हैं 'लड्डू लड़े तो बुँदिया झरे।'

प्रमुख पात्रों में शिवेन्द्र मिश्र का वर्णन करते हुए रेणु ने लिखा है—'शिवेन्द्र तो माखन-जैसे मन वाला है ! रक्त चम्पा की तरह शरीर का रंग, लाल ओठ ! छोटी-छोटी किन्तु सँवारी हुई मूँछें ! गाढ़े लाल रंग की धोती, केसरिया रेशमी मिर्जई, ढाकाई झीनी चदरी, जिसके कोर-छोर पर सुनहरी तारों की कारीगरी। उँगलियों में रत्नजटित अँगूठियाँ।' और लोग इससे डरते हैं। बाघ की तरह भय खाते हैं। जितेन्द्र 'परती-पुत्तर' हैं—इरावती के शब्दों में। वे भली प्रकार जान जाते हैं कि सामन्ती-प्रथा समाप्ति पर है और इसीलिए समय के साथ वे आगे बढ़ते हैं। स्त्री-पात्रों में ताजमनी, मलारी, गीता मिश्र सभी का चरित्रांकन सफलता पूर्वक किया गया है। विशेषता तो यह है कि छोटे-से-छोटा पात्र भी लेखक ने 'यों ही' नहीं छोड़ दिया है। ब्रेटी, उसके पति राजा महीपालसिंह, जितेन्द्र के प्रति स्नेह भाव रखने वाली इरावती, गीता मिश्र का दरबान हीरा, असंख्य पात्र अपनी चारित्रिक विशेषताएँ लेकर हमारे समक्ष आते हैं। चरित्रों की इस राशि को देखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि रेणु ने जीवन की विविधताओं से परिचय प्राप्त किया है और मानव-चरित्र

के अध्ययन में उनकी गहरी रुचि है। सन्तोष का विषय है कि पात्रों की सृष्टि करके उन्होंने उनके निर्वाह का भी सफल प्रयत्न किया है। नहीं तो कुछ उपन्यासकार अपने पात्रों को विचित्र रीति से विलुप्त कर देते हैं। इतने अधिक पात्रों की सृष्टि का उद्देश्य जीवन की विविध दिशाओं की ओर संकेत कर देना है। हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों की चरित्र-सृष्टि से यदि हम रेणु की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि उसमें मानवीय दृष्टि का प्रबल आग्रह है और चरित्रों के निर्माण में लेखक ने किंचित् तटस्थ रहने की कोशिश की है। प्रेमचन्द के पात्र प्रतिनिधि-पात्र हैं। वे 'टाइप' बनकर आते हैं। यशपाल और 'अश्क' के पात्र अपने सामाजिक पीठिका में बनते-बिगड़ते हैं। वे संस्कारजन्य भी होते हैं कभी-कभी। अज्ञेय और इलाचन्द्र के पात्रों की मानसिक भूमिका है, वे मनोविश्लेषण के अधिक निकट हैं। रेणु के पात्र अपनी व्यक्तिगत सबलता-दुर्बलता, आशा-आकांक्षा से समन्वित हैं। वे अपनी एक पृथक् सत्ता रखते हैं, अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व! कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे 'परती : परिकथा' का लेखक मनुष्य के असंख्य रूपों का ज्ञाता है और उनका चित्रकार भी। और इस दृष्टि से वह टॉल्सटाय और गेटे के अधिक समीप है।

अनेक कहानियों से भरे कथानक और विविध प्रकार के चरित्रों की विवेचना के अनन्तर हम यह देखना चाहेंगे कि उपन्यास में कुछ समस्याओं का, प्रश्नों का प्रतिपादन है कि नहीं। यों तो उपन्यासकार का यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसी राजनीतिज्ञ अथवा दार्शनिक की भाँति जीवन के प्रश्नों का उत्तर पेश करे, किन्तु 'जीवन-प्रतिम्बिब' होने के कारण इस साहित्य-रूप में भी कुछ समस्याएँ आ जाती हैं। 'मैला आँचल' को एक आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी जाती है—कुछ-कुछ 'हाऊ ग्रीन वाज़ माई वैली' आदि उपन्यासों की भाँति! इसमें बंगाल-बिहार के सन्धि-स्थल के मैथिल प्रदेश को परानपुर ग्राम के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वातावरण को जीवन्त रूप देने में लेखक ने निस्सन्देह सफलता पाई है। किन्तु आंचलिक उपन्यास की सृष्टि करने वाला लेखक जहाँ एक भू-भाग विशेष का सघन चित्र प्रस्तुत करता है, वहीं उसके माध्यम से उसे एक व्यापक जीवन से सम्पर्क करना होता है। यदि ऐसा न हो तो उपन्यास में प्रतिपादित समस्याएँ उसी भू-भाग की परिक्रमा करके रह जायँ। वास्तव में आंचलिक उपन्यास का कार्य इस दृष्टि से किंचित् कठिन होता है। अंचल के सघन चित्र को प्रस्तुत करके समस्याओं को एक व्यापक रूप देना पड़ता है। हम कह सकते हैं कि उसे गहराई और व्यापकता दोनों का समन्वय करना पड़ता है। टॉलस्टाय का 'अन्ना केरिनिना', जीद का 'स्ट्रेट इज़ द गेट', जैनेन्द्र का 'त्याग पत्र' जीवन के महत्त्वपूर्ण नैतिक प्रश्नों से जूझते हैं। उनमें गहराई है—एक प्रश्न-विशेष को लेकर। किन्तु उनमें किसी प्रदेश का अंकन नहीं है। और ऐसे तो बहुत-से साधारण उपन्यास गिनाए जा सकते हैं जिनमें एक कथा दिलचस्प ढंग से कह दी गई है, बिना किसी उद्देश्य के! हिन्दी के ही कुछ ख्यातिनामा उपन्यासों से ऐसी निराशा हो सकती है। 'परती : परिकथा' उस रूप में समस्यामूलक उपन्यास नहीं है, जिस रूप में हम इब्सन अथवा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को लेते हैं। किसी सीमा तक प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' एक समस्यामूलक उपन्यास है। 'परती : परिकथा' मुख्यतया कोसी के समीपवर्ती ग्रामीण जीवन की कहानी है। प्रमुख कथावस्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से सम्बन्धित है, यद्यपि गीत

मिश्र की डायरी में भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की भी सांकेतिक चर्चा है। ग्राम से सम्बन्ध रखने वाली कतिपय समस्याएँ विस्तार से उपन्यास में प्रविष्ट हुई हैं ? जमींदारी-उन्मूलन के अनन्तर भी भूमिहीनों की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। मुन्शी जलधारीलाल दास और रामपखारन-सिंह सिपाही अपने स्वामी शिवेन्द्र मिश्र की परानपुर इस्टेट को उनके पुत्र जितेन्द्र के लिए बचा ले जाते हैं। 'साबित कर दिया—परानपुर पट्टी पतनी है, ज़मीन खुदकाश्त है, बकाश्त है, रैयती हक है—आदि-आदि।' इसी के अनन्तर लैंड सर्वे सैटलमेएट होता है, जिसकी चर्चा बड़े विस्तार से उपन्यास में हुई है। पता नहीं इसमें कितना ऐतिहासिक सत्य है, किन्तु रेणु ने लिखा है—'हिन्दुस्तान में, सम्भवतः सबसे पहले पूर्णियाँ जिले पर ही लैएड सर्वे ऑपरेशन किया गया।' नाम के लिए तो ज़मींदारी समाप्त हो गई, किन्तु सभी पुराने ज़मींदार और राजा बड़े-बड़े कृषक बन बैठे, जिनके पास दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह हज़ार बीघे ज़मीन थी। ऐसी अवस्था में पुराने सामन्तों और भूमिहीन कृषकों में संघर्ष होना स्वाभाविक है। भूमि की इस समस्या को हम उपन्यास का मूल आधार कह सकते हैं। जितेन्द्रनाथ सामन्तवादी प्रथा के अन्तिम अवशेष हैं। किसी विशेष समाज-शास्त्रीय अथवा राजनीतिक प्रणाली का आग्रह न होने के कारण लेखक ने उपन्यास को एक दूसरी दिशा दी है—संघर्ष बहुत प्रखर नहीं होने पाया है। भीतर-ही-भीतर अग्नि प्रज्वलित होती रहती है, पर उसका विस्फोट एकाध ही अवसरों पर होता है। लुत्तो उस वर्ग का प्रतिनिधि है जो कृषकों को जितेन्द्र के विरोध में खड़ा करना चाहता है, पर उसके अन्य कारण भी हैं—पिता का प्रतिशोध, उच्च जाति से घृणा। जितेन्द्र नई परिस्थितियों से समझौता कर लेते हैं। वे ज़मीन को नया जीवन देते हैं। उनमें पृथ्वी के प्रति एक गहरी ममता है, वे परती-पुत्तर हैं, इसी कारण संघर्ष उग्र रूप धारण नहीं कर पाता।

भूमि की इसी समस्या से संग्रथित समस्या जातिवाद की है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे गाँव की आत्मा जातीय आधार पर विभक्त है, खण्डित है। सोलकन्ह टोली, भूमिहार टोली, नहिन टोली, मुसलमान टोली और विशिष्ट आभिजात्य का प्रतीक जितेन्द्र की हवेली। इसमें सन्देह नहीं कि जातीयता की समस्या को 'परती : परिकथा' में भली भाँति उभारा गया है। जितेन्द्र में स्वयं अधिक दोष नहीं है किन्तु साधारण वर्ग के व्यक्ति केवल इसीलिए इससे घृणा करते हैं क्योंकि वह आभिजात्य है, सवर्ण टोली का प्रतिनिधि है। उपन्यास में ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जिनका आधार यही जातीयता की भावना है। कायस्थ डॉक्टर के खिलाफ़ दर्ख़ास्त दी जाती है कि पैसा लेकर भी दूसरी जाति वालों को बढ़िया दवा नहीं देता, और कायस्थों को मुफ्त में दवा और सुई देकर इलाज करता है···। एक स्थान पर रेणु ने लिखा है—'पिछले आठ-दस वर्षों से जातिवाद ने काफ़ी जोर पकड़ा है। राजनीतिक पार्टियाँ भी जातिवाद की सहायता से संगठन करना जायज़ समझती हैं।' छोटी और बड़ी जातियों के भी उपभेद हैं। इस जातिवाद के विष का कुप्रभाव अनेक घटनाओं के माध्यम से आया है। जातिवाद के अनन्तर लेखक ने विभिन्न राजनीतिक दलों के दाव-पेंचों की चर्चा की है। वे ईमानदार और सच्चे नहीं हैं। लुत्तो 'मिसिर के बेटे को दागने के लिए' ही कांग्रेस में आया है। राजनीति में जो अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार प्रचलित हैं, जिनकी चर्चा लेखक ने की है। और इस दिशा में उसने विवरण भी दिए हैं, यद्यपि सांकेतिक शैली

में ही। इन समस्याओं के अतिरिक्त ग्रामीण जीवन के अनेक अन्ध-विश्वासों की ओर संकेत है। ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित इन प्रश्नों का उत्तर 'परती : परिकथा' में सीधा-सादा नहीं है। लेखक की दृष्टि में समस्या का समाधान सांस्कृतिक है, जिसके सहारे समस्त ग्रामीण समाज को एक सूत्र में आबद्ध किया जा सकता है। लोकमञ्च का स्थान उस एकता का प्रथम चरण किया है। सम्भव है 'कम्यूनिटी प्रॉजेक्ट' की विचार-धारा ने लेखक को प्रभावित किया हो। कोसी मैया के प्रतीकात्मक चित्रों में रेणु ने बड़ी सफलता प्राप्त की है।

ऊपर के इस किंचित् व्याख्यात्मक विवेचन को इसीलिए प्रस्तुत करना पड़ा ताकि 'परती : परिकथा' की भाव-धारा स्पष्ट हो सके। अब हम उसके शिल्प की चर्चा करना चाहेंगे, जो इस उपन्यास की ख्याति का आधार है। 'परती : परिकथा' के लेखक का अपनी धरती से गहरा परिचय है। उसने अपने चित्रित समाज को निकट, अत्यन्त निकट से देखा है, समझा है। कहा जा सकता है कि उसने अनुभवों को अनुभूति बनाया है। इसी कारण सर्वत्र हमें एक तन्मयता के दर्शन होते हैं। लेखक ने जिस आत्मीयता से जीवन को, वहाँ के चरित्रों को अंकित किया है वह सर्वथा स्तुत्य है। सर्वत्र पूर्णिया की एक सोंधी गन्ध उठती हुई दिखाई देती है। लेखक में वर्णन-क्षमता है। यद्यपि यहाँ पर यह भी कह देना होगा कि उपन्यासकार के लिए यह अपेक्षित है कि वह केवल महत्त्वपूर्ण विवरण ही प्रस्तुत करे, जो वातावरण की सजीवता में सहायक हो। उसे शरीर से अधिक आत्मा का ध्यान रखना पड़ता है। 'परती : परिकथा' में शरीर और आत्मा का सुन्दर समन्वित चित्र है। इस उपन्यास में लोक-उपादान (folk element) की प्रधानता है। लोक-कथाएँ, लोक-गीत, लोकोत्सव सब मिलाकर लोक-जीवन को अभिव्यक्ति देते हैं। कुछ लोक-कथाओं को उपन्यास के प्रमुख कथानक से जोड़ने का भी प्रयास रेणु ने किया है। पंच-चक्र की कथा ऐसी ही है। लोक-गीत उपन्यास को प्रगीत-तत्त्व से भर देते हैं। कार्डी और जार्ज इलियट के उपन्यासों में जो एक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसकी ही एक रूप-रेखा 'परती : परिकथा' में देखी जा सकती है। उपन्यास के शिल्प में, उसके विन्यास में एक प्रगीतात्मकता अवश्य है किन्तु रेणु का सन्देश बौद्धिक है, पर्याप्त व्यावहारिक! वादग्रस्त न होने के कारण कोई 'विशेष फ़ार्मूला' वह हमें नहीं देता, किन्तु सांस्कृतिक-सामाजिक मिलान भूमि की एक पीठिका तैयार कर देता है। भाषा की अपार क्षमता रेणु में है, जिसके कारण ही अनेक वर्णन चित्र बनकर आए हैं। मन के भावों को कई स्थलों पर गीत बना दिया है उन्होंने। एक स्थानिक भाषा को इतनी सामर्थ्य से भर देना लेखक के शब्द-शिल्प का ज्वलन्त प्रमाण है। उपन्यास में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ पर भाषा-सामर्थ्य को देखा जा सकता है। ध्वनि के संयोग से भाषा की व्यञ्जना-शक्ति और भी बढ़ गई है। अनेक देशज शब्दों का प्रयोग वातावरण की सृष्टि में सहायक है। 'सुन्नरि नैका' कथा का एक अंश है—'भोर में नाचती आई सुन्दरि नैका! देखा, एक कुण्ड पानी से लाबेलाब है। कुण्ड के पानी में पूर्णिमा का चाँद, सोने चाँदी को एक साथ घोलाने के लिए रुक गया थोड़ी देर—उस ताड़ की फुनगी के पास! नाची सुन्दरि नैका—छम्म-छम्माँ-आँ! रात-भर के थके राक्षसों को मानो महुए के रस में मधु घोलकर पिला दिया गया। झूम उठे-छम्म-छम्माँ!' हीर-राँझा, सोनी-महीवाल-जैसी प्रेम-कथाओं को उनकी तीव्रता में प्रस्तुत करने की क्षमता भाषा के कारण ही इस उपन्यास

में सम्भव हो सकी है। 'उसने कहा था' कहानी का जो शिल्प है वही इस उपन्यास में लोक-उपादानों से समन्वित होकर चला आया है।

'परती : परिकथा' प्रेमचन्द की परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। रेणु की हिन्दी उपन्यास-साहित्य को यह एक मूल्यवान् देन है। हम संक्षेप में प्रेमचन्द और रेणु पर एक तुलनात्मक दृष्टि भी डाल लेना चाहेंगे। 'परती : परिकथा' के पात्र देव-दानव वर्ग में विभाजित नहीं हैं। वे अपने 'वास्तविक रूप' में सामने हैं। एक विराट् चेतना की अभिव्यक्ति के लिए प्रेमचन्द ने अपने प्रिय पात्रों को बड़ी ऊँचाई पर पहुँचाया है। रेणु में ऐसा पक्षपात कम है। वास्तव में 'परती : परिकथा' ने किसी अंश तक एक बड़ी समस्या हल करने का प्रयत्न किया है—वह है नायक की समस्या। अधिकांश उपन्यास नायक की भूमिका पर चलते हैं। पर 'परती : परिकथा' में शीघ्र निर्णय करना कठिन हो जायगा कि नायकत्व किसे दिया जाय। 'गोदान' के होरी के समक्ष सभी व्यक्तित्व धूमिल पड़ जाते हैं, पर 'परती : परिकथा' के कई पात्र मन में उतर जाते हैं। निम्मल मामा की अपनी भाषा हमारा कम मनोरंजन नहीं करती। गीता मिश्र को आसानी से नहीं भुलाया जा सकता ? 'परती : परिकथा' में लोक-उपादान का बाहुल्य है—लोक-कथा, लोक-गीत के माध्यम से। प्रेमचन्द में इतना प्रबल आग्रह नहीं है। प्रेमचन्द के प्रतिनिधि पात्र अपने अन्तर्मन से नहीं जूझते, पर रेणु में यह मानसिक द्वन्द्व भी उभरकर आया है। प्रेमचन्द के चरित्रों की अपेक्षा रेणु के चरित्र अधिक सगतिक भी हैं।

'परती : परिकथा' से आलोचक को कुछ शिकायतें हो सकती हैं। मुझे ऐसा लगता है जैसे इस उपन्यास का लेखक अतिशय तटस्थ हो गया है—एक कमण्टेटर की भाँति। महान् लेखकों से यह आशा की जाती है कि चिन्तन-मनन के परिणामस्वरूप निर्मित होने वाली जीवन-दृष्टि कृति में प्रतिफलित होगी। चरित्र-सृष्टि के समय भले ही लेखक निर्विराग, निर्विकल्प रहे किन्तु यथातथ्यवाद की यह सीमा उसकी कृति को एक मानवीय दार्शनिक भूमिका से विलग कर देती है। बहुत समझदार पाठक ही 'परती : परिकथा' की व्यञ्जनाओं को समझ पायेंगे। 'परती : परिकथा' की भाषा को लेकर एक अच्छा खासा विवाद ही उठाया जा सकता है और लोग इसे खड़ी बोली का उपन्यास मानने से इन्कार कर सकते हैं। सम्भव है साधारणीकरण अथवा प्रेषणीयता के नाम पर लेखक शब्दों के साथ आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता बरत गया हो। 'परती : परिकथा' का समाज अपनी विषमताओं से संघर्ष करता हुआ एक नव-निर्माण में संलग्न है। उसमें आस्था और विश्वास के प्रबल स्वर हैं। हम रेणु के उस आगामी चरण की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करेंगे जब वे प्रौढ़ता के चरम बिन्दु पर पहुँचेंगे।



प्रो० गोपीकृष्ण प्रसाद

रेणु और 'परती : परिकथा'

'परती : परिकथा' उपन्यास हिन्दी में विवाद का विषय बन गया है। यह इस उपन्यास की महत्ता साबित करने के लिए अपने में भी काफी प्रमाण है। श्रीपत राय उन व्यक्तियों में से हैं, जिन्होंने 'मैला-आँचल' के प्रकाशन को एक महान् घटना माना था। लेकिन आज अचानक उन्होंने 'मैला आँचल' के लेखक की दूसरी कृति की, जिसमें 'मैला-आँचल' की अनेक विशेषताएँ मौजूद हैं, विध्वंसात्मक आलोचना की है। हमें यह सब रहस्यात्मक प्रतीत होता है। स्पष्टतः यह आलोचना असंतुलित प्रणाली की द्योतक है।

श्रीपत राय जी की आलोचना का सारांश यह है कि 'परती-परिकथा' में (१) कहीं कोई चालक मस्तिष्क नहीं है उसमें कोई केन्द्रीय सूत्र, कोई केन्द्रीय मेधा नहीं जो उसके सारे अन्तरंग को सुव्यवस्थित, सुनिश्चित गति प्रदान करे; (२) उसमें कोई जीवन-दृष्टि या जीवन दर्शन प्राप्त करना असम्भव है; (३) न तो उसमें घटनाओं की मांसलता है न विचारों की; (४) उपन्यास का निर्बल कथा-पक्ष इसकी विशृंखलता में बहुत बड़ी सीमा तक सहायक हुआ है; (५) इस प्रकार 'परती : परिकथा' अव्यवस्थित, अराजक, लक्ष्य-च्युत और इसलिए श्रीहीन लेखक का असुन्दर उदाहरण है। इन शब्दों में श्री श्रीपत राय जी ने 'परती : परिकथा' को निम्न कृति करार दिया है।

लेकिन मेरा मत यह है कि 'परती : परिकथा' उसी परम्परा की दूसरी कड़ी है जिसका आरम्भ 'मैला-आँचल' से होता है। इस उपन्यास में एक समन्वित दृष्टि (unified vision) है, प्रौढ़ चरित्र चित्रण है, प्रचुर मानवीय वेदनाएँ (इम्प्रेशन्स) हैं और इन सबके मूल में एक प्रौढ़ मस्तिष्क का संचालन है।

विशाल परती जमीन, वन्ध्या धरती की चौहद्दी पर परानपुर गाँव; पीड़ित भारतीय ग्रामीणों की शाश्वत-भूमि-लालसा नैतिक-अनैतिक सभी रूप धारण करती रहती है। लैण्ड सैटलमेंट तथा इस तरह की भूमि-सम्बन्धी सामयिक घटनाएँ ग्रामीणों के जीवन में उथल-पुथल मचाती हैं, किन्तु भारतीय गाँव और ग्रामीण बेजान होकर एक लीक पर स्थिर हैं। उपन्यास की विषय-वस्तु का यह एक पहलू है। दूसरा पहलू है, ग्रामीणों के जीवन में नवीन विज्ञान के माध्यम से आमूल परिवर्तन की कल्पना। कोशी डैम नाटिका का प्रदर्शन इस पहलू पर प्रकाश डालता है। दूसरी ओर जितेन्द्र मिश्र द्वारा वन्ध्या जमीन पर गुलाब की खेती एक रोमाण्टिक कल्पना होते हुए भी ग्रामीणों की दमित लालसा की अभिव्यक्ति है।

भारतीय ग्रामीणों की सामाजिक और नैतिक समस्याएँ भूमि की धुरी पर घूमती रहती हैं। और 'परती : परिकथा' के लेखक ने इसीलिए भूमि को अपनी दृष्टि का अवलम्बन,

माना है। लैंड सैटलमेंट के प्रसंग में प्रदर्शित ग्रामीणों की मनोवृत्तियाँ उस आलम्बन को पुष्ट करती हैं। जितेन्द्र और उसके विरोधियों का संघर्ष सभी उसी धुरी 'भूमि' पर आधारित हैं। इस प्रकार उपन्यासकार ने दिखाया है कि भूमि भारतीय ग्रामीणों के जीवन का केन्द्र है जिसके द्वारा उनकी सामाजिक और नैतिक समस्याएँ निर्मित और विघटित होती रहती हैं। जितेन्द्र, लुत्तो, वीरभद्दर, समसुद्दीन, रामनिहोरासिंह आदि पात्र पृथक् जीवनप्रद टुकड़े नहीं बल्कि लेखक के दृष्टि-विस्तार के सांकेतिक स्तम्भ हैं।

इस भूमि की धुरी ने गाँव में सूक्ष्म व्यक्तिगत मनोविज्ञान की सम्भावनाओं को ही प्रायः शेष कर दिया है। फिर इस प्रसंग में उसकी अपेक्षा करना अन्याय है। लुत्तो, वीरभद्र आदि की जो सामाजिक-नैतिक समस्या है वह जमीन को ही लेकर। लेखक ने बस उसीका उद्घाटन किया है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि नैतिक मूल्यों का विघटन हो चुका है इसलिए गाँव आज श्रीहीन हो गया है। पारस्परिक संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र है, वह स्थिर है वहाँ का जीवन इस तरह 'परती : परिकथा' में रेणु ने श्री-हीन, प्यार-विहीन, प्राण-विहीन मूर्तियों का दिव्य दर्शन कराया है। यह है उपन्यास में अभिव्यक्त मानवीय समवेदना। और लेखक का विश्वास यह है कि विज्ञान गाँव के स्वरूप को बदल सकता है। ये समवेदनाएँ और दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण से ही रेणु की जीवन-दृष्टि अभिव्यक्त होती है जो समन्वित और व्यापक है।

कहा जाता है कि युग-युग से सभी देशों के लेखकों द्वारा वर्णित विषयों का वर्गीकरण तीन तरह से किया जा सकता है—(क) प्रेम, (ख) धन, (ग) ईश्वर। लॉरेन्स, वर्जिनिया उल्फ-जैसे उपन्यासकारों ने प्रेम से सम्बद्ध मनोवैज्ञानिक, नैतिक और सामाजिक सम्भावनाओं का आविष्कार किया है। इसी तरह गोर्की, प्रेमचन्द और टैनसी विलियम्स (आधुनिक अमेरिकी नाटककार) द्वितीय वर्ग में आते हैं। जहाँ गोर्की और प्रेमचन्द में धनाभाव से उत्पन्न सामाजिक स्थितियों और तज्जनित मानवीय रूपों की अभिव्यक्ति है वहाँ टैनसी विलियम्स में अति विकसित औद्योगिक सभ्यता में रहने वाले अति सम्पन्न अमेरिकन व्यक्तियों के भौतिक और मनोवैज्ञानिक संघर्षों का उद्घाटन है। तीसरी ओर एलियट, जॉयस, ग्राहम ग्रीन धर्म और प्रेम से जनित विषयों का उद्घाटन करते हैं।

रेणु ने 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' में धन, भूमि ही जिसका हमारे गाँव में प्रतीक है, से जनित भौतिक और भावात्मक संघर्षों का प्रत्यक्षीकरण कराया है। यहाँ 'भौतिक' शब्द पर ध्यान दिया जाय। मेरे विचार से रेणु मूलतः वर्जिनिया उल्फ के शब्दों में भौतिक जगत् के उपन्यासकार हैं, आध्यात्मिक नहीं। यह भी स्मरण रहे, भूमि-प्रधान समाज में व्यक्ति का भूमि के साथ आर्थिक ही नहीं, भावात्मक सम्बन्ध भी रहता है। रेणु के उपन्यासों में यही भौतिक और भावात्मक सम्बन्धों का उद्घाटन है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में मुख्यतः सामाजिक अन्याय के चित्र हैं, रेणु के उपन्यासों में वह तो है ही, साथ ही उक्त भावात्मक और सामाजिक सम्बन्ध के विविध रूप भी।

परती जमीन—उपन्यास में एक व्यापक अर्थगर्भित और बुनियादी प्रतीक के रूप में आया है। और यह प्रतीक या केन्द्रीय आलम्बन मूल विषय-वस्तु को उभारता है, उसे स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। काव्य में जिस प्रकार विशेष आलम्बन चिन्ता या प्रतीक मूल भाव-

धारा को संग्रथित करता है, उसी तरह वन्ध्या धरती का चित्र ठीक Moby Dick के सफेद white की तरह उपन्यास के तत्वों को संयोजित करता है। परती की परिकथा, एक आँचल की विशेष घटना-मात्र नहीं, बल्कि उपन्यासकार ने उसे प्रतीक के उच्च स्तर पर स्थापित किया है। उपन्यास के इस प्रतीकात्मक पहलू को समझे बिना इसकी केन्द्रीय दृष्टि लक्षित नहीं होती है।

यहाँ पर हम 'परती : परिकथा' के स्वरूप (structure) का विश्लेषण कर लें। उपन्यास के प्रथम तीन अध्याय, अन्य उपन्यासों के विपरीत, बहुत अर्थगर्भित और रोचक हैं; ये विषय वस्तु उपस्थित करते हैं। पहले अध्याय में सैटिंग का वर्णन है। यहाँ रेणु की वर्णन-कला 'मैला आँचल' के आरम्भिक अध्यायों की याद दिलाती है।

"धूसर, वीरान, अन्तरहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती···धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं—बालू-चरों की पंक्तियाँ" यही है वह सैटिंग, वह रंगमंच जिस पर उपन्यास के सभी छोटे-बड़े पात्र अपना पार्ट अदा करते हैं, जिस पर घटनाएँ घटती हैं नदी के प्रवाह की तरह, क्योंकि कोई घटना इस उपन्यास में केन्द्रीय घटना के रूप में वर्णित नहीं हुई है। अन्त में, इसी पार्श्वभूमि में स्थानीय रंगों के अनेक मोहक दृश्य प्रदर्शित होते हैं। उपन्यासकार ने 'वन्ध्या-धरती' के इस सैटिंग से सम्बन्धित अनेक लोक-कथाओं से हमारा परिचय कराकर (अर्थात् सांस्कृतिक सम्बन्धों का उद्घाटन) तीव्र दुःखमूलक समवेदना की सृष्टि की है।

"परानपुर ही नहीं, सभी गाँव टूट रहे हैं। गाँव के परिवार टूट रहे हैं, व्यक्ति टूट रहा है—रोज-रोज, काँच के बरतनों की तरह" यह है एक चित्र। दूसरा चित्र है—"किन्तु, पण्डुकी का जित्तू आज भी सोया अधूरी कहानी का सपना देख रहा है। वन्ध्या रानी माँ का सारा सुख-ऐश्वर्य छिपा हुआ है सोने के एक कलस में, बिजूवन-बिजूखण्ड के राक्षस के पास। देवी का खाँड़ा कौन उठावे ? पंखराज घोड़े पर सवार होकर कौन जायगा कलस लाने ?

"कथा-गायक बूढ़ा भैंसवार सारे युग को बेईमान कह रहा है।···एक एक आदमी पाप-मुक्त जिस दिन हो जायगा, सारी परती हरी-भरी हो जायगी···प्राणों के नये-नये रंग उभरेंगे ! ?"—सैटिंग की तस्वीर पूरी हो जाती है। यहाँ से नाटक का आरम्भ हो जाता है। उपन्यास के दो आनुषंगिक पात्र भवेश, सुरपति इस 'रंगमंच' पर फ्लैश लाइट डालने का काम करते हैं। और जित्तन इस 'रंगमंच' पर होने वाले कार्य-व्यापारों का कहीं कारण, कहीं कर्ता और कहीं मात्र दर्शक है। जित्तन के गाँव में वापसी से वह भी लैण्ड सैटलमेण्ट के समय, एक वर्ग लुत्तो, वीर भद्र, के बीच सनसनी, उत्तेजना उथल-पुथल है। फलस्वरूप जित्तन के विरुद्ध साज़िश और आक्रमण—इन सब घटनाओं के मूल में जित्तन कारण है।

धूसर, अन्तरहीन कार्य प्रान्तर धरती की लाश में जान लाने की कोशिश में जित्तन एक कर्त्ता के रूप में आता है। अन्त में, परानपुर गाँव के लोगों में पारस्परिक तनाव और संघर्ष, प्रेम और ममता, आदर्श और रोमान्स, इन कार्य-व्यापारों का दर्शक है वह। इस तरह उपन्यास में अनेक चरित्र आते हैं, अनेक छोटी घटनाएँ घटती हैं, स्थानीय जीवन के अनेक चित्र प्रदर्शित होते हैं। वन्ध्या धरती के चित्र से उपन्यास का आरम्भ और उस मृत धरती

में जान लाने की कल्पना—इससे उपन्यास का अन्त है। स्पष्ट है, प्रथम तीन अध्यायों में अभिव्यक्त सैटिंग और जित्तन का चरित्र, ये दो तत्त्व सभी पात्रों और कार्य-व्यापारों को एक सूत्र में संघटित करते हैं। परिणामस्वरूप एक दृष्टि का निर्माण होता है, जो उपन्यास का मुख्य सञ्चालक तत्त्व है। यही दृष्टि सभी पात्रों के निर्माण और विभिन्न घटना-चित्रों के मूल में है। इस तरह उपन्यास में प्रच्छन्न एकता है, बिखराव नहीं, यद्यपि सतह से देखने में ऐसा ही प्रतीत होता है।

इस विश्लेषण से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह कि 'परती : परिकथा', पुनः वर्जिनिया उल्फ के शब्दों में, जीवन के अनुभव समूह (Impressions) अर्थात् इसमें विभिन्न प्रकार की अनुभूति के चित्र हैं। और यह चित्र-समूह मिलकर एक व्यापक संसार का निर्माण करते हैं। 'मैला आँचल' का भी आन्तरिक स्वरूप मेरे विचार से सही है। फिर अगर वह सफल कृति है तो 'परती : परिकथा' क्यों नहीं ?

रेणु के उपन्यास में चरित्र सिर्फ अपनी वैयक्तिकता लिये नहीं आते हैं, वे अधिकतर टाइप हैं लेकिन उन्हें अगर मिलाकर देखिये तो वे एक सम्बन्धित संसार का निर्माण करते हैं और जीवन की सर्वांगीण तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

श्रीपतरायजी ने 'परती : परिकथा' के मुख्य चरित्र जितेन्द्र का विस्तृत विश्लेषण करके यह दिखाया है कि वह चरित्र कितना कृत्रिम और मात्र आदर्श चरित्र है; अतिरञ्जित, अति उत्तुंगित है।

इसके विपरीत मेरे विचार से परती में एक सुगठित और पूर्ण चरित्र-निर्माण किया गया है। 'मैला आँचल' में ऐसे चरित्र के अभाव की चर्चा कतिपय आलोचकों ने की है। शायद उसीका प्रभाव है कि इसमें लेखक ने जित्तन के चरित्र-निर्माण में विशेष श्रम लगाया है और यह चरित्र चित्रण प्रौढ़ और वास्तविक है।

चरित्रों पर उपन्यास की मूल दृष्टि से पृथक् करके विचार करने पर पाठक श्रीपतरायजी की तरह निष्कर्ष निकाल सकता है। पर कथानक और चरित्र-चित्रण पर मेरे विचार से उच्च कला-कृति में मूल दृष्टि (vision) के माध्यम और प्रक्रिया के रूप में विचार होना चाहिए। जित्तन एक राजनीतिक क्रान्तिकारी के रूप में जीवन आरम्भ करता है। पर राजनीतिक पार्टी द्वारा पिस जाने पर राजनीतिक दुनिया नंगे रूप में उसके सामने आती है। इससे आज कौन इन्कार करेगा कि संवेदनशील व्यक्ति के लिए आधुनिक भारतीय राजनीतिक पार्टियों के अन्दर पारस्परिक शक्ति-संघर्ष में टिकना मुश्किल है। जित्तन तथा जयदेव, रामनिहोरा आदि इसी तथ्य और यथार्थता के जीते-जागते चित्र हैं। और तब जित्तन व्यापक मानवीय मार्ग पर चलकर मानवीय सम्भावनाओं का आविष्कार करता है—गाँव के खोये हुए प्यार को गाँव में वापस लाना चाहता है। गुलाब की खेती; वन्ध्या धरती को सार्थक बनाने के लिए कोशी डैम रंगमंच अतिरोमांटिक लग सकते हैं, पर गहराई में जाने पर वह स्वाभाविक आदर्श प्रतीत होगा।

श्री श्रीपतराय जी का आक्षेप है कि जित्तन को सर्वदा महान् दिखाया गया है जबकि वह बैकडोर से आया हुआ, भागा हुआ इन्सान है। यह ए० सी० ब्रेडेले-परम्परा की आलोचना है जिसके जवाब में एल० सी नाईट ने How many Children lady Macbeth had

शीर्षक निबन्ध में यह दिखाया कि नाटक (या उपन्यास-कहानी) के किसी पात्र के कार्य या व्यवहार की समीक्षा उसे एक पृथक् व्यक्ति के रूप में न करके, नाटक की मूल दृष्टि के परिवेश में की जानी चाहिए। इस तरह प्रश्न यह नहीं कि जित्तन ऐसा है या वैसा है बल्कि यह वह जो-कुछ भी है 'परती : परिकथा' की मूल दृष्टि के अनुकूल या उससे उद्भूत है या नहीं। अर्थात् देखना यह चाहिए कि जित्तन का चरित्र-चित्रण उपन्यास की मूल दृष्टि से समन्वित है या नहीं। इस सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि जित्तन परती : परिकथा की दृष्टि का अभिन्न अंग है।

और उपन्यास के अन्य चरित्र तो विभिन्न स्थानीय रंगों के प्रतीक हैं जो उपन्यास के संसार का निर्माण करते हैं। 'रेणु' के उपन्यासों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके द्वारा पाठक भारतीय गाँव की जीवित दुनिया में पहुँचकर विभिन्न मार्मिक दृश्यों का साक्षात्कार करता है। ये दृश्य पृथक् चित्र-मात्र नहीं बल्कि समन्वित रूप से एक संसार प्रस्तुत करते हैं जो भारतीय जीवन की सबसे बड़ी यथार्थता है। जित्तन तथा अन्य चरित्र वन्ध्या भूभाग की दुनिया के यथार्थ, उत्तुंगित नहीं, मानव हैं जो स्थिर हैं और जीवन्त भी हैं और भविष्य की कल्पना में लीन होते हैं और हम पाठक भी। माना कि उनकी आन्तरिक या आध्यात्मिक सम्भावनाओं का आविष्कार नहीं पर वह सभी प्रकार के उपन्यासों के लिए आवश्यक भी नहीं। भौतिक स्तर पर रेणु के उपन्यास प्रेमचन्द के बाद श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। श्रीपतराय जी ने जो बुनियादी भूल की है वह यह कि उन्होंने 'परती : परिकथा' के मूल स्वरूप की अवहेलना करके उसकी समीक्षा प्रेमचन्दीय उपन्यासों के मानदण्ड पर की है। पर यह तो आलोचना-सिद्धान्त का गलत प्रयोग हुआ।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास की दो धाराएँ चलीं—एक जैनेन्द्र, अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-धारा और भौतिकवादी उपन्यासों की दूसरी धारा। इस दूसरे वर्ग से मेरा मतलब भौतिकवादी दृष्टिकोण से नहीं बल्कि वहिर्जगत् की घटनाओं-व्यापारों पर रचित कृतियों की प्रणाली से है। रेणु इसी धारा के श्रेष्ठ लेखक हैं। यह ठीक है कि इस परम्परा के कुछ उपन्यासकार जैसे नागार्जुन बहुत अधिक भौतिक और थोड़े हैं, जो उन्हें निम्न स्तर का कलाकार ठहराता है।

इस धारा के अन्य प्रमुख लेखक हैं यशपाल। वे घटनाओं के सुसम्बद्ध संयोजन द्वारा शहरी समाज के दुःख-दर्द पर प्रकाश डालते हैं। इस तरह उनके उपन्यास घटनात्मक ही होते हैं, उनमें कोई मौलिक दृष्टि नहीं होती। दूसरे शब्दों में, उनकी रचनाएँ कला की दृष्टि से सारगर्भ नहीं हैं। किन्तु रेणु के दोनों उपन्यासों का अनुभव-क्षेत्र व्यापक है। इनमें परम्परागत अर्थ में घटनाएँ नहीं बल्कि ग्रामीण जीवन के बहुरंगी चित्र हैं, जो अन्त में एक समन्वित दृष्टि की उद्भावना करते हैं। और उपन्यासकार रेणु की अपनी निश्चित जीवन-कल्पना और आस्था है। उससे श्री श्रीपत राय जी का मतभेद हो सकता है लेकिन उसका अभाव नहीं है। 'मैला आँचल' में वादों के कटघरे से उठकर गाँव की मिट्टी में परिवार की प्राथमिक इकाई में रेणु ने जीवन का सत्य परखा। 'परती : परिकथा' में गाँव के खोये हुए सियार के लिए प्रच्छन्न विषाद व्यक्त है। लेकिन साथ ही लेखक मानवीयता और विज्ञान के समन्वय की भी कल्पना करता है। 'तुमि पारिबे' 'तुमि पारिबे' डा० रॉय चौधरी की यह

उक्ति और जित्तन, इरावती की कल्पना प्रत्यक्षतः अति रोमाण्टिक प्रतीत होती है। लेकिन वह है मूल दृष्टि से उत्पन्न, और चूँकि मूल दृष्टि में प्रौढ़ता है अतएव ये चरित्र प्रत्यक्षतः रोमाण्टिक, आदर्शवादी होते हुए भी कलात्मक दृष्टि से सार्थक हैं।

इतना सब कहने के बाद हम 'परती : परिकथा' की दुर्बलताओं से भी परिचित हैं। एक दुर्बलता है जित्तन-ताजमनी का प्रेम-प्रसंग। यह प्रसंग उपन्यास के कलात्मक सन्तुलन को थोड़ा बिगाड़ देता है। उपन्यास में वर्णित प्रसंगों की मूलभूत अनुभूतियों का एक संतुलन स्थापित होना चाहिए। जित्तन-ताजमनी का प्रसंग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और उपन्यास के कल्पना-विस्तार की दृष्टि से अतिशयोक्ति की सीमा पर पहुँच जाता है। इससे उपन्यास में किंचित् भावात्मक असन्तुलन आ गया है। यह असन्तुलन इसलिए प्रतीत होता है कि ताजमनी का चरित्र पूर्ण रूप से उपन्यास की मूल दृष्टि से समन्वित नहीं हो पाता है। यह लेखक की एक कलात्मक त्रुटि है।

उपन्यास की एक अन्य दुर्बलता है यथार्थता के साथ रोमान्स का मेल। रोज से सम्बन्धित घटनाएँ मध्ययुगीन रोमान्स की याद दिलाती हैं। लेखक का शायद उद्देश्य है, बिहार में निलहों के युग का वातावरण उपस्थित करना। इसलिए इस प्रसंग को ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण की कलात्मक पद्धति के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। मलारी का प्रेम-प्रसंग भी कथा की दुर्बलता का अंश है, यह साहसिक आदर्शवाद और प्रचलित हिन्दी-चलचित्रों के रोमान्स की याद मिलाता है।

'परती : परिकथा' की ये छोटी-मोटी दुर्बलताएँ हैं। लेकिन कुल मिलाकर देखने पर हिन्दी में 'मैला आँचल' के बाद यह दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है। रेणु की सबसे बड़ी शक्ति है ग्रामीण जीवन के आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तरों का व्यापक और गहरा उद्घाटन; उसकी लोक-रीति और उसके लोक-व्यवहार की पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति; जिससे एक नवीन दृष्टि का उन्मेष होता है। और यह दृष्टि स्वतन्त्र है, पूर्व स्वीकृत सिद्धान्तों से ग्रस्त बँधी दृष्टि (Armed vision) नहीं।



श्री धनञ्जय वर्मा

'परती : परिकथा' : एक स्वतन्त्र कला-कृति

परम्परा और इतिहास

'परती : परिकथा' का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य में एक ऐतिहासिक घटना मानी जानी चाहिए। अनिवार्यतः हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की परम्परा विकसित हुई है और इस परम्परा में अनुपम हस्ताक्षर रेणुजी का माना जायगा। 'गोदान' में भारतीय ग्राम के जिन चित्रों की रेखाएँ हैं वे सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। 'गोदान' के होरी का चरित्र प्रेमचन्द की अन्तिम और भव्यतम कल्पना है। प्रगति का आदर्श 'गोदान' बना था। आज भी वह आदर्श है। इस आदर्श पर चलकर हिन्दी-कथा साहित्य ने यथेष्ट विकास-मान चरण देखे हैं। जिन परिवेशों में उपन्यास-साहित्य समृद्ध हुआ है उनमें परिकथा का परिवेश सबसे महत्त्वपूर्ण है।

परिकथा उस परम्परा के विकास की अग्रिम कथा है और रेणुजी कई अर्थों में प्रेमचन्द जी से आगे बढ़े हुए हैं। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की प्रवृत्तियों का समीकरण परिकथा करती है। हिन्दी-उपन्यास में यह प्रेमचन्द के आगे का चरण है।

प्रेमचन्द का आदि महत्त्व उनकी ग्रामीण सहानुभूति और ग्राम्य-जीवन में उनकी गहरी पैठ का है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारत के किसान की आत्मा के स्वर हैं—उनकी जय-पराजय, उनका व्यक्तित्व, समाज, उनके रीति और रिवाज, उनकी भाषा और संस्कृति। प्रेमचन्द जन-कलाकार भी इन्हीं अर्थों में हैं। रेणुजी में इस दृष्टि से यथेष्ट विकास प्राप्त होता है। ग्रामीणों के प्रति सहानुभूति तो उनकी है ही, उनकी पैठ भी उस जीवन में प्रेमचन्द से कम नहीं है। परानपुर के ग्रामीणों के घर के भीतरी कोने से लेकर, उनके वैयक्तिक सम्बन्धों, उनके सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों तक से रेणुजी का गहरा परिचय है। उन ग्रामीणों के लोक जीवन, रीति-नीति, आचार-विचार, भाषा और संस्कृति का उनका अध्ययन एक नृतत्त्व-शास्त्री (Anthropologist) का-सा है। 'गोदान' में होरी प्रेमचन्द की सफलता है, परिकथा का प्रत्येक चरित्र अपनी एक पूर्णता रखता है। परिकथा में अनेक कथाएँ हैं और वे ग्राम-जीवन की एक कथा से आबद्ध हैं। उसमें विस्तार और व्यापकता है। परिकथा स्वतन्त्रता के पश्चात् जमींदारी उन्मूलन और भूमि के पुनर्विभाजन की पृष्ठभूमि पर ग्राम्य-जीवन का चित्र है। अनिवार्यतः उसमें युगीन नवीन समस्याएँ हैं और इस युग के संस्कृत और विकृत दोनों चित्र उसमें प्रतिबिम्बित हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् युग की प्रवृत्तियों के समाहार का सफल प्रयास परिकथा करती है। इसमें इस युग की प्रवृत्तियों के वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रों का तटस्थ अंकन है और सम्पूर्ण उत्तर-स्वतन्त्रता-काल का

पहला पूर्ण चित्र यह है।

पिछले दिनों उपन्यास ने एक नया मोड़ लिया है। उसकी प्रवृत्ति लोक-रंग (local colour) एवं आंचलिकता की ओर रही है। उपन्यासों में लोक-रंगों को उभारकर किसी अंचल-विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यास को 'आंचलिक उपन्यास' कहा जायगा। 'मैला आँचल' इस कोटि का समृद्ध उदाहरण है। प्रेमचन्द में भी आंचलिकता के दर्शन होते हैं परन्तु वहाँ अंचल प्रधान न होकर युग-प्रधान हो गया है। उनमें लोक-रंग, यथा—लोक जीवन के गीतों, कहावतों, कथाओं, आचारों का वह प्रतिविम्ब नहीं, जो इधर कुछ उपन्यासों में मिलता है। सच तो यह है कि आंचलिक उपन्यासों का यह इतिहास अभी नया ही है, पर इस नये इतिहास की उपलब्धि—परिकथा ही इस नये विकास की शक्ति को प्रमाणित करती है। परिकथा हिन्दी की समस्त औपन्यासिक आंचलिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व कर सकेगी। पूर्णिया परिक्षेत्र का सम्पूर्ण अंचल और विशेषतः परानपुर ग्राम जैसे मूर्तिमान और मुखर हो उठा हो। सफल आंचलिक उपन्यासों का एक निकष उसके चित्रों की अंचल-सापेक्ष्यता और जीवन के पूर्ण चित्रण का होगा। परिकथा में अंचल का पूरा-पूरा परिचय है, चित्रित जीवन में जितना विस्तार है वह उसकी पूर्णता के अन्तर्भाव के लिए यथेष्ट है। समग्र उपन्यास की सफलता के कारण हमारा विश्वास है कि यदि इस परम्परा पर हिन्दी का साहित्य चला तो विश्व-साहित्य में हमारा कथा-साहित्य समादृत होगा।

व्यक्ति और समाज

परिकथा की सबसे बड़ी विशेषता, जो बहुत दिनों के बाद हिन्दी में देखने में आई है—उपन्यास का निर्वैयक्तिक रूप है। शरत् के उपन्यास इस दृष्टि से आदर्श हैं। शरत् सरीखे निरपेक्ष और तटस्थ लेखक उपन्यास-जगत् में न्यून हैं। शरत् की कदाचित् यही सबसे बड़ी विशेषता थी। कथा और पात्रों के बीच में शरत् कहीं नहीं दीखते। ऐसा लगता है कि शरत् पात्रों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करके दूर हट जाते हैं। उनके पात्र क्या कैसा कर रहे हैं उन्हें इससे कुछ मतलब नहीं। पाठक को अपनी कथा के मर्मस्थलों में छोड़कर शरत् दूर खड़े रहते हैं। उनके पाठक हँसते हैं या रोते हैं उन्हें इससे कोई मतलब नहीं। वे अपने पात्रों के विषय में कभी कोई अभिवक्तृता नहीं देते। कदाचित् इसीलिए शरत् के पात्र हमारे अधिक निकट हैं। प्रेमचन्द में यह नहीं है। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में सदैव विद्यमान रहते हैं। उनके पात्र उनके अनुसार विकसित होते हैं। अपने पात्रों के विषय में भी वे ही अधिक कहते हैं। रेणुजी लेकिन पूर्णतः निर्वैयक्तिक चित्रण करते हैं। पूरी परिकथा में ऐसा नहीं लगेगा कि अमुक पात्र के विषय में रेणुजी ने कुछ कहा है या अमुक चरित्र के प्रति रेणुजी की अधिक सहानुभूति या पक्षपात है। उसकी कोई पैरवी वे कर रहे हों। अनेक कथाओं के होते हुए भी उनका विकास स्वतन्त्र ही हुआ है। कोई नियमन या प्रयत्न लेखक का प्रयास-सिद्ध नहीं प्रतीत होता। साहित्य की निर्वैयक्तिता यही कहलाती है। पर इसका निष्कर्ष यह नहीं है कि परिकथा रेणुजी के व्यक्तित्व से शून्य है। उसमें उनका व्यक्तित्व है और पूर्ण है। उसकी अभिव्यक्ति, लेकिन, प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। उनके पात्रों और कथाओं

के चुनाव में, उनके अनुभव में वह झाँकता है। परिकथा इस बात का उदाहरण होगी कि कोई लेखक कृति में कितना डूबकर लिख सकता है, पर साथ ही कितना तटस्थ और निरपेक्ष भी रह सकता है। व्यक्तित्व और निर्वैयक्तिता का यह समतोल परिकथा में अपूर्व है।

इधर साहित्य में सामाजिक तत्त्व का आग्रह तीव्र हो चला है। समाज के चित्रण में उपन्यासों का आदर्श आज तक 'गोदान' ही रहा है। 'परिकथा' का विकास इस दिशा में भी हुआ है। 'परिकथा' में अनेक चित्र हैं विभिन्न समाज के, समग्र समाज के भी। यहाँ वैयक्तिक समस्याओं का हल है—मन-मुटावकर, मिल-बैठकर। यहाँ ग्राम की समस्याओं का हल है—जमींदार का विरोध कर, राजनीतिक दाँव-पेंच से। यहाँ राजनीतिक समस्याओं का हल है आक्रोश प्रदर्शन कर और समझौता कर। हरिजन-समाज से लेकर नट और ब्राह्मण-समाज। घर की आन्तरिक सीमाओं से लेकर पनघट और सम्पूर्ण ग्राम की समस्याओं का चित्रण यहाँ है। राजनीतिक दलों को लेकर परानपुर की सीमा से बाहर पटना और कलकत्ता तक के दलों का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस चित्रण में रेणुजी में कहीं भी मानसिक शैथिल्य नहीं। किसी विशेष राजनीतिक दल से सम्बद्ध, 'परिकथा' के कारण, उन्हें नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्र रहकर सबका दर्शन उन्होंने किया है—साम्यवादी, समाजवादी, कांग्रेसी, भूदानी।—सबका निरपेक्ष चित्रण और उनकी न्यूनताओं पर कहीं भी पक्षपात नहीं। आज के राजनीतिक दलों की स्खलित स्थिति का चित्रण भी 'परिकथा' करती है। ग्रामीण संस्कृति में उनका क्या देय,अदेय है यह 'परिकथा' बतायगी। विशृंखलित होती हुई ज़मींदारी प्रथा के ढहते हुए समाज के चित्र, धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानों में अन्धी श्रद्धा से लगे भोले-भाले किसान, विश्वविद्यालयों से लौटे हुए नई रोशनी के छात्र, उनकी ग्राम-सापेक्ष्य समस्याएँ; अन्तर्जातीय सम्बन्धों की समस्याएँ भी यहाँ विचारित हैं। कहने का तात्पर्य यह कि परिक्षेत्र के समाज का पूर्ण चित्र 'परिकथा' प्रस्तुत करती है। समाज के इस चित्रण में रेणुजी के जागरूक चेता की गहरी पैठ और गहन अध्ययन के दर्शन होते हैं।

कृति में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक महत्त्व का निर्देश 'परिकथा' में मिलेगा। भारतीय ग्राम-समाज में इतना घुल-मिलकर देखना प्रेमचन्द के बाद रेणु में ही मिलता है। 'गोदान' के बाद 'परिकथा' ने ही साहित्य के सामाजिक मूल्यों की पूर्णतः तुष्टि की है।

प्रगति और प्रयोग

प्रगति पर विचार इधर राजनीतिक विचार-सरणियों के आग्रह से ही होते रहे हैं। प्रगति का सही अर्थ, लेकिन, परम्परा की पृष्ठभूमि पर अग्रिम विकास होना चाहिए। मानवीय व्यापकता का उत्तरोत्तर विकास ही प्रगति का लक्षण हो सकता है। इस अर्थ में 'परिकथा' पूर्ण प्रगतिशील है। प्रगतिशील लेखकों में नागार्जुन का नाम लिया जाता है। नागार्जुन के व्यंग्य बड़े तीखे और समस्याओं में उनकी पैठ गहरी है। लेकिन रेणु में नागार्जुन से अधिक विस्तार और व्यापकता है। नागार्जुन में जहाँ दृष्टिकोण का आग्रह मिल जायगा वहाँ रेणु उससे निर्लिप्त हैं। रेणु के व्यंग्य इतने तीखे अवश्य नहीं हैं पर प्रभाव उनका कुण्ठित नहीं है। राजनीतिक दलबन्दियों से ग्रामीणों के हित पर उनके व्यंग्य प्रभावशाली हैं। राजनीतिक दलों के नेतागण अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भोली ग्रामीण जनता को किस

तरह बहकाते हैं—यह 'परिकथा' बतायगी। कम्युनिस्ट मक़बूल, कांग्रेसी लुत्तो, समाजवादी सुचिलाल मड़र (पोंपी) अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और विद्वेषों के लिए सम्पूर्ण ग्रामीण जनता में अनावश्यक जोश फैलाकर उनका अहित ही करते हैं। भूदान-आन्दोलन, सामुदायिक विकास-योजना का ग़लत अर्थ बताकर ये नेता जनता को ग़लत रास्ते पर ले जाते हैं, ग्राम-पंचायत के चुनावों में अनुचित व्यक्ति को सहारा देकर अपनी स्वार्थ-पूर्ति करते हैं। यह तो हुई ग्राम-राजनीति। यहाँ से निकलकर रेणुजी ने कुबेरसिंह के माध्यम से नगर-राजनीति की शून्यता और अव्यवस्था पर भी प्रकाश डाला है।

'परिकथा' में मानवीय व्यापकता का विस्तार भी हुआ है। मानव में आशा और आस्था के विकसित सूत्र इस कथा में हैं। प्रगति की ओर इसका सबसे सफल चरण सार्वभौमिकता का है। यह सार्वभौमिकता उसे आँचलिक उपन्यास होते हुए भी विस्तृत भूमि पर लाती है। मिसेज़ रोज़वुड आंग्ल होती हुई भी भारत की धरती के प्रति आकर्पित हैं, आकर्षित ही नहीं उसे अपनाती भी हैं। मिसेज़ रोज़वुड हठात् कार्नेलिया की याद दिलाती हैं। दोनों का भारतीय प्रेम और भावनाएँ समानता रखती हैं। 'परिकथा' की सार्वजनीनता उसके वर्गगत चित्रण से निकलने में है। प्रेमचन्द में यह वर्गगत चित्रण मिलता है। ऊपर हमने कहा है कि 'परिकथा' का प्रत्येक चरित्र प्रतिनिधित्व लेकर चलता है। प्रेमचन्द के चरित्र जहाँ वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं वहाँ रेणु के चरित्र वैयक्तिक दृष्टि से भी पूर्ण हैं। 'परिकथा' में जिन समस्याओं का संस्पर्श है वे सम्पूर्ण देश और राष्ट्र की समस्याएँ हैं। परानपुर की कथा भारत के किसी भी ग्राम की कथा हो सकती है। इस दृष्टि से वह यथार्थवादी शिल्प का ही अंग है।

दैनन्दिनी (डायरी) के रूप में भी उपन्यासों के नये प्रयोग हुए हैं। आंचलिक उपन्यास भी नये प्रयोग ही माने जायँगे। 'परिकथा' में मिसेज़ रोज़वुड (गीता मिश्रा) की डायरी एक स्वतन्त्र उपन्यास की सामग्री है। हमारी धारणा है कि 'परिकथा' भी दैनन्दिनी के रूप में लिखी जाकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुई है। स्थानों का इतना सूक्ष्म चित्रण, घटनाओं का इतना सम्पूर्ण (Graphic) विवरण डायरी-लेखक की उपलब्धि ही हो सकती है। 'परिकथा' दैनन्दिनी और रिपोर्ताज शैली का उपन्यास कहा जा सकता है। 'परिकथा' का सबसे सफल प्रयोग भाषा का है। इतनी अकृत्रिम होते हुए भी इतनी शिष्ट और साहित्यिक भाषा के दर्शन इधर के उपन्यासों में कम ही मिलते हैं। गद्य की इस भाषा में काव्य का-सा सम्मोहन है और किसी ने उचित ही कहा है कि "गद्य में भी मिथिला की भूमि विद्यापति पैदा कर सकती है, यह मुझे विश्वास हो गया।"

हमारी धारणा है कि 'परिकथा' प्रगति और प्रयोग का सही प्रतिनिधित्व और उचित मार्ग-दर्शन कर सकती है। 'परिकथा' में एक नई परम्परा के आरम्भिक सूत्र हैं, जो विकसित हुए तो हिन्दी के कथा-साहित्य को यथेष्ट समृद्धि प्रदान करेंगे।

शिल्प

'परिकथा' की महत्तम सफलता उसके शिल्प की है। हिन्दी के पिछले उपन्यासों में किसी का शिल्प-प्रयोग इतना सफल नहीं रहा। शिल्प का आदि निकष उसकी रोचकता है।

यद्यपि 'परिकथा' का पूर्वांश इस निकष पर खरा नहीं है तथापि समग्रतः उपन्यास सफल बन पड़ा है। रेणुजी की सबसे बड़ी विशेषता चित्रण की है। 'परिकथा' में चरित्र-बाहुल्य है। इतने अधिक पात्र उपन्यासों में कम ही देखे गए हैं। चरित्र की पाँच-सात रेखाएँ हैं और सम्पूर्ण व्यक्तित्व सम्मुख प्रस्तुत हो गया है। परिकथा के गरुड भा, भिम्मल मामा, लुत्तो बाबू, मकबूल, दिले, सुचित, सुरपतिराव, भवेश, गोविन्दो, शिवेन्द्र मिश्रा, जितेन्द्र मिश्रा, मिसेज रोजवुड, मि० एन्थोनी, मिस्टर फार्कर, ताजमनी, मलारी, इरावती, गीता मिश्रा, रानी माँ, सामबत्तीसी और अन्य अनेक चरित्र अपने-आपमें पूर्ण हैं, तब भी विशेषता तो यही है कि इस चरित्र-बाहुल्य में भी कोई चरित्र किसी से जरा भी नहीं मिलता। प्रत्येक चरित्र की वैयक्तिक विशेषताओं से लेकर उसके समग्र व्यक्तित्व जीवन का रेखाचित्र 'परिकथा' प्रस्तुत करती है। परिकथा में कथा-बाहुल्य भी है। कथा के साथ कथाएँ चलती हैं पर उन कथाओं में भी कोई समानता नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि परिकथा की अमुक कथा अपूर्ण रह गई हो। प्रत्येक प्रासंगिक कथा भी पूर्णतया विकसित है। इतनी कथाओं को समेटकर चलना उपन्यास की बहुत बड़ी सफलता मानी जायगी। परिकथा आंचलिकता और लोक-रंग को लेकर चली है। इस ओर की उसकी सफलता भी अप्रतिभ है। लोक-साहित्य के विभिन्न उपादानों-लोकगीत (folk songs), लोक-कथाएँ (folk tales), लोक-पहेलियाँ (folk Riddles) और लोक-कहावतों (folk Adages) से 'परिकथा' भरी पड़ी है। लोक-गीतों की आधी-पूरी कड़ी पूरे उपन्यास में प्राण-संचार कर जाती है। लोक-साहित्य का इतना पूर्ण अध्ययन उपन्यासों के माध्यम से कम ही आया है। अब तक के उपन्यासों (आंचलिक) में 'परिकथा' सर्वश्रेष्ठ मानी जायगी। अंचल के लोक-व्यवहार, रीति-नीति, आचार-विचार, धार्मिक विश्वास, क्रिया-कर्म, लोक-मनोरंजन विभिन्न साधनों का पूर्ण विवरण और चित्रण परिकथा करती है। अभी तक काव्य में ही ध्वनि-चित्र सुने और देखे गए हैं लेकिन उपन्यास में गद्य के माध्यम से ध्वनि-चित्र 'परिकथा' में ही मिलेंगे। पशु-पक्षियों की बोलियाँ, साजों की ध्वनियाँ, व्यक्तियों की वैयक्तिक स्वर-प्रणालियाँ शब्दों में बाँधी गई हैं। इसका समस्त श्रेय रेणु जी की भाषा को है। साधारण बोल-चाल की भाषा (Coloquial Language) में लोक-रंग उभरे हैं। भाषा में एक अकृत्रिमता है—फिर भी वह असाहित्यिक नहीं। सर्वत्र भाषा का सौष्ठव है और अपनी परिनिष्ठा से स्खलित वह नहीं हुई। गद्य की भाषा का यह परिष्कार है, उसकी शक्ति का यह विस्तार है—जो परिकथा ही बताती है जन-भाषा के प्रयोग में यह प्रेमचन्द से आगे का चरण है।

'परिकथा' के विषय में एक शंका उठाई जा सकती है। उसकी आधिकारिक कथा को लेकर। 'परिकथा' में यद्यपि दो रूढ़ियों के जीवन की कथा है जिसमें पहली पीढ़ी की कथा दैनन्दिनी के रूप में चलती है दूसरी की प्रत्यक्षतः; तथापि हमारी धारणा है कि वह एक ग्राम के विकास की ही कथा है और समस्त कथाएँ इसी ओर प्रधावित हैं। प्रत्यक्षतः देखा जाय तो जितेन्द्र मिश्र की कथा को प्रमुखता दी जा सकती है। गाँव का पूरा विरोध उसीको लेकर चला है। फिर भी हमारा मानना है कि 'परिकथा' चली आती हुई हमारी औपन्यासिक मान्यताओं में क्रान्ति उपस्थित करती हैं। यह आवश्यकता तो नहीं कि उपन्यास में कोई प्रमुख कथानक अनिवार्यतः हो। और आज के कथा-साहित्य की प्रवृत्ति तो कथानक के ह्रास

की ओर ही है। उपन्यास के नायक को लेकर भी प्रश्न उठाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में भी हमारा विचार है कि परिकथा पहली बार बिना नायक के उपन्यास-विधान का प्रयत्न है। 'गोदान' की पूर्ण सफलता 'होरी' का चरित्र है। अवश्य 'परिकथा' ने 'होरी' का-सा कोई चरित्र निर्मित नहीं किया, परन्तु उसके प्रत्येक चरित्र 'होरी' की विशेषताओं को अलग-अलग लेकर चलते हैं और सब मिल-जुलकर वे 'होरी' के चरित्र से अधिक प्रभावशाली हैं। जितेन्द्र मिश्र में नायक होने की कुछ सम्भावनाएँ है पर उसे नायक इसलिए नहीं कहा जा सकता कि परानपुर के जीवन-विकास में उसका आंशिक हाथ ही है। जिस उद्देश्य को लेकर 'परिकथा' का प्रणयन हुआ है जितेन्द्र मिश्र उसके केन्द्र नहीं हैं, न ही उनकी कथा अन्य कथाओं से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। फिर भी कोई चाहे तो जितेन्द्र मिश्रा और ताजमनी को लेकर नायक-नायिका की कल्पना कर सकता है। सच तो यह है कि 'परिकथा' कथानक और चरित्र की योजना स्वतन्त्र नहीं है, वह सम्पूर्ण जीवन-चित्र का अंग बनकर आई है। इस ओर भी यह रेणु जी का विकासमान सफल चरण देखा जा सकता है।

एक मूलभूत प्रश्न : जीवन-दर्शन

क्या यह आवश्यक है कि लेखक किसी विशेष जीवन-दर्शन का पल्ला पकड़े ही? क्या अनिवार्यतः यह जीवन-दर्शन का निरूपण उपन्यास को प्रबोधक (Didactic) नहीं बना देता? हमारा सोचना है कि 'परिकथा' का यह अभाव एक स्वतन्त्र, तटस्थ लेखक का अनिवार्य परिणाम है। किसी विशेष दृष्टिकोण के आग्रह के अभाव में रेणु जी ने जीवन के विभिन्न रूपों, स्थितियों में पैठकर उन्हें चित्रित भर कर दिया है। उन्होंने यह आवश्यक नहीं समझा कि उन स्थितियों, रूपों की कोई केन्द्राभिगामी प्रवृत्ति को दृष्टिकोण-विशेष से देखकर कोई वर्गीय जीवन-दर्शन समुपस्थित किया जाय। उपन्यास की यथार्थवादी कला में यह प्रकृतिवादी शिल्प खूब फबता है।

कोई जीवन-दर्शन का आग्रह ही चाहे तो जीवन के विकासवादी और उन्नतोन्मुख-दर्शन को 'परिकथा' में देख सकता है। उन्होंने विभिन्न चरित्रों के विभिन्न जीवन का दर्शन और समग्रतः एक ग्राम के जीवन का विकासवादी अध्ययन किया है और उसे उचित यथार्थवादी कला के माध्यम से प्रस्तुत कर दिया है। यह संवेदनशील पाठकों का काम है कि अपने उपयोग की सामग्री वे ढूँढ़ लें। एक तटस्थ और निर्लिप्त लेखक का कार्य इससे अधिक कुछ हो भी नहीं सकता।

'परती : परिकथा' एक ऐसी कृति है जिसकी सफलता के कारण औपन्यासिक समीक्षा की चली आती हुई मान्यताओं में भी परिवर्तन करना होगा। प्रत्येक श्रेष्ठ कला-कृति अपना आदर्श आप होती है और 'परती : परिकथा' भी एक श्रेष्ठ और स्वतन्त्र कला-कृति है।

मूल्यांकन

डॉ० रामखेलावन पांडे

शिवपूजन रचनावली

'शिव-पूजन रचनावली' में शिवपूजन बाबू की विविध रचनाएँ संकलित की गई हैं और संकलनकर्ता स्वयं लेखक हैं। अपने जीवन-काल में रचनावली अथवा ग्रन्थावली के प्रकाशन का सौभाग्य हिन्दी के लेखकों को प्राय: प्राप्त नहीं हुआ है। बिहार सरकार के भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, आचार्य बदरी नाथ वर्मा और शिक्षा-सचिव श्री जगदीशचन्द्र माथुर (आकाश-वाणी के वर्तमान महानिर्देशक) हमारे धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके कारण इस रचनावली का प्रकाशन सम्भव हो सका। लेखक ने अपने वक्तव्य में कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार किया है कि "हमारी लम्बी बीमारी में चिकित्सा के निमित्त बिहार सरकार ने हमें आर्थिक सहायता देने की कृपा की थी। उसीके साथ पुन: यह भी आदेश देने की उदारता दिखाई थी कि हमारी सभी रचनाओं को परिषद् के नियमानुसार प्रकाशित करके उसके पुरस्कार की धनराशि हमें पेशगी दे दी जाय" (प्रथम खण्ड का वक्तव्य)। यह वक्तव्य शिवपूजन बाबू के निष्कपट व्यक्तित्व और स्पष्टवादिता का सूचक है और रचनावली के साहित्यिक मूल्य का संकेत भी।

प्रथम खण्ड में 'बिहार का बिहार' (पुराने बिहारोत्कल प्रान्त का ऐतिहासिक, प्राकृतिक और भौगोलिक परिचय), 'विभूति' (कहानी-संग्रह) और 'देहाती दुनिया' (ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र) संकलित हैं। दूसरे खण्ड में 'भीष्म' और 'अर्जुन' के जीवन-चरित, 'ग्राम-सुधार' (पुस्तिका), 'दो घड़ी' (व्यंग्य-विनोद), 'माँ के सपूत' (अर्जुन, अभिमन्यु, राममूर्ति, सेण्डो, गैरिक आदि की बालोपयोगी जीवनियाँ), 'अन्नपूर्णा के मन्दिर में' (ग्राम्य-समस्यामूलक रचना), 'महिला महत्त्व', 'बालोद्यान', 'साहित्यिक भाषणावली', 'सेवा धर्म' ('द वे आव सर्विस' का अनुवाद) एवं 'आदर्श-परिचय'-जैसे विभिन्न विभाग हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों और टिप्पणियों को तीसरे खण्ड में स्थान मिला है, जिनमें कुछ पत्रिकाओं के स्तवन हैं ('सुधा', 'माधुरी'), कुछ उपदेशामृत हैं ('धैर्य', 'परोपकार', 'समय का सदुपयोग') और अधिकांश सूचनात्मक परिचयात्मक हैं ('हिन्दी साहित्य में मध्यभारत का अतीत और वर्तमान', 'आचार्य शुक्ल की

सर्वप्रथम मौलिक रचना', 'विहार के हिन्दी पत्र', 'प्रयाग की हिन्दी-नाट्य-समित', 'वंगीय रंगमंच का इतिहास' आदि)।

'रचनावली' की ओर हमारा विशेष ध्यान जाना आवश्यक इसलिए है कि आधुनिक काल में शिवपूजन बाबू ही पहले विहारी लेखक हैं जिनकी प्रतिष्ठा विहार के बाहर भी हुई, यद्यपि राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह की कुछ रचनाएँ 'इन्दु' में प्रकाशित हो चुकी थीं। विहार के साहित्यिक जागरण को विशाल हिन्दी-क्षेत्र के लिए सुलभ करने में भी इनका महत्त्वपूर्ण योग है, यद्यपि इसके कारण साहित्य में प्रान्तीयता के प्रचार का आरोप भी इन पर किया जा सकता है। गया की 'ऊषा' (३ दिसम्बर, १९४३) की सम्पादकीय टिप्पणी के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया इन्होंने प्रकट की--"हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में विहार की साहित्य-सेवा का बहुत ही कम या अतिशय संक्षिप्त उल्लेख या वर्णन पाया जाता है--वह भी उन्मुक्त हृदय से किया गया नहीं, मन्द स्वर से" ।[1] 'कौमुदी' (पं रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संकलित' 'कविता कौमुदी' से तात्पर्य है) के प्रथम भाग में स्थान पाने योग्य क्या एक भी कवि विहार में नहीं हुआ है ? क्या विद्यापति को छोड़कर इस विहार का मुखोज्ज्वलकारी कवि कोई नहीं ? ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता........। हम इस आशा से लिखते हैं कि त्रिपाठी जी इधर ध्यान देंगे और द्वितीय भाग के द्वितीय संस्करण में विहार का तिरस्कार न होने देंगे।"[2] 'भाषणावली' में संकलित भाषणों को इस दृष्टि से देखना आवश्यक है; क्योंकि इनमें विहार के साहित्यकारों की विरुदावली गाई गई है। इन विविध भाषणों को भी ध्यान से देखने से कुछ ऐसा आभास मिलने लगता है कि विहार के साहित्यकारों के सम्बन्ध में भी शिवजी की दृष्टि कुछ-कुछ संकुचित होती गई है।

आधुनिक काल के साहित्यिक इतिहास की थोड़ी सामग्री इस रचनावली में अवश्य मिलती है, यद्यपि मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि वह सामग्री नामोल्लेख से कुछ अधिक नहीं है। सामयिकता और युगधर्म के साथ हिन्दी-पाठकों को परिचित कराने का प्रयास सर्वत्र परिलक्षित होगा। हिन्दी की साहित्यिक गतिविधि के प्रति आस्था रखते हुए भी इसकी उपलब्धियों से आप सन्तुष्ट नहीं दीखते। मुझे पूरी आशा थी कि आधुनिक काल के साहित्यिक इतिहास की दुष्प्राप्य सामग्री इस रचनावली में मिलेगी, किन्तु संकोच के साथ स्वीकार करना पड़ेगा कि वैसी सामग्री अति विरल ही है। उदाहरण के लिए आपके अनुसार 'हिन्दी-नाट्य-समिति' ही सबसे पुरानी है न।"[3] किन्तु जहाँ तक मेरी सूचना है प्रयाग की 'आर्य-नाट्य-शाला' सबसे पुरानी संस्था है जिसने पहली अप्रैल सन् १८७६ को 'वेणी संहार' का अभिनय किया था।

प्रथम खण्ड में 'विहार का विहार' परिचयात्मक ग्रन्थ अथवा रचना है और वह पाठ्य-ग्रन्थ की दृष्टि से लिखा गया था। इसके प्रथम संस्करण के वक्तव्य में पण्डित रामदहिन मिश्र ने लिखा था,—"**मैंने इस पुस्तक के लिखने के लिए बहुत-सा सामान संग्रह किया, पर कई आवश्यक कार्यों में फँस जाने के कारण पुस्तक-रचना में विलम्ब होने लगा,**

१. खण्ड ३, पृ० ३५३।
२. खण्ड ३, पृ० ३७५।
३. खण्ड ३, पृ० ४०१।

इससे मैंने यह भार अपने परम स्नेही 'हिन्दी भूषण' बाबू शिवपूजन सहाय को सौंपा और सब सामान उन्हें दे दिया।" 'विभूति' में सोलह कहानियाँ संकलित हैं, जिनका अध्ययन कथा-शिल्प के विकास की दृष्टि से होना चाहिए। शिल्प-विधि की अपेक्षा भाषागत सौष्ठव और वैचित्र्य का दिग्दर्शन इसमें हैं। शैली के इतिहास की दृष्टि से इन रचनाओं का अध्ययन लाभकारी होगा; क्योंकि अनुप्रास और नादात्मक चमत्कार को उस समय प्रधानता प्राप्त थी जिसके कारण भावगत सौष्ठव कुछ-कुछ गौण था। उदाहरण के लिए दो एक प्रयोग देखे जा सकते हैं—**"बांके-लड़ाके वीरों के कलेजे रणभेरी सुनकर चौगुने होते जा रहे हैं। नगाड़ों से तो नाकों में दम हो चला है।"** और **"शस्त्रों की झनकार और शंखों के शब्द से दसों दिशाएं सरस शब्दमयी हो रही हैं।"** प्रथम खण्ड में 'देहाती दुनिया' ही एक ऐसी रचना है जिसका साहित्यक और ऐतिहासिक महत्त्व है। इधर आंचलिक उपन्यासों की धूम-सी मच रही है और कुछ ऐसी रचनाएँ आ रही हैं जिनमें ग्राम्य-जीवन की भाँकियों दिग्दर्शन और अंचल-विशेष में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग हो रहा है। आंचलिकता की भौंडी प्रवृत्ति, आग्रह और मोह से मुक्त यह रचना ग्राम-जीवन के कटु-मधु अनुभव और सरस-सजीले दृश्य उपस्थित करती है। भाषा अधिकांशत: परिनिष्ठ है, यद्यपि भोजपुरी-क्षेत्र के ग्रामों में प्रचलित शब्दों के प्रयोग कहीं-कहीं सार्वदेशिकता को खण्डित करते हैं।

तीसरे खण्ड में 'व्यंग्य-विनोद' शीर्षक के अन्तर्गत 'सरस्वती' के 'हास्य और विनोद' स्तम्भ के लिए लिखे गए साहित्य-विनोद संकलित हैं। तत्कालीन अभिरुचि के अध्ययन के लिए यह उपयोगी सामग्री है,........'माधुरी' के उसी अंक में कविवर पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है—**"कभी मैं भी दुलहिन थी।" अरे वह कौन-सा स्वर्ण-युग था महाराज? सचमुच वह बड़ा रंगीन जमाना रहा होगा। दूल्हा कमबख्त तो निहाल हो गया होगा।"**

दूसरे खण्ड में एक विभाग है 'माँ के सपूत', जिसमें 'अर्जुन की शस्त्र-परीक्षा' 'अभिमन्यु की वीरता', 'कुश और लव की बहादुरी', 'वीर बालक का बलिदान', 'कलियुगी भीम-राममूर्ति', 'युजेन सेण्डो', 'संसार का सबसे बड़ा अभिनेता--डेविड गेरिक' और 'समुद्र-विजयी वीर'-जैसी बालोपयोगी रचनाएँ संकलित हैं। ये रचनाएँ पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय से प्रकाशित होने वाले मासिक 'बालक' में प्रकाशित हुई थीं। इनमें 'कलियुगी भीम—राममूर्ति' 'बालक' के प्रथम वर्ष के तीसरे अंक में प्रकाशित हुआ था, वहाँ लेखक का नामोल्लेख नहीं है। सूचीपत्र में लेखक के स्थान में मुद्रित है 'सम्पादक' और सम्पादक थे श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। शिवपूजन बाबू के अन्य निबन्ध उनके अपने ही नाम के साथ प्रकाशित हुए हैं। पुस्तक भण्डार से 'संसार के पहलवान' (प्रथम भाग) नामक पुस्तक का प्रथम संस्करण श्रावणी पूर्णिमा सम्वत् १९८९ को प्रकाशित हुआ और द्वितीय आश्विन सम्वत् १९९० को। इसके संकलनकर्ता और सम्पादक थे श्री शिवपूजन सहाय। इस ग्रन्थ की विषय-सूची है—(१) कलियुगी भीम--राममूर्ति और लेखक के स्थान पर नाम है श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। इन सूचनाओं के आधार पर यह रचना श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की है, फिर इसका संकलन किस प्रकार 'रचनावली' में सम्भव हो गया। असंदिग्ध रचनाओं को ही रचनावली में स्थान मिलना चाहिए। छद्म नाम से अथवा अन्य व्यक्तियों के नाम

पर प्रकाशित रचनाओं के साथ आवश्यक टिप्पणी रहनी चाहिए।

पुस्तक आकर्षक और शेल्फ पर रखने योग्य है। बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् सरकारी संस्था है, अतः मूल्यों का निर्धारण व्यापारिक दृष्टिकोण से नहीं होना चाहिए। साहित्य-अकादमी-जैसी संस्थाओं के प्रकाशनों के मूल्य की अपेक्षा परिषद् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों का मूल्य बहुत ही अधिक है। परिणाम-स्वरूप ये प्रकाशन पुस्तकालयों की शोभा-वृद्धि में ही समर्थ हो सकते हैं। राष्ट्रभाषा के संचालक-मण्डल और उसके अध्यक्ष बिहार के शिक्षा-मन्त्री को इस विषय में विचार करना चाहिए।[1]

डॉ० हीरालाल गुप्त

'मध्य एशिया का इतिहास' खण्ड १

श्री राहुल सांकृत्यायन से हिन्दी-जगत् अपरिचित नहीं है। उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में अनेक विषयों पर हिन्दी में पुस्तकें लिखकर राष्ट्रभाषा-साहित्य की बड़ी सेवा की है। पुस्तकें लिखने का उन्हें शौक है और अभ्यास भी। अपनी निश्चित योजना के अनुसार अपने भीष्म अध्यवसाय द्वारा वे ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र के किसी विषय पर बड़ी-से-बड़ी रचनाओं को थोड़े-से-थोड़े समय में जन्म दे सकते हैं। साहित्यिक कार्य में उनका उत्साह केवल सराहनीय ही नहीं, अपितु युवकों के लिए एक उदाहरण है। जब से उनकी लेखनी ने चलना आरम्भ किया है तब से आज तक निरन्तर चलती आ रही है। आज के युग में हिन्दी में पुस्तकों के अभाव को दूर करने में उनका भाग कुछ कम नहीं है। रूसी-जगत् में ऐसे बड़े व्रतधारी, निरन्तर अध्यवसायी विद्वानों को सरकारी योजना के अनुसार पुस्तकें लिखने का कार्य सौंपा जाता। पर भारववर्ष में सभी को अपना विषय चुनने तथा उस पर अपने विचार प्रस्फुटित करने का पूर्ण अधिकार है। यहाँ पर साहित्य के निर्माण में आन्तरिक एवं व्यक्तिगत संयम के अतिरिक्त और कोई बाह्य नियन्त्रण नहीं है। कोई अधिकारी व्यक्ति ज्ञान के समुद्र में पैठकर मनमाने रत्न निकाल सकता है। राहुल जी अपने अधिकार-क्षेत्र को सीमाबद्ध नहीं समझते। वे जैसे स्वच्छन्द पर्यटक हैं वैसे ही व्यापक क्षेत्र में एक स्वच्छन्द लेखक भी। उनका अपना एक परिचित दृष्टिकोण है। रूस से वे बड़े प्रभावित हैं। इस प्रभाव की छाप उनकी कृतियों से झलकती है। उनका 'मध्य एशिया का इतिहास' एक ऐसी ही कृति है। इसके लिखने की प्रेरणा उन्हें अपने रूसी मध्य एशिया के भ्रमण, वहाँ के इतिहास के अध्ययन और संग्रहालयों में प्रदर्शित ऐतिहासिक सामग्री के निरीक्षण से प्राप्त हुई है। उनकी यह रचना अपने विषय की हिन्दी में पहली पुस्तक है। इतिहास के विद्वान्, विद्यार्थी, लेखक

१. **'शिवपूजन रचनावली' तीन खण्ड : प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० संख्या क्रमशः चार सौ अठारह, चार सौ बहत्तर और पांच सौ बीस, एवं मूल्य क्रमशः आठ रुपये बारह आने, नौ रुपये और दस रुपये।**

और अन्य परिचारक इसका स्वागत करेंगे।

यूरेशिया के देशों के लिए मध्य एशिया के इतिहास का अध्ययन बहुत ही उपयोगी है। रूस, मध्य यूरोप, बाल्कन प्रायद्वीपीय प्रदेश, टर्की, ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, भारत, तिब्बत और चीन के जीवन पर मध्य एशिया ने बड़ा प्रभाव डाला है। यह देश विश्व की अनेक जातियों का आदि निवास-स्थान तथा क्रीड़ा-स्थल रहा है। इसे प्रागैतिहासिक काल की कौमों की जननी तथा प्राचीन संस्कृति का केन्द्र कह सकते हैं। यहीं से समय समय पर प्रतिकूल भौगोलिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण आर्य, शक, हूण, तुर्क और मंगोल आदि जातियाँ चारों ओर फैलीं। दूसरे देशों में पहुँचकर वे अपने घुमन्तू जीवन को त्यागकर बस्तियाँ बनाकर रहने लगीं। इन जनसमूहों के आने-जाने से मध्य एशिया और उसके पड़ोसी देशों में बड़े भीषण संघर्ष हुए जिसमें शक्तिशाली ने निर्बल को नष्ट कर अथवा दबाकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसीलिए मध्य एशिया को प्राचीन सभ्यताओं के जन्मदाताओं का मूल स्रोत माना जाता है। ऐतिहासिक युग में चीन, भारत, ईरान, जेरूसलम और अरब के धार्मिक और सांस्कृतिक सिद्धान्त मध्य एशिया की ओर गए, जहाँ विश्व के बड़े-बड़े धर्मों, संस्कृतियों, कलाओं, विचारों और साहित्यों पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ा। संस्कृतियों में इस्लामी संस्कृति, जातियों में मंगोल जाति और सिद्धान्तों में साम्यवाद वाद में पहुँचे। इसीलिए आज वहाँ पर केवल यही तीन चीजें देखने में आती हैं। शेष संस्कृतियों का ज्ञान पुरातात्विक सामग्री से ही प्राप्त हो सकता है। मध्य एशिया से ही होकर चीन, भारत, ईरान और रूस आदि देशों के एक-दूसरे के साथ होने वाले व्यापार के मार्ग गुजरते थे। इन मार्गों से आर्थिक सम्बन्ध और सांस्कृतिक आदान-प्रदान निरन्तर चलते रहे। पूर्वी तुर्किस्तान पर सदा चीनी संस्कृति का प्रभाव रहा; दक्षिणी मध्य एशिया पर सदा ईरानी संस्कृति का प्रभाव रहा; और दक्षिणी पूर्वी भाग से लेकर उत्तर तक भारतीय सभ्यता का प्रभाव रहा।

पश्चिम की ओर से हजारों वर्षों तक चीनियों के जीवन पर मध्य एशिया की जातियों का प्रभाव पड़ता रहा। उस ओर से निरन्तर होने वाले आक्रमणों से अपने देश की रक्षा के लिए उन्हें बड़े-बड़े युद्ध और अपमानजनक सन्धियाँ करनी पड़ीं। इन ताकतों ने सैकड़ों वर्ष तक चीन की नींद हराम कर दी थी, जिससे उन्हें विवश होकर अपने देश की सुन्दर राजकुमारियों को आक्रामकों को देकर उन्हें खुश करने की नीति अपनानी पड़ी। तुर्कों ने तो चीनी राजकुमारियों से अपना विवाह करना अपनी प्रतिष्ठा का चिह्न समझ रखा था। हूणों के प्रलयकारी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए उन्होंने अपनी उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर एक बड़ी विशाल दीवार खड़ी कर दी। मंगोलों के भयंकर आक्रमणों का प्रभाव आज तक चीनी समाज में दिखाई देता है। रूस का प्राचीन इतिहास मध्य एशिया की शक जाति का ही इतिहास है। मध्य एशिया से ही निकलकर तुर्कों ने अपने साम्राज्य की नींव डाली। यहीं से होकर कागज का प्रयोग, छपाई की कला और बारूद का प्रचार चीन से यूरोप पहुँचा जिससे इनके जीवन में बड़ी क्रान्ति आ गई और नये आधुनिक युग को जन्म मिला।

भारत के लिए मध्य एशिया का इतिहास दूसरे देशों से कम महत्त्व नहीं रखता।

अति प्राचीन काल से दोनों में घनिष्ठ व्यावहारिक सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध रहे हैं। अरब और यूरोप की जातियों के अतिरिक्त भारत में जितने विदेशी बाहर से आए वे सभी मध्य एशिया की घुमन्तू जातियाँ थीं। अन्त में वे सभी भारतीय बन गए और अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठे। इन्होंने भारतीय राजनीति, समाज और संस्कृति पर भी प्रभाव डाला। मध्य एशिया को भी भारत से बहुत-कुछ मिला। भारत के धर्म, सांस्कृतिक विचार तथा व्यापार की वस्तुओं ने मध्य एशिया के जीवन में बहुत परिवर्तन ला दिया। इस आदान-प्रदान से भौगोलिक ज्ञान बढ़ा। भारत के व्यापार के लिए नये बाजार मिले। मध्य एशिया और चीन की वस्तुएँ भारत पहुँची। भारत के वैद्यों का मध्य एशिया में सम्मान हुआ। मध्य एशिया की भाषाओं के सम्पर्क से भारतीय भाषाओं का विकास हुआ। हिन्दू और बौद्ध धर्म भारत से मध्य एशिया पहुँचे। ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर इस्लाम के प्रचार के समय तक बौद्ध धर्म मध्य एशिया का धर्म रहा। इस धर्म ने वहाँ के लोगों के जीवन में संयम ला दिया, उन्हें सभ्य बनाया और उनकी आध्यात्मिक भूख को तृप्त किया। मध्य एशिया में ही कुजुल कदफिस ने हिन्दू धर्म और विम कदफिस ने बौद्ध धर्म अपनाया। कनिष्क के समय सारे मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का बोल-बाला था। उसका साम्राज्य चीन की सीमा तक फैला। उसका अधिकांश समय मध्य एशिया के युद्धों में बीता। भारतीय उपनिवेश भी मध्य एशिया में बने। छठी शताब्दी में तुर्क-सम्राट् तोबाखाँ ने बौद्ध धर्म स्वीकार करके बौद्ध-ग्रन्थों का संकलन और बौद्ध-भवनों का निर्माण कराया। आठवीं शताब्दी में एक तुर्क कगान (शासक) का नाम मोग्लियान था। यह नाम गौतम बुद्ध के प्रधान शिष्य का था। बाद में मंगोलों ने भी बौद्ध धर्म को अपनाया। ख्वारेजम की मरुभूमि में कई नगरों के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं जिनमें भारतीय संस्कृति की बहुत गहरी छाप है। मध्य काल में इस्लाम स्वीकार करके तुर्क और मंगोल मध्य एशिया से ही भारत में आए जिससे भारत में बड़े राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए।

ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय के अध्ययन की ओर अभी तक विश्व का ध्यान अधिक नहीं गया। ग्रन्थों का भी अभाव रहा है। प्रामाणिक ग्रन्थ तो अभी तक नहीं लिखे गए। प्राचीन मध्य एशिया पर बहुत पुरातात्विक खोजों और अनुसन्धानों की आवश्यकता है। ओरेल स्टाइन की खोजों ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। लगभग बीस वर्षों से रूस के विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है और अभी हाल में कुछ बड़े महत्त्व की खोजें भी हुई हैं। बहुत-से लेख और कुछ पुस्तकें रूसी भाषा में छपी हैं। बहुत अच्छा होता यदि राहुलजी का ध्यान ऐसे साहित्य का हिन्दी में अनुवाद करने की ओर आकृष्ट होता। हो सकता है कि भविष्य में वे इस कार्य को ले सकें। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने राहुलजी की पुस्तक को अपनी योजना में स्थान देकर तथा उसके प्रथम खण्ड को प्रकाशित करके हिन्दी में लिखित ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण में बड़ी सहायता की है। इस पुस्तक का अध्ययन करके मध्य एशिया के इतिहास में रुचि रखने वाले लोग इसके दूसरे खण्ड के छपने की प्रतीक्षा करेंगे।

अध्ययन की सुविधा के लिए मध्य एशिया को उत्तरा पथ और दक्षिणा पथ नामक दो भौगोलिक भागों में विभक्त किया गया है। पुस्तक में प्रागैतिहासिक काल से लेकर मंगोल

शासक चंगेज़ खाँ के समय तक का इतिहास है। प्रस्तुत विषय आठ भागों में विभाजित है। प्रत्येक भाग में कई अध्याय हैं। प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में प्राचीनतम मध्य एशिया की भौगोलिक स्थिति और कालान्तर में उसके क्रमिक परिवर्तन का उल्लेख किया गया है। शेष अन्य अध्यायों में प्रागैतिहासिक काल के पाषाण युग की विभिन्न स्थितियों में मध्य एशिया की जातियों तथा उनकी सभ्यताओं का वर्णन मिलता है। यह युग मनुष्य के इतिहास की पहली सीढ़ी है। इसके निर्माण में वैज्ञानिक तथा पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धानों के अतिरिक्त कल्पना का भी बड़ा स्थान है। इस युग का मानव अपने विकास की निम्नतम श्रेणी में था। आवश्यकताओं के अनुसार धीरे-धीरे उसके जीवन में परिवर्तन आते गए। इस युग में मनुष्य ने घुमन्तू जीवन अपनाया।

दूसरे भाग में ताम्र, पित्तल और लौह-युगों का चित्रण है। यह धातु-काल मानव के विकास का दूसरा युग है। इसी युग की सभ्यता का उत्तराधिकारी आज का मानव है। इसी युग में मध्य एशिया के कुछ मानव-समुदाय घुमन्तू जीवन का परित्याग करके संघर्ष द्वारा इधर-उधर बिखर गए, जिससे आपस में रक्त सम्मिश्रण हुआ। पहले के जीवन की अपेक्षा यह युग बहुत गतिशील था। सभी भागों में धातु युग एक साथ नहीं आया इसी कारण सभी भागों की सभ्यता का विकसित रूप एक-सा न था। सम्भवतः भूमध्य सागरीय जाति के मध्य एशिया में घुस आने पर भारत और यूरोप के पूर्वजों ने उनसे धातु का प्रयोग सीखा। इसी युग में लिपि का प्रचार हुआ। राहुलजी का कथन है कि 'संस्कृत और पालि के पुराने ग्रन्थों में लोह का अर्थ ताँबा होता है। उस समय ताँबे के लिए लोह शब्द का प्रयोग होता था। ताम्रयुग में लोहार या लोहकार-जैसे शब्द का प्रयोग ताम्रकार के लिए होता था। इसी प्राचीनतम धातु के लिए भारतीय आर्यों की भाषा में सबसे पहले अयस् शब्द का प्रयोग हुआ, जो कि पीछे लोहे के लिए बर्ता जाने लगा। लोहे का आविष्कार हो जाने पर ताँबे और लोहे में भेद करने के लिए ताँबे को लोह अयस् या ताम्र अयस् और लोहे को कृष्ण अयस् कहा जाने लगा। भारत में आने के कई सौ वर्ष बाद हिन्दी आर्य असली लोहे से परिचित हुए। यह विचार सन्दिग्ध-से लगते हैं। भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धान किये बिना इस कथन की पुष्टि नहीं की जा सकती।

ताम्रयुग में अनौ और ख्वारेजम से सप्तनद तक मध्य एशिया में द्रविड़ जाति की प्रधानता थी। भारत में मोहनजोदरो की सभ्यता इसी युग की थी। फिनलैण्ड के निवासी इसी जाति के हैं। फिन भाषा का द्रविड़ भाषा से सम्बन्ध भी है। दोनों जातियों के आकार और कद भी मिलते-जुलते हैं। इस कथन की पुष्टि के लिए मानव-विज्ञान-सम्बन्धी कुछ अधिक अनुसन्धानों की आवश्यकता है। इतिहास का यह एक रोचक विषय होगा। इसमें कई नये प्रश्न उठेंगे, जिनका समाधान आवश्यक होगा।

यूरेशिया में डेन्यूब नदी से त्यानशान-अल्ताई पर्वत-श्रेणी तक के प्रदेश को शकद्वीप तथा अराल और सिर दरिया के दक्षिण के प्रदेश को आर्यद्वीप कहा गया है; पर इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया गया। आर्यों के आदि-देश के विषय पर विद्वानों में बड़ा मतभेद होने के कारण राहुलजी का प्रमाण रहित कथन कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

राहुलजी मध्य-पाषाण-युग में शकों और आर्यों में कोई भेद नहीं मानते। दोनों को

वे एक ही विशाल समूह का अंग मानते हैं। शकों में गतिरोध और आर्यों में विकास की प्रेरणा को वे दोनों में अन्तर का कारण मानते हैं। भूमध्य-सागरीय जाति के सम्पर्क में आकर आर्यों की संस्कृति का बहुत विकास हुआ। वे जल्दी-जल्दी पित्तल युग को पार करके लोह युग में प्रवेश कर गए। इसके लिए दिया गया तर्क पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अकाट्य प्रमाणों की आवश्यकता है। दोनों में समानता का कारण आपस में आदान-प्रदान का होना भी कहा जा सकता है। इस कथन के विपरीत इन दो कौमों के भिन्न होने के विषय में काफी लिखा जा चुका है। फिर भी अनुसन्धान की काफी गुञ्जाइश है।

शक समाज में सती-प्रथा का होना बताया गया है जिसे आठवीं शताब्दी के एक पर्यटक ने देखा था। इस पर्यटक का नाम यदि दे दिया जाता तो इतिहास के विद्यार्थियों का बहुत हित होता। सम्भवत: भारत में सती प्रथा का प्रचलन शकों के आगमन से हुआ हो।

तीसरे भाग में मध्य एशिया के उत्तरा पथ की शक जातियों, हूणों, वूतियों वू-सुनों, अवारों तथा तुर्क जातियों के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का संक्षिप्त विवरण है। अल्ताई पर्वत पर पाजीरिक घाटी से प्राप्त हिमाच्छादित बहुमूल्य पुरातात्विक सामग्री के उल्लेख से शकों के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। तुर्कों में कुछ बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। कुछ सूर्य की पूजा करते थे और कुछ अग्नि की पूजा करते थे। राहुलजी का कथन है कि तुर्क हूणों से ही निकले और मंगोल भी हूणों की ही सन्तान हैं। पर इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया।

हूणों और तुर्कों का व्यवसाय युद्ध था। हूण योद्धा युद्ध में मरने की कामना रखते थे। उनका सम्मानजनक मृत्यु में विश्वास था। वे नतमस्तक होना अपमान समझते थे। यही विशेषताएँ भारत के राजपूतों के चरित्र में पाई जाती थीं। इस तुलनात्मक अध्ययन से राजपूत हूणों की सन्तान थे अथवा हूणों का उन पर प्रभाव पड़ा, आदि प्रश्न अनुसन्धान के रोचक विषय बन जाते हैं।

चौथे भाग में मध्य एशिया के दक्षिणा पथ के अरवमनी, कंग, ग्रीक, यूची, पह्लव, कुषाण, अफ्रीग तथा हेफ्ताल आदि वंशों का रोचक विवरण है। इसमें संसार के सर्वप्रथम महान् साम्राज्य की स्थापना करने वाले, ईरान के कुरव तथा उसके उत्तराधिकारी, गौतम बुद्ध के समकालीन सम्राट् दारयबहु का उल्लेख है। फ़ारसी और ग्रीक तथा भारतीय और ग्रीक बाख्त्री सभ्यताओं के आदान-प्रदान का भी अच्छा चित्रण है। इससे गांधार की मूर्ति-कला-शैली और मुद्रा-निर्माण-कला पर बहुत प्रकाश पड़ता है। ग्रीक और आरमीनी साहित्य तथा भारतीय और अन्य देशों के हूण राजाओं के सिक्कों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर राहुलजी का विचार है कि भारत में आने वाले हूण वास्तव में हेफ्ताल अथवा हूण सभ्यता में रँगे हुए शक थे। यह एक नई जानकारी है। इस पर अनुसन्धान होने की आवश्यकता है।

पाँचवें भाग में उत्तरा पथ की आगूज, उदगर और करकुल जातियों का वर्णन किया गया है। इनमें से उइगर सबसे पहले मुसलमान बने। छठे भाग में अरब जाति के उत्थान, इस्लाम धर्म के प्रचार, खलीफा के पद के लिए संघर्ष, शिया और सुन्नी सम्प्रदायों की

उत्पत्ति, दक्षिणा पथ में इस्लाम के उदय और विकास तथा अरब साम्राज्य की स्थापना और विस्तार के उल्लेख हैं। दूसरे खलीफा उमर के समय इस्लाम का शुद्ध धार्मिक स्वरूप लुप्त हो गया और राजनीतिक स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगा। विश्व-विजय के लिए एक सेना संगठित की गई। चौथे खलीफा अली के समय अरबों के पैर मध्य एशिया में पहुँचे। उमैया वंश के खलीफाओं के समय कुतैब नामक खुरासान के वली ने बलपूर्वक बड़ी तेजी से मध्य एशिया में इस्लाम का प्रचार किया जिससे जथुस्त्री तथा बौद्ध धर्मों को बहुत धक्का पहुँचा। अब्बासी वंश के मंसूर तथा हारून नामक खलीफाओं के संरक्षण में अरबी साहित्य-सृजन का का कार्य बड़ी तीव्र गति से हुआ। वैद्यक, तर्कशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, गणित और भौतिक विज्ञान के बहुत-से ग्रन्थों का संस्कृत और ग्रीक से अरबी में अनुवाद हुआ।

सातवें भाग में उत्तरा पथ के कराखानी तथा कराखिताई नामक तुर्कों के साम्राज्यों का उल्लेख है। यहाँ के लोग चीनी संस्कृति से प्रभावित थे। अधिकांश लोग बौद्ध धर्म को मानते थे। कराखिताइयों ने १२०५ ई० में मुसलमानों के भीषण विद्रोह को दबाते समय सैंतालीस हजार को नष्ट कर दिया। लगभग इसी समय चंगेज़ खाँ के आक्रमणों से कराखिताइयों का प्रभाव नष्ट हो गया। इस्लाम की प्रधानता १५वीं शताब्दी तक उत्तरा पथ में न जम सकी। सारे प्रदेश पर मंगोलों का विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया।

आठवें भाग में दक्षिणा पथ के सामानी, कराखानी, गजनवी, सल्जूकी, गोरी और ख्वारेजमी तुर्कों तथा मंगोलों का इतिहास दिया गया है। सामानियों ने जथुस्त्री धर्म को छोड़कर नवीं शताब्दी के अन्त में इस्लाम धर्म अपनाया और उसका प्रचार भी किया। उन्होंने अरबी-साहित्य को समृद्ध बनाया और अपने साम्राज्य में बहुत अधिक भौतिक विकास किया। ख्वारेज़्म और समरकन्द उनके समय में व्यापार और संस्कृति के बड़े केन्द्र बने। समरकन्द में आठवीं शताब्दी में अरब वालों ने चीनी शिल्पकारों से काग़ज़ बनाना सीखा। दसवीं शताब्दी में सल्जूकी तुर्क मुसलमान बने। १२वीं शताब्दी में उन्होंने बड़े विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया। इसीकी एक शाखा उस्मानी तुर्क वंश ने बिजन्तीन राज्य को नष्ट करके १४५३ में कुस्तुन्तुनिया को अपनी राजधानी बनाया और आगे चलकर मध्य यूरोप तक पहुँच गए। इसके एक सामन्त शहाबुद्दीन गोरी ने भारत में बंगाल तक इस्लामी सत्ता का विस्तार किया। १३वीं शताब्दी में सारे मध्य एशिया पर चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में मंगोल साम्राज्य स्थापित हो गया। बड़ी तीव्र गति से प्रज्वलित नफ्ता और बारूद के हथियारों का प्रयोग करते हुए मंगोल सैलाब की भाँति उत्तरी चीन से मध्य यूरोप तक और भारत की सीमा और तिब्बत से काकेशस तक ६ वर्षों के अन्दर फैल गए। विश्व के इतिहास में यह एक बहुत बड़ा सैनिक चमत्कार था। मंगोल विजय से मध्य एशिया में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने विजयी इस्लाम के अभिमान को चूर-चूर कर दिया, उसकी अजेयता के विचार को मिटाया और लाखों आदमियों को बड़ी निष्ठुरता के साथ मूली की तरह काटा। पर कारीगरों पर हाथ नहीं उठाया। उद्योग-धन्धों और व्यापार को प्रोत्साहित किया। चंगेज़ खाँ धार्मिक मामलों में निष्पक्ष था। उसके साम्राज्य में चोरी-डाके नहीं पड़ते थे। उसके राजनीतिक, युद्ध-सम्बन्धी और सामाजिक नियम 'यस्सा' कहलाये; जिन्हें प्रत्येक मंगोल इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी धर्म के रूप में मानता रहा।

पुस्तक में बहुत-सी सूचनात्मक बातें हैं, जिनसे साधारण ज्ञान की वृद्धि होगी। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

शक समाज में कई भाइयों की एक स्त्री हो सकती थी और स्त्रियों के एक समूह का पुरुषों का एक समूह पति समझा जाता था।

शक-सुन्दरियाँ अपने सौन्दर्य के लिए भारत में अधिक विख्यात थीं। हमारे वैद्यों ने उनके सौन्दर्य का कारण प्याज अधिक खाना बतलाया है।

शकों और हूणों में मृत सरदारों की बहुत-सी मूल्यवान् वस्तुएँ, सबसे प्रिय पत्नी और घोड़े शव के साथ कब्र में गाड़ दिये जाते थे।

भारत में शरीर गोदने की प्रथा सम्भवत: शकों के प्रभाव की द्योतक है, क्योंकि शक-समाज में यह विश्वास था कि शरीर गोदने से क्रूर पिशाचों से मनुष्य की रक्षा होती है।

शकों और यूचियों के समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था।

शक और ग्रीक धार्मिक मामलों में बड़े उदार थे।

शक सूर्य के उपासक थे। तोरमान भी सूर्य का भक्त था।

प्राचीन युग में ईरान और ग्रीस में भाई-बहन में विवाह हो सकता था।

बाख्त्रिया राज्य को यूचियों ने नष्ट किया।

मेनान्दर के पौत्र स्त्रात द्वितीय के सभी उत्तराधिकारी ग्रीक राजा और भारत में आये हुए ग्रीक लोग भारतीय बन गए।

बुद्ध की मूर्ति को सबसे पहले ग्रीक लोगों ने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में बनाया। भारत में सबसे पहले बुद्ध की मूर्ति कनिष्क के समय में बनी।

ईरानी साम्राज्य का महान् शासक दारयवहु विश्व का प्रथम शासक था, जिसने अपनी मूर्ति, अपने सोने के सिक्के दरिक पर अंकित कराई।

बाख्त्रिया चीन और भारत के व्यापार का केन्द्र था।

विम कदफिस ने भारत में सबसे पहले १२४ ग्रेन का सोने का सिक्का चलाया। खैबर दर्रे के मार्ग को खोलने वाले कुषाण थे। उनके समय भारत का स्थल-मार्ग से होने वाला अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार खूब विकसित हुआ। इसके बदले में भारत में साइबेरिया का सोना आता था।

तुर्क पुरुष पाँसा खेलने में बड़े शौकीन थे और स्त्रियाँ फुटबाल खेलने की।

मुसलमान होने के पहले तक बौद्ध धर्म मंगोलों की तरह तुर्कों का भी जातीय धर्म रहा।

तुर्क और मंगोल घुमन्तू जातियों के सरदार चीन को हराकर वहाँ के सम्राट् के दामाद बनना तथा उसके देश से सोना और रेशम प्राप्त करना अपना हक समझते थे। इसके लिए चीन के सम्राट् के महल में सारे देश से सुन्दर लड़कियाँ इकट्ठी करके रखी जाती थीं। चीन की कूटनीतिक चालों में अपनी राजकुमारियों या अन्य सुन्दरियों को विदेशी आक्रान्ताओं को विवाह में देकर अपनी रक्षा करना सम्मिलित था।

नवीं शताब्दी में चीन में स्त्रियों के पैर छोटे करने का रिवाज़ प्रचलित हुआ, जिससे वे तुर्कों के साथ भागकर चीन के बाहर न जा सकें।

मध्य एशिया में यवन, शक, हेफ्ताल और तुर्कों ने बारी-बारी से अपना आधिपत्य स्थापित किया, पर किसी ने धर्म और संस्कृति पर आघात नहीं किया; बल्कि उन्हें मान्यता प्रदान की और उनसे बहुत-कुछ सीखा भी; पर अरब वालों ने उन्हें नष्ट करने का प्रयास किया। उसके समय में दूसरे धर्मों और संस्कृतियों के साथ समझौता करने की कोई गुञ्जाइश न थी।

'मालेगनीमत (युद्धों में धन, सुन्दरियों और गुलामों की लूट) हलाल है' के सिद्धान्त ने तरुणों को अरब सेना में भर्ती होने, कुफ्र को हटाने, पैगम्बर के धर्म को तलवार द्वारा फैलाने और गाज़ी बनने के लिए भारी आकर्षण पैदा किया। प्रत्येक साम्राज्य-निर्माण का कार्य जहाद था। अरब-विजेताओं ने गैर-अरब स्त्रियों से सन्तानें पैदा करने की प्रथा चालू करके इस्लाम को बाढ़ पर पहुँचा दिया। कागज़ का आविष्कार चीन की देन है। इसका आविष्कार ईसा की दूसरी सदी में हुआ।

कुतैब (अरब राज्यपाल) के नेतृत्व में इस्लाम मानवता के लिए भय की वस्तु बन गया।

मध्य एशिया में अरब झूठे, धोखेबाज, निर्दय और खून के प्यासे माने जाते थे। ....विश्वास-घात, वचन-भंग, निरपराधियों की निर्मम हत्या अरब शासन का प्रमुख रूप और मध्य एशिया में इस्लाम के प्रचार का साधारण ढंग था। उमैया वंश अरब जाति और अरब भाषा को दुनिया में सर्वोपरि मानता था।

पंजाब को छोड़कर बाकी भारत के साथ गजनवियों का सम्बन्ध केवल लूट-मार का था।

महमूद गज़नी पहला व्यक्ति था जिसने सुलतान की पदवी धारण की।

जहाँ-जहाँ इस्लाम पहुँचा वहाँ-वहाँ विद्या और सभ्यता की अवनति हुई, क्योंकि जिस गति से मुसलमानों ने ध्वंस किया उस गति से निर्माण नहीं किया।

बारूद का प्रयोग चीन में आतिशबाज़ी के तौर पर बहुत पहले से चला आता था। मंगोलों ने उसे युद्ध का हथियार बना दिया। जर्मनी के स्वार्ज़ में मंगोलों की अग्नि बन्दूक देखकर तोप ढालने का आविष्कार किया। बारूद का युग चंगेज़ खाँ के समय से प्रारम्भ हुआ। मंगोलों द्वारा बारूद और मुद्रण-कला चीन से यूरोप में पहुँची, जिन्हें अपनाकर यूरोप दुनिया का अगुआ बना।

इस पुस्तक का प्रकाशन बहुत समयानुकूल है। स्वतन्त्र भारत के लिए अपने पड़ोसी राज्यों की जानकारी परम आवश्यक है। प्राचीन मध्य एशिया के इतिहास-सम्बन्धी अनुसन्धानों से प्राचीन भारत के इतिहास का ज्ञान सरल बन जायगा। इसलिए आज के युग में भारत में मध्य एशिया के इतिहास का अध्ययन उपादेय है। राहुलजी की पुस्तक के अध्ययन से भारत के पुरातत्ववेत्ताओं का ध्यान रूसी साधनों के अध्ययन की ओर जाना चाहिए। मध्य एशिया की जातियों का इधर से उधर जाना, उनके एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध अथवा संघर्ष तथा इतिहास को उनकी देन अनुसन्धान के गहन विषय हैं। इन विषयों के पर्याप्त अध्ययन के लिए भारत से प्राचीन इतिहास के विशेषज्ञों की एक टोली रूसी मध्य एशिया में भेजने की आवश्यकता प्रतीत होती है। सम्भवतः राहुलजी की पुस्तक

के अध्ययन से ऐसे विचार भारत में पैदा हों। कदाचित् पुस्तक के लिखने में उनका यही उद्देश्य रहा हो।

पुस्तक अभाव रहित नहीं है। विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने तथा उसके सभी आवश्यक भागों को यथासम्भव उचित स्थान देने के लिए कुछ और अध्यायों के जोड़ने की आवश्यकता है। 'मध्य एशिया में आर्य', 'मध्य एशिया में बौद्ध धर्म' तथा 'मध्य एशिया के शिल्प-उद्योग और व्यापार' नाम के यदि तीन अध्याय और जोड़ दिये जाते तो विषय का अध्ययन पूर्ण हो जाता। इन विषयों पर यत्र-तत्र सामग्री मिलती है पर उनका क्रम से अध्ययन नहीं हो पाता। इन विषयों का मध्य एशिया के इतिहास में बहुत महत्त्व है, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। आर्य जाति ने विश्व के इतिहास के निर्माण और विकास में सभी प्राचीन कौमों से अधिक भाग लिया है फिर भी पुस्तक में उन्हें पर्याप्त स्थान न देकर शकों के उल्लेख को प्रधानता प्रदान की गई है। बौद्ध धर्म लगभग एक हज़ार वर्ष तक वहाँ की घुमन्तू जातियों को सभ्य बनाता रहा है और आज भी चल रहा है। मध्य एशिया के व्यापार-केन्द्रों द्वारा कितने ही देशों का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसलिए यदि इन महत्त्वपूर्ण तीन विषयों पर अलग-अलग अध्याय लिखकर अधिक प्रकाश डाला जाता तो पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती।

पुस्तक जल्दी में लिखी गई है। प्राचीन ऐतिहासिक विषयों पर सरलता के साथ निश्चित निष्कर्ष निकालकर कोई मत बनाना सुलभ नहीं है। पर राहुलजी ने ऐसा ही किया है। इतिहास लिखने के इस मार्ग को अपनाना भयंकर भूलों से खाली न होगा। प्राचीन मध्य एशिया के इतिहास पर गम्भीर चिन्तन, विश्लेषणात्मक अनुशीलन, अनुसन्धानात्मक विचार-शोध तथा प्रमाणात्मक निष्कर्षों की आवश्यकता है। शक और आर्य एक ही विशाल समूह के दो अंग थे; यूचियों और कुषाणों के पूर्वज शक थे; तुर्क और मंगोल हूणों की सन्तान थे; भारत के हूण भी एक प्रकार के शक ही थे; इस प्रकार के बहुत-से कथन पुस्तक में मिलते हैं, जिन्हें बिना पुष्ट प्रमाणों के मान्यता नहीं दी जा सकती।

पुस्तक के निर्माण में रूसी, फ्रेंच, ग्रीक, चीनी, ईरानी, भारती, तिब्बती तथा मध्य एशियायी साधनों के प्रयोग का दावा किया गया है। कहीं-कहीं पर उनका जिक्र भी है। पर इन साधनों के आधार पर लिखे मध्य एशिया के इतिहास के अनुशीलन से भारत के इतिहास की जिन गुत्थियों तथा मत-मतान्तरों का समाधान होना चाहिए, वह नहीं हो सका। इसका यह कारण है कि राहुलजी एक पक्ष लेकर चले हैं। दूसरे पक्षों का तार्किक खण्डन अधिकांश स्थानों पर नहीं किया। इससे उन्होंने अपने को तो मत-मतान्तरों के पचड़े से बचा लिया है, पर अपने अलग मत कायम कर दिए हैं। इससे विवादों का समाधान न होकर उनकी संख्या बढ़ गई है।

पुस्तक में रूसी विचारों की प्रधानता है। दृष्टिकोण भी वैसा ही है। मध्य एशिया का सारा इतिहास शकों और हूणों का इतिहास मालूम पड़ता है। रूसी उच्चारण के आधार पर ही शब्द लिखे गए हैं। रूसी आधारों के प्रति राहुलजी का यह झुकाव अस्वाभाविक नहीं है। रूस में वे लगभग पच्चीस माह तक रहे हैं। मध्य एशिया का उन्होंने भ्रमण किया है; वहाँ के संग्रहालयों को देखा है और ऐतिहासिक साहित्य का अध्ययन किया है।

रूस के विद्वानों के सम्पर्क में वे आये हैं, रूसी जीवन से होकर गुज़रे हैं तथा उनके विचारों से प्रभावित हुए हैं। रूस की पुरातात्विक खोजों से मध्य एशिया के इतिहास की बड़ी सामग्री प्राप्त हुई है। इसे भुलाकर कोई विद्वान् मध्य एशिया के इतिहास का निर्माण करने का साहस नहीं कर सकता। इन सभी परिस्थितियों का राहुलजी के विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। तिब्बत ने उन्हें बौद्ध धर्म के रंग में रँग दिया। रूस ने उन्हें साम्यवाद के रंग में रँग दिया। नये रंगों की छाप से पर्यटक विद्वान् अपने को नहीं बचा सकते। नये मुसलमान के अधिक प्याज खाने का जिक्र उन्होंने कहीं पर किया भी है। इससे दृष्टिकोण कहीं-कहीं एकांगी हो गया है। स्वतन्त्र विचार पनप नहीं पाये। इतना सब होते हुए भी पुस्तक के पढ़ने से राहुलजी की जिज्ञासु प्रकृति का भली भाँति परिचय मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी पुस्तक के अध्ययन से पाठकों में भी जिज्ञासा पैदा होगी।

शब्दों के लिखने में अनावश्यक नवीनता लाने का प्रयत्न किया गया है। 'एशिया' को 'एसिया' लिखने में पाश्चात्य परम्परा की छाप है। अधिकांश नाम रूसी उच्चारण के आधार पर लिखे गए हैं भारत में प्रचलित नामों के उच्चारण का परित्याग कुछ महत्त्व नहीं रखता। चंगेज़ खाँ को चिंगिसुखान, सिकन्दर को अलिकसुन्दर, दारा को दारयबहु आदि अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कुछ शब्द ग़लत लिखे गए हैं जैसे 'रीति-रिवाज' को 'रीति-रवाज़'। पुस्तक की भाषा सरल है, पर शैली में प्रवाह तथा स्वाभाविकता नहीं है। यद्यपि ग्रन्थ किसी कृति का अनुवाद न होकर प्राप्त पुस्तकों का अपने ढंग का निचोड़ है, फिर भी भाषा में अनुवादित भाषा की कृत्रिमता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेनिन का चित्र अनावश्यक है। इसकी उपयुक्तता द्वितीय खण्ड में अनिवार्य कही जा सकती है, प्रथम में नहीं।

पुस्तक जल्दी में छापी गई है। प्रूफ़ ठीक से नहीं देखे गए, जिससे छपाई की बहुत-सी ग़लतियाँ रह गई हैं। कहीं-कहीं पर विषय-सूची और विषय-वर्णन के नामों में भिन्नता है। अनेक स्थानों पर विषय-सूची के पृष्ठाङ्क अध्यायों के पृष्ठाङ्कों से नहीं मिलते और कहीं-कहीं पर पृष्ठाङ्क छूट गए हैं। कहीं-कहीं पर विषय-सूची के अध्यायों के अन्तर्गत उपविषयों का क्रम ग़लत है और कहीं-कहीं पर उपविषयों के नाम छूट गए हैं। कुछ नाम सभी स्थानों पर एक-से नहीं लिखे गए। मानचित्रों की सूची के पृष्ठाङ्क पाँच स्थानों पर मानचित्रों के पृष्ठाङ्कों से नहीं मिलते। मानचित्र-सूची के अधिकांश अंक-क्रम ग़लत हैं। एक-दो जगह विषय की कुछ पंक्तियाँ कहीं-की-कहीं छप गई हैं। पृष्ठाङ्क २१३ के प्रारम्भ में पृष्ठाङ्क २१४ की पहली लाइन होना चाहिए। अनेक स्थानों पर शब्दों की मात्राएँ ग़लत हो गई हैं। ये सब छपाई के दोष हैं।

उपरोक्त त्रुटियों के होते हुए भी राहुलजी का कार्य सराहनीय है। यद्यपि उन्होंने इतिहास पर कोई शोध नहीं किया, पर उनकी पुस्तक को पढ़कर ज्ञात होता है कि उनकी रचना एक अधिकारी विद्वान् की कृति है। प्रस्तुत विषय में कुछ नवीनता लाई गई है जिससे अन्धकार-युग का इतिहास रोचक बन सका है।[1]

---

१. 'मध्य एशिया का इतिहास' खण्ड १ : लेखक—राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृष्ठ संख्या—५२९, मूल्य १२)।

डॉ० ब्रजमोहन गुप्त

दुखमोचन

इधर कुछ समय से राष्ट्र-निर्माण और लेखक, लेखक का सामाजिक दायित्व, लेखक की आस्था, समाज और साहित्य आदि विषयों की काफी चर्चा सुनने-पढ़ने में आ रही है। इन समस्याओं का सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करना और कुछ फैसला दे देना जितना सुगम है, राष्ट्र-निर्माण में सहायक उत्कृष्ट साहित्य का सृजन उतना सुगम नहीं है। इस दिशा में किये गए प्रयत्न के फल को, पूर्णप्राण-प्रतिष्ठा के अभाव में, प्रचार-बुलेटिन बन जाते देर नहीं लगती। देश की वर्तमान समस्याओं को लेकर जो-कुछ लिखा जा रहा है उसके दो पक्ष हैं। एक पक्ष है आज की व्यवस्था और नव-निर्माण के प्रयत्नों में जो खामियाँ हैं उनकी आलोचना और उन पर तीखे व्यंग की चोट। वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट लेखकों के लिए इस पक्ष का निर्वाह सुगम और स्वाभाविक है। आलोचना और व्यंग यदि देश और मानव-समाज के भविष्य में पाठक की आस्था को दृढ़ करें और उन खामियों को दूर करने की प्रेरणा दें तो वे कल्याणकारी हैं, अशिव वे तब हो जाते हैं जब देश या मानव-समाज के भविष्य में पाठक की आस्था तथा नव-निर्माण की आकांक्षा ही को मन्द करते हैं। उसका दूसरा पक्ष है, निर्माण के लक्ष्य की रूपरेखा प्रस्तुत करना, उसे प्राप्त करने के व्यावहारिक उपाय सुझाना और उस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा प्रदान करना, निश्चय ही किसी उत्कृष्ट कला-कृति में इस दूसरे पक्ष का निर्वाह अधिक कठिन है। इसके लिए अधिक व्यापक और गहरी कल्पना-शक्ति और अधिक उदार और संवेदनशील हृदय अपेक्षित है।

श्री नागार्जुन ने कवि और उपन्यासकार के रूप में काफी ख्याति अर्जित की है। वे हिन्दी के उन थोड़े-से लेखकों में से हैं जो देश और समाज की वर्तमान समस्याओं के प्रति बराबर जागरूक रहे हैं। तीखे व्यंग की चोट उनकी शैली की विशेषता है और इसलिए उनकी कुछ रचनाओं में ऊपर बताये गए प्रथम पक्ष की ही प्रधानता रही है। अपने नये उपन्यास 'दुखमोचन' में उन्होंने दूसरे पक्ष की ओर ध्यान दिया है। उपन्यास का नामकरण उसके नायक के नाम के आधार पर किया गया है।

प्रस्तुत उपन्यास में एक ग्राम के नव-निर्माण की कहानी कही गई है। केवल भौतिक नव-निर्माण ही नहीं; वहाँ के निवासियों के मन, भावना और विश्वास के नव-निर्माण की कहानी कहना भी लेखक का लक्ष्य रहा है।

टमका कोइली कोई छोटा गाँव नहीं था, पाँच हजार से ऊपर की जनसंख्या वाली यह एक भारी बस्ती थी। दरअसल यह छोटी-छोटी कई बस्तियों का समूह था। बीच-बीच में खेत और बाग फैले हुए थे। उत्तर-पूरब की तरफ से कन्नी काटकर एक नदी निकल गई थी। इधर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की पक्की सड़क, उधर मीटरगेज की रेलवे लाइन।

दुखमोचन इसी ग्राम के निवासी थे। तीन भाइयों का संयुक्त परिवार था। घर में खेती-बाड़ी का काम होता था। वे स्वयं पाँच वर्ष तक कलकत्ता रहे, फिर न जाने क्या सूझा कि जमा-जमाया काम छोड़कर गाँव आ गये। जब कलकत्ता थे, काफी कमाते थे और सिल्क का कुर्ता, नफीस धोती और कीमती जूते पहनते थे। अब अधिकांशतः गाँव के निवासियों की

ही तरह सादा पहनते-खाते हैं।

गुञ्जेश्वरी दुखमोचन की पत्नी का नाम था। वे प्यार से उसे गुञ्जन कहा करते थे। चौदह की थी तो ब्याह हुआ था, चौबीस की हुई तो लगातार चार वर्षों तक टी० बी० की मरीज़ रहकर हमेशा के लिए आँखें मूँद लीं। सास की सख्ती से ढकी हुई दूब की तरह पीली हो गई थी बेचारी। बड़े भाई सुखदेव को बहू की तन्दुरुस्ती से न कुछ लेना था, न देना। दूसरा भाई नारायण तो और भी लापरवाह था। दुखमोचन शील-संकोच के मारे उन दिनों पत्नी के बारे में ज़ुबान भी नहीं खोलते थे। तो फिर वही हुआ, जो होना था।

दुखमोचन पत्नी को प्रेम करते थे। उन्होंने दूसरा ब्याह नहीं किया। वे जीवन-भर उसे भूल न सके। माँ के कठोर शासन, परिवार के अन्य सदस्यों की उपेक्षा और अपने शील-संकोच के परिणामस्वरूप घटी पत्नी की असामयिक मृत्यु का घनीभूत दर्द ही मानो उनकी रग-रग में दूसरों के दुःख और कष्ट के प्रति असीम संवेदना और ग्रामीण जीवन के पुनर्निर्माण का अडिग संकल्प बनकर समा गया। अब क्षण-भर के लिए भी उन्हें चैन नहीं। अपने तन-मन की सुध-बुध खोकर वे दिन-रात काम में जुटे रहते हैं।

दुखमोचन लगातार दस-बारह दिन बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए बाहर घूमते रहे हैं। शाम को थके-माँदे लौटे और देर से सोये, फिर भी रामसागर की माँ की मृत्यु के समाचार की भनक कान में पड़ी तो उठकर साथ हो लिये। भादों की उस काली रात में शव जलाने के लिए सूखी लकड़ियों के प्रबन्ध की समस्या उठी तो अच्छी किस्म की लकड़ी के तख्तपोशों की तैयारी के लिए चीरे गये अपने तख्ते दे दिए।

बाढ़ ने फसल चौपट कर दी थी। खारिश की तरह का एक चर्म-रोग फैला हुआ था, जिससे ७० प्रतिशत ग्रामवासी पीड़ित थे। पंचायत गाँव की गुटबन्दी को तोड़ नहीं सकी थी। चौधरी-टाइप के लोग स्वार्थ-साधन की अपनी पुरानी लत छोड़ने को तैयार नहीं थे। जात-पाँत का टंटा, खानदानी घमण्ड, दौलत की धौंस, अशिक्षा का अन्धकार, लाठी की अकड़, नफरत का नशा, रूढ़ि और परम्परा का बोझ···जनता के सामूहिक मार्ग में एक नहीं अनेक रुकावटें थीं। मुसीबत के दिनों में बाहर वालों से तत्काल सहायता पाना जितना कठिन था, उससे भी कठिन था सहायता में मिली हुई वस्तुओं और रकमों को सही जगहों तक पहुँचाना। स्वार्थी और लालची लोगों के सींग नहीं हुआ करते, न कोई खास किस्म का झण्डा-पताका होता है उनका।

टमका कोइली के लिए बाहर वालों से सहायता प्राप्त करने और सहायता से मिली वस्तुओं को सही जगह तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व दुखमोचन पर ही था। ये इलाके के पाँच-सात नेताओं और आफिसरों से बार-बार मिले, मेडीकल कॉलेज के अध्यापकों और छात्रों से बार-बार सहायता की प्रार्थना की., जिला-अधिकारियों तक प्रतिनिधि मण्डल की मार्फत जनता की सम्मिलित आवाज पहुँचाई। नतीजा यह हुआ कि गंधक के दर्जनों पैकेट और नारियल के तेल से भरे बीसियों डब्बे ग्राम-पंचायत के दफ्तर में पहुँच गए। सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेने वाले कुछ व्यापारियों ने नीम की सौ टिकियाँ साबुन की दी थीं। चार सौ मन गेहूँ भी प्राप्त हुआ।

कठिनाई यह थी कि पूजा-पाठ में लीन रहने वाले दुखमोचन के भाई सुखदेव को भी

मुफ्त के गंधक के पैकेटों, नारियल के तेल के डब्बों और नीम की साबुन की टिकियों का मोह था। मास्टर टेकनाथ ने काफी सामान उनके पास पहुँचा भी दिया। दुखमोचन को मालूम हुआ तो उन्होंने व्यवस्था की कि उनके परिवार का कोई भी सदस्य उस सामान को इस्तेमाल न करे और जो गरीब उसके वास्तविक अधिकारी हैं, उन तक पहुँचा दिया जाय।

दूसरी ओर गाँव के सबसे धनी व्यक्ति नित्यानन्द भी सहायतार्थ आये गेहूँ में से पाँच-सात मन गेहूँ चाहते थे। दुखमोचन ने सब टोलों-मुहल्लों, जात-बिरादरियों के प्रतिनिधि एकत्रित किये और दो-ढाई घण्टे की माथापच्ची के बाद सहायता के वास्तविक अधिकारी व्यक्तियों की फहरिस्त सर्व-सम्मति से तैयार की और उसीके अनुसार गेहूँ बँटवा दिया।

दुखमोचन ने ग्राम के स्त्री-पुरुषों तथा सिरमौन और पुनाई चक से आए ग्राम-रक्षा-समिति के जवानों की सहायता से श्रमदान द्वारा सड़क बनवाई, टमका कोइली ग्राम में आग लग जाने पर उसे बुझाने और लोगों का सामान बचाने का प्रबन्ध किया और बाहर से सहायता प्राप्त करके जलकर नष्ट हो गए ग्राम को दुबारा बसाने की व्यवस्था की।

दुखमोचन ने देखा था कि पूरे ग्राम में जो तीसेक मकान खपरैल के थे केवल वही बचे थे। आग ने मानो छू-छूकर उन्हें छोड़ दिया था। इस प्रकार के लंका-दहन से छुटकारा पाने के लिए नये मकान खपरैल के बनवाना उनका लक्ष्य था।

प्रगति में बाधा पहुँचाने वाले पुराने विचारों और संस्कारों के विरुद्ध जो मोर्चा दुखमोचन ने बनाया वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। माया विधवा थी और कपिल विधुर था। दोनों की उम्र में चार-पाँच वर्ष का अन्तर था। दोनों एक-दूसरे को चाहते भी थे, किन्तु विधवा-विवाह और वह भी दूसरी जाति में; कठिन समस्या थी। दोनों ही ने महसूस किया कि दुखमोचन की सहायता मिले तो रास्ता निकल सकता है। कपिल ने उन तक बात पहुँचाई। दुखमोचन ने माया के घर वालों को समझा-बुझाकर तैयार किया और पुराण-पंथियों के विरोध की चिन्ता न करके बाहर से एक आर्यसमाजी पंडित बुलाकर दोनों का विवाह करा दिया। मास्टर टेकनाथ, जो दुखमोचन के कामों में सदा रोड़े अटकाता रहता था, स्वयं मुसीबत में फँसा। गाँव में लगी आग में उसका बूढ़ा बैल खोल दिए जाने के बावजूद जलकर मर गया। प्रायश्चित्त के लिए बिरादरी वाले उसे परेशान करने लगे। अन्त में दुखमोचन ने ही उसे इस मुसीबत से छुटकारा दिलवाया।

इसी प्रकार ग्राम की और भी अनेक समस्याओं का समाधान लेखक ने दुखमोचन से कराया है। लेखक ने जितने सद्गुणों का आरोप अपने इस नायक पर किया है उनका बोझ वह ठीक-ठीक सँभाल नहीं पाता। वह व्यक्ति न रहकर एक टाइप बन गया है। पूरे उपन्यास का कथानक कुछ इस ढंग से गढ़ा गया है जैसे रोगी के लिए एलोपैथी का डाक्टर मिक्सचर का नुसखा लिखता है। जैसे ग्राम की सब समस्याओं की पहले से ही एक सूची बनाकर सामने रख ली गई हो और उनको उत्पन्न करने तथा उनका समाधान करने के लिए अपेक्षित पात्र गढ़कर उन्हे कथानक में गूँथ दिया गया हो। इसलिए अधिकांश पात्र यंत्र-चालित-से हो गए हैं। वे व्यक्ति न रहकर टाइप बन गए हैं। वास्तव में इतनी समस्याओं के स्वाभाविक ढंग से विकसित होने के लिए तो पाँच-सात सौ पृष्ठों की आवश्यकता होती। प्रस्तुत उपन्यास-लेखक ने १६२ पृष्ठों में पूरा कर दिया है। इसलिए कथानक और पात्रों के साथ पूरा न्याय नहीं हो

पाया। जिन पात्रों का सम्बन्ध सूची की समस्याओं से नहीं है वे अधिक सजीव और स्वाभाविक हैं, जैसे दुखमोचन की ६ बरस की बेटी टुनु। कहीं-कहीं लेखक की दृष्टि चूक भी गई है। पृष्ठ १८ पर कहा गया है कि दुखमोचन की औरत पाँच साल पहले हैज़े की शिकार हुई थी और पृष्ठ ७१ और ७३ पर सूचना मिलती है कि वह चार वर्षों तक टी० बी० की मरीज रहकर मरी। उस अभागी के प्राण हरने के लिए इतनी भयंकर दो बीमारियों की क्यों आवश्यकता पड़ी।

हिन्दी-उपन्यासों से मधुर स्निग्ध पारिवारिक जीवन तो मानो निर्वासित ही हो गया है। उसकी मनोरम झाँकी दुर्लभ हो गई है। वयस्क और प्रौढ़ पात्रों की अपनी प्रेम या जीवन-संघर्ष-सम्बन्धी समस्याएँ होती हैं। उन्हींमें वे इतने डूब जाते हैं कि अबोध बालकों की गंगा जल-सी पवित्र और शरद् पूर्णिमा की ज्योत्स्ना-जैसी उज्ज्वल शीतल उन्मुक्त हँसी और पूस की धूप-जैसे प्राण-प्रद निश्छल पारिवारिक स्नेह का जैसे उनके लिए अस्तित्व ही नहीं रहता। यह सही है कि संयुक्त परिवार लगभग टूट चुका है फिर भी बच्चों की किलकारी से मुखरित और माता-पिता या भाई-बहन के स्नेह की सुखद धूप से पोषित भारतीय परिवार के अस्तित्व से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। नागार्जुन के इस उपन्यास में ऐसे ही पारिवारिक जीवन के सजीव चित्र मिलते हैं। दुखमोचन की ६ वर्ष की छोटी बेटी टुनु के अबोध भोलेपन और मामी के संवेदना-गर्भित नारी-सुलभ पारिवारिक नेह-छोह और सेवा परायणता ने इस उपन्यास को प्राणों का स्पन्दन दिया है। मामी का स्नेह सुखदेव, दुखमोचन लीलाधर सभीके लिए है। सभी के प्रति वे सेवा परायण हैं। पास बैठकर भोजन कराने और पंखी से हवा करने में उन्हें तृप्ति मिलती है। यह स्नेह और सेवा शुद्ध पारिवारिक है। यों अन्तर्मन के उद्घाटन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के इस युग में खोजने वालों को मामी के इस स्नेह और सेवा परायणता के पीछे उनके विधवा जीवन की काम-अतृप्ति भी मिल सकती है।

नागार्जुन को ग्रामीण जीवन और खेती-बारी की अच्छी जानकारी है। इस दिशा में उनके सूक्ष्म-निरीक्षण का परिचय एक-एक पृष्ठ से मिलता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—"बैल बस दो थे—तन्दुरुस्त और नाटे कद के। सूरत उनकी साँवलिया थी। हल खींचने में दोनों बहादुर थे। जिन खेतों में धान उपजते हैं; बैसाख-जेठ की पहली जुताई के समय उनकी मिट्टी बेहद कड़ी होती है। जवान हलवाहा हो, मजबूत बैल हों, तेज और नुकीली फार हो, तभी वे खेत जोते जा सकते हैं। क्वार-कातिक या माघ-फागुन में हलकी भुरभुरी मिट्टी वाले खेतों में तो बूढ़े बैल भी हल खींच ले जाते हैं। ये मामूली नहीं, परगना-बछौर के तेज, हर्रार बैल थे। पाँच सौ पचास रुपये गिनकर सीतामढ़ी के मवेशी हाट से दुखमोचन और वेणीमाधव इन्हें लाये थे।"

दुखमोचन कहते हैं "दुनिया समझती है कि गाँव वाले बड़े भोले-भाले और शराफत के पुतले होते हैं, लेकिन यहाँ आकर देख आये कोई...........कौन-सी बदमाशी छूटी है गाँव वालों से! लोभ-लालच, छल-प्रपंच, झूठ-बेईमानी, ठगी और विश्वास-घात.......वह कौन-सा औगुन है जो यहाँ नहीं है।"

ग्रामीण जीवन के प्रगति-विरोधी तत्त्वों को लेखक भली प्रकार समझता है, किन्तु

उसका विश्वास है कि उनकी शक्ति अधिक नहीं है। वे तो धीरे-धीरे स्वयं ही मुरझाते जा रहे हैं। उनसे झगड़ा-टण्टा मोल लेने से लाभ नहीं है। स्नेह और सहानुभूति के व्यवहार से ही उन्हें सही रास्ते पर लाया जा सकता है। वास्तविक बात है सार्वजनिक कार्यकर्ता की असंदिग्ध ईमानदारी और सेवा की सच्ची लगन। यह दोनों ही बातें दुखमोचन में हैं। इसीलिए ग्राम का जनमत उसके साथ है। उसके किसी भी कार्य का सख्त विरोध नहीं होता। नित्यानन्द, मास्टर टेकनाथ और वेणीमाधव के बूढ़े ताऊ पं० ललितनारायण-जैसे व्यक्ति अपने ढंग से प्रगति के कार्यों में बाधा डालने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनकी पार नहीं बसाती। धीरे-धीरे वे भी ठीक रास्ते पर आ जाते हैं। यह सही है कि सफलता के पीछे दुखमोचन की सचाई, निष्ठा और लगन की शक्ति है किन्तु फिर भी उपन्यास में जितनी सरलता से सब क्रान्तिकारी कार्य होते चित्रित किये गए हैं। वास्तविक जीवन में शायद वे इतनी सरलता से नहीं होते।

लेखक में अपनी बात कहने के लिए उतावलापन है। वे दुखमोचन के माध्यम से तो बोलते ही हैं अन्य पात्रों के माध्यम से भी बोलने लगते हैं। दुखमोचन सहायता में प्राप्त गेहूँ बँटवाने के बाद लोगों से कहते हैं "भाइयों, इस अनाज को खैरात न समझना और न गुलामी का चारा-चोगा ही समझना इसको। यह तो एक किस्म की अगाऊ मजदूरी है जिसके लिए आप सभी को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कभी-न-कभी काम करना होगा। आगे हम बाँध तैयार करेंगे, पोखरों की मरम्मत करेंगे, कुँओं की खुदाई होगी, गाँव की तरक्की के दसों काम होंगे। एक जूट होकर हमें सब यह करना है···।" दुखमोचन का यह भाषण तो उसके अनुरूप है लेकिन लेखक जब मामी के माध्यम से भी अपने विचार प्रकट करने लगता है तो वे कभी-कभी उन विचारों का बोझ सँभाल नहीं पातीं!

प्रत्येक पात्र को उसके अनुरूप अलग भाषा देने की जिस अपार क्षमता का परिचय हमें श्री अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में मिलता है, उसका 'दुखमोचन' में अभाव है। पंजाबी फेरी वाले के अतिरिक्त सब पात्र प्रायः एक ही भाषा बोलते हैं।

रेणु की उपन्यास-कला गाँव के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में बड़ी गहराई तक जाकर रस प्राप्त करती है और इसीलिए उसके वृन्त पर खिले 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' सुरभित और मकरन्द सिक्त हैं। नागार्जुन ने ग्रामीण जीवन और वहाँ की समस्याओं का सूक्ष्म निरीक्षण सतह पर किया है। इसलिए 'दुखमोचन' उतना रससिक्त नहीं हो पाया है। उसका पूर्वार्द्ध तो काफी यांत्रिक-सा है। इन सब बातों के होते हुए भी एक दृष्टि से 'दुखमोचन' बड़ी महत्त्वपूर्ण कृति है। वास्तव में देश के नव-निर्माण के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में दुखमोचन हों। आर्थिक सहायता, मशीनें, टेकनीकल ज्ञान और अनाज तो हमें विदेशों से भी प्राप्त हो रहे हैं किन्तु दुखमोचन तो कहीं बाहर से आयात द्वारा मँगाया नहीं जा सकता। उसका निर्माण तो हमें देश में ही करना होगा। जब तक गाँव-गाँव और नगर-नगर के लिए दुखमोचन का निर्माण करने में हम सफल नहीं होते तब तक विदेशों से प्राप्त विविध प्रकार की सहायता का पूरा लाभ देश नहीं उठा सकता। दुखमोचन के निर्माण की दिशा में प्रस्तुत उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण कदम है और इसके लिए श्री नागार्जुन बधाई के पात्र हैं। हमें आशा है

कि इस उपन्यास से हिन्दी-साहित्य में अधिक सशक्त कला से अनुप्राणित और इसलिए अधिक सजीव, प्रभावशाली और प्रेरणा-प्रद दुखमोचनों के आविर्भाव का पथ प्रशस्त होगा।[1]



क्षत्रज्ञ

कला-दर्शन

कला-दर्शन श्रीमती शचीरानी गुर्टू का नवीनतम अध्ययन है। हिन्दी-संसार श्रीमती गुर्टू को जो मात्र साहित्यालोचक जानता है, निःसन्देह उनकी इस कृति को देखकर आश्चर्य करेगा। मैं स्वयं उनकी इस दिशा में प्रगति का स्वागत करता हूँ, विशेषतः इस कारण कि हिन्दी-भाषा-भाषियों का सम्मान कला के सम्बन्ध में प्रायः नहीं के बराबर है, और नारी का सम्मान तो प्रायः सर्वथा नहीं है। इस कारण भी श्रीमती गुर्टू का यह सद्प्रयत्न विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करेगा। इस असामान्य रचना और उसके प्रकाशन पर लेखिका और प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

हमारे हिन्दी के प्रकाशकों का ध्यान कला-सम्बन्धी रचनाओं के प्रकाशन की ओर कम गया है। ऐसा नहीं कि वे उनका महत्त्व न समझते हों, पर चूँकि जनता में सुरुचि और कला-प्रेम की कमी से उनकी लागत में हानि की अधिक सम्भावना है, वे उस ओर कदम उठाने में झिझकते हैं। इसी कारण 'कला-दर्शन' के प्रकाशक के प्रति समीक्षक की बड़ी उदार भावना है। पुस्तक बड़ी है, पाँच सौ तिरेसठ पृष्ठों से अधिक, और उसमें सैकड़ों चित्र भी दिये गए हैं जिससे उसके छापने और प्रकाशित करने का खर्च बेहद बढ़ गया होगा। फिर भी प्रकाशक ने इसे छापकर जो सद्प्रयत्न किया है वह पाठकों के लिए निश्चय ही आदर की वस्तु है।

अब ग्रन्थ। ग्रन्थ के प्रधान अठारह भाग हैं। जिनमें प्रागैतिहासिक कला से लेकर आधुनिक शैलियों और कलाकारों पर प्रकाश डाला गया है। उसका कुछ ज्ञान विषय-सूची से हो जायगा, जो इस प्रकार है—

प्रागैतिहासिक कला, मिस्र की कला, चीन-जापान की चित्र-कला, यूनान की कला, इटालियन कला, स्पेन-फ्लौडर्स-जर्मनी-हालैण्ड की कला, फ्रांस की चित्र-कला, ब्रिटेन और अमरीका की कला, रूस की कला, आस्ट्रेलियन कला, अफ्रीका की कला, प्राचीन कलाएँ, मेसोपोटामिया और क्रीट, अरब-फ़ारस और मुस्लिम कला, भारतीय कला, विश्व की मूर्ति-कला, स्मारक, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्ति कलाकार, और विश्व के प्रमुख देशों के कला के कुछ उपयोगी आलोचनात्मक कला-ग्रन्थ। इन प्रधान मुख्य शीर्षकों के कुछ उपशीर्षक भी हैं जैसे—भारतीय कला के—सिन्धु घाटी की सभ्यता, उत्तरवैदिक काल, शैशुनाक, मौर्य और

१. दुख मोचन; लेखक—श्री नागार्जुन; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद; मूल्य तीन रुपये।

शुन्यु कला, मथुरा, अमरावती और गांधार कला, कला का स्वर्ण युग, मध्यकालीन मन्दिर, मुगल-कला, राजपूत कला, पहाड़ी चित्रशैली, दक्षिणी कला, भारतीय लोक-कला, अन्य छिट-पुट कलाएँ, भारतीय कला पर विदेशी प्रभाव, विदेशी कलाओं पर भारतीय प्रभाव, मध्य-एशिया, चीन, कोरिया और जापान, तिब्बत, नेपाल, ब्रह्मा, कश्मीर, लद्दाख, अफ़गानिस्तान, दक्षिणी-पूर्वी द्वीपसमूह, श्याम, यूनान, मलय और कम्बोडिया, चम्पा, हिन्देशिया, यूरोपीय देश, और भारतीय चित्रकला की आधुनिक प्रवृत्तियाँ। इसी प्रकार 'विश्व की मूर्ति-कला' शीर्षक के उपशीर्षक हैं मिस्र और मैसोपोटामियाँ की मूर्तिकला, रोमन मूर्तिकला, पुनरुत्थान काल, (रेनासाँ) की मूर्तिकला, मूर्तिकला का पुनरुत्थान और पौर्वात्य मर्ति कला। अफ्रीका, मैक्सिको, चीन-जापान और भारतीय मूर्ति कला।

जहाँ इस प्रशस्त विषय-सूची से ग्रन्थगत साहित्य के विस्तार का प्रसार प्रकट है वहीं उनसे उसकी सीमाएँ भी साफ़ जाहिर हो जाती हैं। इस प्रकार के ग्रन्थ का विकास यथा-सम्भव आवयवीय (आरगेनिक) शैली से होना चाहिए था। संसार के साहित्य और विशेषतः उसकी कला के क्षेत्र में सामूहिक आन्दोलन होते रहे हैं और उन्होंने निरन्तर साहित्य और कला की शैलियाँ और कलमें प्रस्तुत की हैं। उन आन्दोलनों का विधिवत् साक्षात्कार किये बिना कोई समीक्षक साहित्य या कला की धाराओं को न स्वयं समझ सकता है और न दूसरों के आलोचन के लिए ही उनके पट खोल सकता है। फिर उनके अध्ययन की पृष्ठभूमि के अभाव में रचना की वैज्ञानिकता भी आचेष्टित नहीं हो पाती। आरावेस्क, गोथिक, रेनेसाँ, नवक्लासिकल, रोमांटिक, प्राकृतिक, प्रभाववादी उत्तर-प्रभाववादी, अमूर्त-मूर्तन, यथार्थवादी, अवचेतन अथवा अति यथार्थवादी, भविष्यवादी, सामाजिक यथार्थवादी आदि साहित्य, चित्र और मूर्ति-कला में, लिथो और उत्कीर्णन में जितनी भी शैलियाँ चली हैं उन सबके पीछे उन प्रवृत्तियों और ललित साहित्य तथा कला के आन्दोलनों की इतनी गहरी पृष्ठभूमि है कि बिना उनकी समुचित जानकारी के उन विविध शैलियों को समझ सकना असम्भव है। कारण-रूप में उस पृष्ठभूमि का और कार्य-रूप में उससे पल्लवित विभिन्न शैलियों का सार्थक अध्ययन सावयवीय ही हो सकता है। उस दृष्टि में लेखिका निःसन्देह चूक गई है। इसी कारण ग्रन्थ के अंगांग वस्तुतः पारस्परिक समान मूलभूमि को छोड़कर संहिता के रूप में उखड़े-उखड़े एकत्र हो गए हैं और उन्होंने उन पुराणों का रूप धारण कर लिया है जिनमें वस्तु सम्पदा तो अनन्त है परन्तु सावयवीयता सर्वथा नहीं है। पुराण का उल्लेख यहाँ जान-बूझकर इसलिए किया जा रहा है कि उनके विषयों की अवैज्ञानिक पद्धति के बावजूद भारतीय इतिहास को उनकी देन अनन्त है। 'कला दर्शन' के भीतर एकत्रित सामग्री की मात्रा और परिधि भी बड़ी है, त्रुटि केवल उसके वर्गीकरण और आलोचन में है। उदाहरणतः यदि हम यह जानना चाहें कि क्रीट, यूनान, असूरी, ईरानी और भारतीय कलाओं के वैयक्तिक रूपायन एक-दूसरे से इतने भिन्न क्यों हो गए, स्वयं क्रीट और उसके पड़ोसी यूनानी कला-अभिप्रायों में इतना मौलिक अन्तर कैसे पड़ा तो हमें इसका उत्तर इस ग्रन्थ से नहीं मिल सकता। इसी प्रकार प्रभाववाद की व्यञ्जना, भविष्यवाद की चुनौती, अणुवाद का विश्लेषण—क्यों और किस प्रकार रेखा और वर्ण की परिधि में अपने नये सन्देशों के साथ उल्वण हुए, हम इस ग्रन्थ से नहीं जान सकते। इतने बड़े ग्रन्थ से अपेक्षित यह या

कि उन आधुनिक महान् चित्रण-शैलियों की पृष्ठभौमिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाले और यह दिखा दे कि 'छड़ी के साथ टहलना' पाल क्ली के लिए मात्र रेखा की अलसाई तृष्णा न थी वरन् रागात्मक विश्लेषण का एक वैभव था। कहते हैं कि पिकासो अपने बीस वर्ष की आयु में जब, वह पहली बार स्पेन से पेरिस पहुँचा, अपनी कला की कृत्रिमता में इतना दक्ष और विचक्षण हो चुका था कि वह रेनेसाँ के प्रधान कलावन्तों रफेल और माइकेल एंजेलो के साकृतिक चित्रणों से सफल लोहा ले सकता था, पर उस मधुराकृतिक वृत्त को तोड़कर जब वह बाहर निकल आया और इधर पिछले पचास वर्ष से नित्य नये प्रयोग करता जा रहा है तो निश्चय इन नये प्रयोगों का उसके निजी जीवन में और स्वयं कला के इतिहास में महत्त्व है। कला के इतिहास में तो उन प्रयोगों का इतना महत्त्व है कि पिछले पाँच दशकों के भीतर यूरोप और अमरीका में जितनी भी चित्र-शैलियों का प्रवर्त्तन हुआ है उन सबका मूल पिकासो के ये प्रयोग ही हैं। आधुनिक, विशेषतः भारतीय, कलालोचकों में (जिनकी संख्या सौभाग्य से स्वल्प है), जो बीसवीं सदी की कला-शैली के विकास को समझ नहीं पाते, अंगीकृत नहीं कर पाते, उन कृतियों को देखकर जो नाक-भौं सिकोड़ते हैं, एक स्वायत्त उँचाई से उन पर तिरस्कार और उपहास की नज़र डालते हैं, विरोध की मात्रा इतनी नहीं जितनी अज्ञान की है—वे इतना भी नहीं समझ पाते कि आकृति-चित्रण में अपील राग और सुन्दर आकृति के प्रति आग्रह की है, वक्र रूप से,'कैड' या फूहड़ के प्रति भी, स्थूल या ग्रोस, के प्रति तो निश्चय, जहाँ अमूर्त्त और अनाकृतिक आधुनिक चित्रण में अपील और आग्रह बुद्धि के प्रति है। दोनों में अन्तर आज की अमरीकी जाज से आक्रान्त भारतीय फ़िल्मों या फ़िल्मी गानों—जिनकी अपील हृदयग्राही पर फूहड़ के प्रति है—और क्लासिकल अथवा मार्गीय (शास्त्रीय)-गायन का है। जिस प्रकार शब्द-प्रधान होने से फ़िल्मी गाने अदीक्षित को सद्यः आकृष्ट कर लेते हैं पर मार्गीय गायन को हृदयंगम करने के लिए तालस्वर और छन्दस् की तरंगित सूक्ष्मता की समझ के लिए अभ्यास और डिसिप्लिन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सांस्कृतिक सुडौल चित्रण से भिन्न रेखा और वर्ण मात्र की प्रक्रिया को समझने के लिए बुद्धि-चेतना की आवश्यकता होती है। पिकासो आदि का कहना है कि जैसे तरंगित स्वर की ध्वनि अपने में ही पूर्ण होकर अभ्यस्त और डिसिप्लिनड जन की सूक्ष्म चेतना को गद्गद कर देता है उसी प्रकार राग और रेखा द्वारा रूपायित चित्रफलक अभ्यस्त चाक्षुष-जन के मर्म को निःसन्देह छू लेगा, क्योंकि उसकी सिद्धि राग और रेखा द्वारा प्रस्तुत किसी इतर विषय में नहीं स्वयं राग और रेखा में है। आख़िर रेखा और वर्ण अपने से भिन्न किसी दूसरे का निरूपण क्यों करें? वे दूसरे का प्रतिनिधित्व क्यों करें? दूसरे के अर्थ के सूचक-प्रतीक क्यों बनें? ग्रीष्म-प्रधान देशों की सुबह और साँझ बड़ी प्यारी होती है और उनसे भी प्यारा उन पक्षियों का वह मधुर उल्लास होता है जिसके वशीभूत प्रातः-सायं वे निर्बन्ध रखते हैं। क्या मधुर लगने वाली उनकी ध्वनियों से चकित अभितृप्त मानव रुककर कभी पूछता है कि आखिर इन ध्वनियों का अर्थ क्या है? क्या वह केवल उन ध्वनियों के माधुर्य से अभितृप्ति से चुप नहीं हो जाता? फिर राग और रेखा द्वारा प्रस्तुत चित्रण की सम्पदा मात्र से दर्शक कला की परिधि में अभितृप्त क्यों न हो जाये? इनके पीछे के रहस्य को क्यों ढूँढे? इस आधुनिक बीसवीं शताब्दी के कला-दर्शन को समझने के लिए हमें उसके प्रति सहृदयता पूर्वक जागरूक

होना पड़ेगा। पर यह त्रुटि हम प्रस्तुत लेखिका के सम्बन्ध में ही व्यक्त नहीं कर रहे हैं, हमारी यह शिकायत उन समस्त भारतीय तथाकथित आलोचकों से है जो सावधि कला-शैलियों पर अपने अलान के छींटे उछालते हैं। हाँ, लेखिका उनसे परे नहीं है और इस त्रुटि को वह प्रतिनिधि रूप में स्पष्ट करती है।

ग्रन्थ का कलेवर विश्व की समूची कला को आत्मगत करने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसका प्रायः आधा विस्तार केवल भारतीय कला-क्षेत्र पर प्रकाश डालता है। भारतीय कला के उपशीर्षकों का यहाँ जो इतने विस्तार के साथ परिगणन हुआ है वह अन्य देशों की कला के परिमाण में अत्यधिक है। भारत-सम्बन्धी सामग्री भारतीय कला के विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ तो हो सकती है पर अपने विस्तार से अन्य देशों की कला-प्रियता को दबोच लेती है, मात्रा ने गुण का ग्रास कर लिया है। काश कि उसे इतना विस्तार न देकर उसकी जगह उन देशों की कला की प्रवृत्तियों का रहस्य भी खोला गया होता जिनमें मिनोअन और मिकानी रेखाओं का उद्दाम उल्लास मिनोस के प्रासाद की भित्तियों पर बिखर पड़ा है, जहाँ लुक्सर के मूर्तनों और चित्रों की चेष्टा दारुमय अन्तर्मुख हो रूढ्यभिनिविष्ट हो गई है, जहाँ असूरी पराक्रम सुमेरी निष्क्रियता की पीठ से उठकर सिंहिनी के पराक्रम को तीर मारता है, जहाँ मोहनजोदड़ो का साँड निहित शक्ति के अति बाहुल्य से गति शिथिल हो जाता है, जहाँ ईरानी स्तम्भों की शीर्ष-प्रक्रिया में अपादानी तक्षक प्रस्तर की आकृति को जीव के साँचे में ढालता चला जाता है! यह सब हमें कला दर्शन में अपेक्षित है, तभी इस प्रकार का ग्रन्थ दर्शन का स्थान ले सकेगा वरना वह विषयों की सूची अथवा सामग्री की अनुक्रमणी-मात्र रह जायगा।

यहाँ पर 'कला दर्शन' में बलपूर्वक स्थापित या अनुमोदित कुछ भ्रान्तियों की ओर संकेत कर देना अनिवार्य हो जाता है। पृ० ४२९ पर विदुषी लेखिका ने लिखा है कि—

"हाल की पुरातात्विक खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि एशियायी देशों से ही नहीं, वरन् प्रमुख यूरोपीय देशों में भी आदिम भारतीयों ने धर्म, संस्कृति, कला एवं साहित्य का प्रचार-प्रसार किया था। ईरान, ईराक, ग्रीस, अरब, योरोस्लम, फ़िलस्तीन आदि देश तो यहां से प्रभावित थे ही, रोम, अमरीका, स्पेन, इंगलेंड, फ्रांस, जर्मनी, स्कैंडिनेविया, रूस, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि देशों पर भी भारतीय देवी-देवताओं की प्रतिकृति से लगते हैं। एशिया चाइना में जो आर्य जाति बस गई थी, रोम निवासी उन्हींकी संतति है।"

'अमरीका महाद्वीप का पता यूरोपियों को तो बहुत बाद में लगा, किन्तु भारत का प्राचीन अमरीकन सभ्यता से कदाचित् घनिष्ठ सम्बन्ध था।'

वह वक्तव्य न केवल भ्रान्तिमूलक है बल्कि आत्मवंचक भी है, सर्वथा अवैज्ञानिक तो है ही। वैज्ञानिक विषयों पर लिखने वाले ग्रन्थकार को अवैज्ञानिक 'लोकप्रिय' प्रसंगों से सावधान रहना चाहिए वरना इच्छित सपने 'वास्तव' को नष्ट कर देंगे। पिछले पच्चीस वर्ष से मैं स्वयं भारतीय और यूरोपीय पुरातत्त्व का सचेत विद्यार्थी रहा हूँ पर मैं उन 'पुरातात्विक खोजों' को नहीं जानता जिनसे 'यह सिद्ध हो चुका है कि एशियायी देशों में ही नहीं, वरन् प्रमुख यूरोपीय देशों में भी आदिम भारतियों ने धर्म, संस्कृति, कला एवं साहित्य का प्रचार-प्रसार किया था।' फिर इन देशों पर 'धर्म, संस्कृति, कला एवं साहित्य का' प्रभाव

केवल भारतीयों ने ही नहीं बल्कि 'आदिम' भारतीयों ने डाला था। पहले तो आदिम शब्द का इस्तैमाल कोई इतिहासकार 'प्रिमिटिव' अथवा प्रागैतिहासिक के अतिरिक्त दूसरे अर्थ में नहीं करता। उस स्थिति में द्रविड़ों से भी पहले के भला वे कौन 'आदिम' (ऐबोरीजी-नल) भारतीय थे जिन्होंने भारतीय संस्कृति का यूरोपीय देशों में प्रचार किया, यह समझ पाना कठिन है। और इन यूरोपीय देशों का जो परिगणन हुआ है उनमें रोम, स्पेन, इग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्केन्डिनेविया, रूस आदि सभी हैं। इन्हीं देशों और उन पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव का खुलासा करते हुए जो विदुषी लेखिका ने पृ० ४३४ पर लिखा है वह उत्साह का इतना अवैज्ञानिक प्रदर्शन है जिसकी जोड़ का साहस यदि कहीं मिल सकता है तो बस चालीस वर्ष पहले के उन प्रचारात्मक संस्था के प्लेटफार्म पर ही, जिसका उत्साह उस काल अवैज्ञानिक होता हुआ भी क्षम्य हो सकता था·····'जर्मन शब्द के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार टाड का मत है कि यह संस्कृति के 'शर्मण्य' शब्द का अपभ्रंश है। सम्भवत: यहाँ के ब्राह्मणों का एक वर्ग, जो शर्मन की उपाधि से विभूषित था, जर्मनी जाकर बस गया था। जर्मन-देशवासियों के आचार-विचार—जैसे प्रात: उठना, स्नान-पूजा आदि भारतीयों जैसे ही हैं। जर्मन भाषा में संस्कृत शब्दों से भी बहुत अधिक समता है। स्केन्डि-नेविया का संस्कृत में नाम स्कन्ध था। यहाँ की देव-प्रतिमाएँ भारतीय देवी-देवताओं से मिलती हैं। आराधना-पद्धति भी बहुत समान है। इनके प्राचीन धर्म-ग्रन्थ का नाम 'येद' है जो 'वेद' का ही विकृत रूप प्रतीत होता है।' ये शब्द तो निःसन्देह वैज्ञानिक विद्वत्ता की भीषण विडंबना के सूचक हैं। पहले तो टाड को इतिहासकार मान लेना फिर उसे संस्कृत पंडित और शब्दशास्त्री बना जर्मन शब्द का उसके शब्दों से व्युत्पत्ति करना साहस का ही काम है। 'शर्मण्य' का अपभ्रंश जर्मन न केवल संस्कृत से अपभ्रंश बनने वाले नियमों की छीछालेदर है बल्कि साथ ही वह उस भयानक प्रवृत्ति की द्योतक है, जिससे लगता है, मिटते हुए एक तथाकथित पाण्डित्याभास का एक अंश अब भी विद्यमान है। और आगे की सुख-कल्पना कि 'सम्भवत: यहाँ के ब्राह्मणों का एक वर्ग जो शर्मन् की उपाधि से विभूषित था जर्मनी जाकर बस गया था, 'तो नितान्त हास्यास्पद है। जर्मन शब्द कैसे बना यह यदि ट्यूतनी के आधार से जाना न जा सका तो कम-से-कम इतना जानने में तो बड़े पाण्डित्य की आवश्यकता न थी कि कोई जर्मन अपने देश को जर्मनी नहीं कहता सभी 'ड्वाएत्श लैण्ड' कहते हैं। इस वक्तव्य ने तो जर्मन और भारतीय दोनों इतिहासों का बड़ा फूहड़ उपहास किया है और जर्मन भाषा में संस्कृत शब्दों के समान शब्दों का होना तो केवल उस आधार-भूत हिन्दी-यूरोपीय प्राचीन भाषा की ओर संकेत करता है जो भाषा-विज्ञान का ककहरा है। इसी परम्परा में लेखिका ने स्केन्डेविया के संस्कृत नाम 'स्कन्ध' को रच डाला और साथ ही 'एद्दा' को 'येद' बना, उसे 'वेद का विकृत रूप भी बना डाला।

अमरीका महाद्वीप का भारतीय सभ्यता की परिधि में आना कुछ ऐसे लिखा गया है जैसे वह प्रमाणों से स्वयंसिद्ध हो चुका हो। दीवानचन्द के 'हिन्दू अमेरिका' ने किस हद तक इस अवैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रचार इस देश में किया है कि खेद है कि साहित्य की समालोचिका उसकी सम्भावनाओं को कहाँ तो बुद्धि की पैनी नोक पर रखकर उनका विश्लेषण करती वह स्वयं उनकी भाषा से मोहाभिभूत हो गई है।

आधुनिक कला-शैलियों के सम्बन्ध में लेखिका ने जो विचार व्यक्त किया है वह भी सर्वथा अग्राह्य है। पृ० ४४० पर वह लिखती है—**"जो किसी निश्चित कला-टेकनिक में माहिर नहीं होते और प्राचीन परम्पराओं पर पदाघात कर नई लकीरें बनाते आगे बढ़ते हैं उनकी विद्रोही विध्वंसात्मक अभिव्यक्ति कुत्सित चेतना का प्रतीक बनकर कला को भी कुरूप बना देती है।"** देश में इस आधुनिक कला के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति फैली हुई है उसीका परिचायक यह वक्तव्य भी है। इस भ्रान्ति का आधार वस्तुतः अज्ञान है जिसमें कला की समसामयिक प्रगति के नये मूल्यों का पहचानना कठिन हो गया है। किस प्रकार सेजान के विश्लेषणात्मक रेखांकन से निकलकर चीनी-जापानी प्रभाववाद की प्रेरणा से मोने और माने की मंजिलों से बढ़ती हुई यह चित्र-शैली पिकासो की छत्रछाया में आज लहरा रही है उसकी कल्पना भी सम्भवतः हमारे सुन्दर आकृतिक चित्रों में रस लेने वाले दर्शकों को नहीं। आकृति की अपील, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, स्थूल के प्रति है, इन रेखाओं की सूक्ष्म बुद्धि के प्रति। इसको समझने के लिए आकृति का ऊपरी आकर्षक भेद रेखा की सूक्ष्मता में प्रवेश करना होगा।

पृ० ३४६ पर फतहपुर सीकरी की आवास-भित्तियों पर बने चित्रों के सम्बन्ध में विदुषी लेखिका लिखती है कि 'हिन्दू पत्नियों से यह कलात्मक रुचि अकबर को विरासत में मिली थी।' यह अपने देश की अकारण अप्रामाणिक श्लाघा का दूसरा उदाहरण है। अकबर के पास विरासत अपनी हिन्दू या मुसलमान पत्नियों की नहीं; चीनियों, मंगोलों, ईरानियों की थी, जो इसके पितामह बाबर और विशेषकर उसके पिता हुमायूँ के माध्यम से मिली थी। किस प्रकार सैयद मीर अली मुगल दरबार में ईरान से लाया गया, किस प्रकार उसकी भारतीय कल्पना के पट में लकीर की रंगसाजी फली-फूली और मुगल कलम कहलाई और किस प्रकार वह अकबर की विरासत बनी, इसके लिए हमें अपने प्रिय असत्य जोधाबाई का मुँह न तकना होगा।

सैन्धव सभ्यता को लेखिका ने ई० 'लगभग चार सहस्र वर्ष पूर्व रखा है। (पृ० ३१०) जो स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका आरम्भ भी तीन हजार ई० पू० से पहले रखने में इतिहासकारों को आपत्ति होगी। एक स्थान पर एक कुषाणकालीन चित्र के नीचे अनवधानतावश 'कुषाणकाल, द्वितीय शती ई० पू० छप गया है, जिसे 'प्रथम शती ईसवी' होना चाहिए था।

एक बात विदेशी शब्दों के उच्चारण के सम्बन्ध में कह देना यहाँ उचित होगा। हम अंग्रेजी सत्ता के कारण फ्रेंच आदि विदेशी शब्दों का उच्चारण अंग्रेजी ध्वनि के माध्यम से अब तक करते रहे हैं। कोई वजह नहीं कि अब हम उनका लेखन-उच्चारण उनके मौलिक अथवा भारतीय तरीके से न करें। साधारणतः हमें समझ लेना चाहिए कि इंग्लैण्ड को छोड़कर फ्रांस से अफगानिस्तान तक के रहने वाले टवर्ग का उच्चारण प्रायः नहीं कर सकते और उसे कोमल तवर्ग के रूप में करते हैं। इससे जहाँ-जहाँ ट-ड आदि अक्षर अंग्रेजी तरीके से लिखे गए हैं नाम-शब्दों के उच्चारण में उनका लेखन कोमल ध्वनि में होना चाहिए था।

चीन के प्रख्यात तांग-वंश को लेखिका ने पृ० २६ 'टांग-वंश' लिखा है। इसी नियम

के अनुकूल सारोक्टोनस, डोरिफोरस, डाएडमीनास, डोमेनिकोस, थियोटोकोपलस, रेनांर (रन्वा), नेबुचादनेश्वर (नेबुखदनज्जार), (यही पृ० २५२ का नेबुयादनेश्वर पृ० ५४१ पर 'नेबुयादनेजर' बन गया है।) इसी प्रकार सुमेरिया, बेबिलोनिया, असीरिया, चैल्डिया (कैल्दिया), मेसिडोनियन की जगह प्रयोग सुमेर, बाबुल, अस्सुर, खल्द और मकदुनिया का होना चाहिए था। फिर इनसे विशेषण सुमेरियन, बेबिलोनियन, अस्सीसियन, चैल्डियन आदि भी न बनाकर देशी तरीके से सुमेरी, बाबुली, अस्सूरी, खल्दा आदि बनाना चाहिए था। इसी प्रकार यूरोपीयन, अमरीका, अफ्रीकन, आस्ट्रेलियन आदि की जगह यूरोपीय अमरीकी, अफ्रीकी, आस्ट्रेलियायी (एशियायी के तरीके पर) आदि होना चाहिए था।

चित्रों के चयन में भी कुछ सावधानी की आवश्यकता थी। चित्रों का चयन वैसे पर्याप्त हुआ है, और भारतीय छपाई की दृष्टि से उनका मुद्रण भी कुछ इतना बेजा नहीं हुआ, पर चित्रकारों की संख्या के विचार से शायद इनमें परस्पर अनुपात रखना चाहिए था। कुमारिल स्वामी (जिनका स्थान सावधि भारतीय चित्रकारों में भी ऊँचा नहीं) के प्रायः दस चित्र ग्रन्थ में दिए गए हैं जितनी माइकेल एंजेलो, रफेल, ल्योनार्दो, तितियन और पिकासो की सम्मिलित चित्र-संख्या भी सम्भवतः नहीं है। इस सम्बन्ध में कुछ सावधानी बरतनी आवश्यक थी, विशेषतः जब देश के सबसे मतिमान आधुनिक चित्रकार मकबूल फिदाहुसेन का नाम भी पुस्तक में नहीं लिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त कलाकारों की सूची में जहाँ और देशों के कलाकारों के इने-गिने नाम दिए गए हैं (चीन और जापान के केवल आठ-आठ कलाकारों के) वहाँ भारत के २३२ कलाकारों के नाम परिगणित हैं। निःसन्देह इस अनुपात पर टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं।

यह तो हुई ग्रन्थ के विषय के सम्बन्ध में कुछ सुझाव और सुधार की बात। हासिल बात यह है कि ग्रन्थ कुछ दोषपूर्ण होने के बावजूद अत्यन्त उपादेय है और उससे अपनी प्रगतिशील भाषा के एक उपेक्षित क्षेत्र की पूर्ति की है। विशेषतः इस दृष्टि से मैं इस ग्रन्थ का अपने साहित्य में स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि लेखक और पाठक दोनों इसे पढ़ेंगे और इसका संचय करेंगे।[1]



जितेन्द्रनाथ पाठक

'दूर के ढोल' और 'चाँद रानी'

अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् भारतवर्ष न केवल राजनीतिक और आर्थिक दासता से पीड़ित हुआ वरन् व्यापक सामाजिक और मानसिक दासता से भी। इस सामाजिक और मानसिक दासता के शिकार सबसे पहले वह वर्ग हुए जो पुराने रजवाड़ों, जमींदारों अथवा पूँजीपतियों से संगठित हुए थे। यह वर्ग सुविधा प्राप्त वर्ग (Privileged class) था। सुविधाएँ

१. **कला दर्शन, लेखिका श्रीमती शचीरानी गुर्टू, प्रकाशक साहनी प्रकाशन, दिल्ली, १९५६, पृ०५६३, मूल्य २०)।**

उन्हें मिल ही तब सकती थीं जब वे इस मानसिक दासता को स्वीकार करते। मानसिक दासता राजनीतिक दासता से अधिक गहरी जाती है। राजनीतिक दासता समाज की बाह्य-रचना को विशेष प्रभावित करती है और अंतरंग-रचना को कम, लेकिन मानसिक दासता मनुष्य के राष्ट्रीय अंतरंग सौन्दर्य पर लीपा-पोती करके उसे अत्यन्त विकृत और अनुकृत रूप में उपस्थित करती है। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक इस सुविधा-प्राप्त वर्ग की यह मानसिक दासता बनी रही। अवश्य ही इस वर्ग से राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिशील करने वाले जननेता भी सामने आये, पर वे बहुत कम थे। जन-क्रान्ति की बाढ़ तो सामान्य जनता की ओर से आई। इस बाढ़ से अंग्रेजी शासन की चूलें हिलीं और टूट गईं, किन्तु इस सुविधा-प्राप्त वर्ग की मानसिक दासता की चूलें बहुत कम क्षत हुईं। उन्होंने कांग्रेसी राष्ट्रीय शासन की राजभक्ति का भार उन पर सँभाल लिया, क्योंकि उन्हें न सही रजवाड़े और ज़मींदार, मिल-मालिक और सम्पत्तिशाली तो बने रहना ही था।

तेलगुभाषी आरिगपूडि के उपन्यास 'दूर के ढोल' का कथा-परिवेश यही है। इस कथा-परिवेश की अनेक समस्याओं का चित्रण उन्होंने किया अवश्य है किन्तु उन्होंने अपने को केन्द्रित किया है इस मानसिक दासता से स्वेच्छया ग्रस्त सर्वथा पाश्चात्य ढंग से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने वाले स्त्री-पुरुषों पर। उन्होंने स्त्री-पक्ष पर और अधिक ध्यान दिया है और कथा की प्रधान पात्र रमा चौधरी का सूक्ष्म ढंग से जीवन-चित्रण किया है। उन्होंने भूमिका ('जो मैं न कह पाया') में बताया भी है कि 'श्रीमती रमा चौधरी-जैसी स्त्रियाँ इस देश में इनी-गिनी हैं, यह भारत का सौभाग्य है।' ऐसी स्त्रियों की विरलता की प्रतीति के बावजूद भी इनके जीवन पर इतना अधिक, इतना तेज़ व्यंगपूर्ण दृष्टिपात इसलिए है कि इनका अस्तित्व भी—जो अनेक परिवारों के नाश का कारण बनता है—मिट जाय।

रमा चौधरी एक दरिद्र ईसाई परिवार में पली थीं। बचपन की शरीन (रमा चौधरी) काफी शोख कालेज की लड़की के रूप में चित्रित हुई है। पिता लड़की को पढ़ाने और परिवार-पोषण के लिए मिलाट्री स्टोर से सामान चुराने और बेचने के अभियोग में नौकरी से निकाल दिये गए हैं। शरीन फिर भी मद्रास में पढ़ती रही। उसकी अनैतिकता की अनेक कहानियाँ फैलने लगीं। भाग्य चमका, शरीन को श्री एल० एन० चौधरी नामक अत्यन्त धनवान नवयुवक मिले और माता-पिता सबकी अवज्ञा कर शरीन से विवाह कर लिया। शरीन अब श्रीमती रमा चौधरी हो गईं। यहाँ भी उन्होंने अपनी स्वच्छन्दता जारी रखी। रमा चौधरी पति के साथ यूरोप भ्रमण के लिए गईं। वहाँ से लौटने के बाद कपड़े की थोक एजेन्सी लेकर मद्रास में दूकान की गई। स्वयं दूकान चलाना उनकी प्रतिष्ठा की परिभाषा के विरुद्ध था। सोसाइटी और क्लब से भी उन्हें फ़ुरसत नहीं थी। दूकान का प्रबन्ध रमा चौधरी के पिता को सौंप दिया गया। पिता ने अपनी मुट्ठी गरम की और दूकान बेच दी गई। सुना गया कि मि० पाल (रमा के पिता) ने नये खरीदार से साझा कर लिया। इसके बाद चौधरी की पैतृक सम्पत्ति इतनी ही रह गई कि किसी प्रकार भरण-पोषण हो जाय। किन्तु रमा चौधरी को घुड़दौड़, शराब, सिगरेट, इत्र, वेशभूषा, कार, टैक्सी, पार्टी आदि के लिए प्रतिमास कई हज़ार की रकम चाहिए थी। श्रीमती रमा चौधरी इन खर्चों को अपने

मित्रों से पूरा करती हैं। उनकी मित्र-मण्डली में अकूत धनराशि वाले मुदलियार, चेट्टियार, डगन आदि हैं। यदि मुदलियार और डगन को रमा चौधरी प्रेम देकर पैसा लेती हैं तो चेट्टियार को चुनाव लड़ाकर। सामाजिक प्रतिष्ठा पाने का उनका सबसे बड़ा साधन सेवा के विज्ञापन का है। उन्हें पैसे की कमी नहीं होती चाहे चौधरी साहब दे सकें अथवा नहीं। पति-पत्नी में खाई बढ़ती जाती है। अत्यन्त शालीन मि० चौधरी सन्देह के जाल में निरन्तर फँसते जाते हैं और श्रीमती रमा मुदलियार और डगन के साथ, राजनीतिक कार्य के नाम पर, अपनी विलास-प्रियता को तृप्त करती जाती हैं। अन्त में मि० चौधरी को एक दिन अत्यन्त अप्रत्याशित रूप से श्रीमती रमा श्री डगन के साथ एकान्त कमरे से उनके होटल में निकलती दिखलाई पड़ती हैं और उस अतिशय गम्भीर और शालीन व्यक्ति में भी घृणा और हिंसापूर्ण क्रोध का संचार होता है। चौधरी पिस्तौल लेकर लौटते हैं। श्री डगन पर पिस्तौल छूटती है। उनके मित्र श्री राव के कारण निशाना चूक जाता है और इस समूचे नाटक का अन्त श्री डगन और श्री रमा के मद्रास छोड़ने में होता है। बाद में सुना जाता है कि रमा पुनः किसी मिलिट्री के आदमी के साथ चक्कर काटने लगती हैं और श्री चौधरी तब भी उन्हें तीन सौ मासिक भेजते चले जाते हैं। इस सम्पूर्ण घटना-प्रसार में मुदलियार की सती-साध्वी पत्नी आत्महत्या करती है। श्री डगन की पत्नी रुष्ट होकर मायके चली जाती है तथा श्री डगन और श्री मुदलियार उजड़ जाते हैं। हाँ चेट्टियार माँ के कारण सँभल जाता है।

यह सम्पूर्ण कथानक उस समाज का चित्र उपस्थित करता है जो पतनोन्मुख है। उस पतनोन्मुख समाज का यौनगत जीवन किन दिशाओं में जा रहा है यह इस कथानक के क्रम-विकास से स्पष्ट होता है। उपन्यासकार ने विरोध-विधान के द्वारा दिखलाया है कि किस प्रकार रमा और लता-जैसी युवतियाँ 'दूर के ढोल' (पश्चिमी सभ्यता) के आकर्षण में अपना सहज स्वत्व और परम्परागत प्रतिष्ठापूर्ण सतीत्व छोड़कर स्वच्छन्द और भारतीय समाज के लिए अमर्यादित यौन-सम्बन्ध स्थापित करती हैं और सामाजिक पुरुष-शक्ति को दिग्भ्रमित करती हैं। लेखक ने दूसरा पार्श्व भी सामने रखा है। रमा के प्रेमी श्री मुदलियार की सती-साध्वी पतिव्रता पत्नी पति की इस पतित क्रीड़ा का निश्चित प्रमाण पाकर आत्म-हत्या कर लेती है, रमा के दूसरे प्रेमी श्री डगन की पत्नी अत्यधिक कुपित होकर मायके चली जाती है। यही नहीं, श्रीमती रमा और श्री चौधरी आदि का अन्त भी बड़ा ही 'फ्रस्ट्रेटेड' और दुःखद हुआ है।

इस उपन्यास ने न केवल पारिवारिक और यौनगत जीवन को लिया है बल्कि राजनीतिक और सामाजिक जीवन को भी स्पर्श किया है। उपन्यासकार आरम्भ से अन्त तक समाज के इन अन्तर्विरोधों को उभारता चला जाता है। यदि वह नए वर्ष के स्वागत-उत्सव के लिए एकत्रित धनिक समाज के नृत्य और खाने-पीने का चित्रण करता है तो बाहर दिसम्बर की रात में ठिठुरते उसके ड्राइवरों का भी। यदि वह रमा चौधरी के मद्रास-प्रसिद्ध बंगले की सुन्दरता और सजावट का चित्रण करता है तो साथ ही बंगले की चारदीवारी से सटे मछुओं के झोंपड़ों और उनकी कष्टपूर्ण जीवन-यापन-पद्धति का भी। दरिद्रता और सम्पन्नता दोनों को आमने-सामने रखकर उसने एक-दूसरे को उभारने का अवसर दिया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"फिर वे आकर सजी वेदी पर बैठ गए। उनकी बगल में श्री चेट्टियार और श्रीमती रमा चौधरी बैठे हुए थे और उनके साथ उस मुहल्ले के कारपोरेशन कौंसिलर आसीन थे। उनके पीछे सरकारी कर्मचारी। सबने बढ़िया कपड़े पहने थे। फिर उन पर बिजली की रोशनी पड़ रही थी। सभा का वह भाग चमक रहा था—दिन के समान था।

और नीचे मछियारे''' काले-काले मछियारे, नंगे मछियारे, नंगे बच्चे फटी-पुरानी, मैली-कुचैली साड़ियों वाली औरतें। उनके झुण्ड में से एक विचित्र बद्बू आ रही थी, मानो मछलियाँ पकड़ते-पकड़ते वे स्वयं एक सूखी मछली बन गए हों। बिजली की रोशनी भी कम थी—वह हिस्सा रात के समान था।"

लेखक प्रश्न उठाता है कि इन मछियारों का प्रतिनिधित्व कौन करेगा? पूँजीपति चेट्टियार या मछियारों के ही बीच का एक व्यक्ति पिल्ले? रमा-जैसी कुछ स्त्रियाँ और पुरुष चेट्टियार को प्रतिनिधित्व के योग्य बताती हैं, क्योंकि राजनीति उनके लिए एक सामाजिक आवश्यकता के स्थान पर प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए एक फैशन और अर्थ-साधक अधिक है। पिल्ले के पक्ष से काम करने वाली मध्यवर्गीय कार्यकर्त्री अम्बिकादेवी के अनुसार **"आजकल समाज-सेवा भी एक फैशन हो गया है। इन आलीशान बंगलों में रहने वाली, चुलबुली रईस औरतें, भला झोंपड़ों में मरते-जीते, गरीबों का क्या सही प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। उनको तो अखबारों में नाम छपवाने के लिए एक बहाना चाहिए।"**

"'''यह क्यों होता है कि एक के पास मदद करने के लिए, सेवा करने के लिए पैसा होता है तो दूसरे पैसे के लिए मोहताज बने फिरते हैं? इनके पास भीख देने के लिए पैसे कहाँ से आए, हमींसे तो छीने हैं। वे हमारी चीज़ हमें वापस कर अहसान पाते हैं। भाइयो, खयाल रखो, हर मनुष्य को समान अधिकार प्राप्त हैं।"

इस प्रकार आरिगपूडि ने लोकतन्त्रीय व्यवस्था के सबसे बड़े अन्तर्विरोध को उभारा है। आज वस्तुतः लोकतन्त्रीय आदर्श इन व्यावहारिक दोषों के कारण बराबर स्खलित हो रहे हैं। लेकिन आरिगपूडि के उपन्यास में चेट्टियार की विजय नहीं होती वरन् विजय पिल्ले की होती है। इस उपन्यास में सच्चे लोकतन्त्र का वह रूप बड़ी स्पष्टता से सामने आया है, जो झूठे लोकतन्त्र से बराबर लड़ रहा है और जिसकी विजय निश्चित है।

'दूर के ढोल' में पारिवारिक वातावरण, क्लब, घुड़दौड़, पार्टी सबका बड़ा ही यथार्थ चित्रण मिलता है। चित्रण के अयथार्थ हो जाने से उपन्यास की वस्तु ही अविश्वसनीय हो जाती है। आरिगपूडि ने इस दोष को बचाया है।

यद्यपि आरिगपूडि का यह पहला उपन्यास है और वे मूलतः तेलुगु-भाषी हैं फिर भी उनका उपन्यास वस्तु-स्थापन और शिल्प-विधि दोनों दृष्टियों से हिन्दी के उन अनेक उपन्यासों से अधिक उत्कृष्ट है जो 'सैक्स' के नाम पर विशृंखलित और कुण्ठाग्रस्त मानसिक स्थितियों का चित्रण करते हैं। कला के क्षेत्र में उपन्यासकार ने दो शक्तियों से पूरा-पूरा काम लिया है—संयम और सूझ।

'दूर के ढोल' के वस्तु-विन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है संतुलन। लेखक कथा का केन्द्र श्रीमती रमा चौधरी को ही बनाता है, फिर भी समयुगीन परिदृश्यों और समस्या-बिन्दुओं को भी बड़ी क्षमता के साथ उभारता चला जाता है। विशेषता यह है कि इन

समयुगीन समस्याओं के चित्रण के बीच श्रीमती रमा का केन्द्रीय महत्त्व समाप्त नहीं होता। इन सबका अपेक्षित व्यंग, अपेक्षित सहानुभूति के साथ वह सहज जीवन-चित्रण उपस्थित करता है। उपन्यास में अनावश्यक स्थूलता और असंतुलन खोजने से भी नहीं मिलेगा।

चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से वह और भी सफल हुआ है। श्रीमती रमा के पति श्री चौधरी के चरित्र का अंकन इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता है। नालायक और आवारा पति के द्वारा क्षत होती हुई खानदानी शालीनता किस प्रकार क्रियाशील होती है—इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। वैसे राव साहब, मुदलियार, चेट्टियार, चौधरी के पिता महेश्वर राव, श्री डगन, अब्राहम, सब अपना निजत्व सुरक्षित रखते हैं। चौधरी, मुदलियार, चेट्टियार और डगन चारों रमा के प्रेमी हैं, किन्तु चारों अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। यह सभी अपने वर्ग के प्रतिनिधि होते हुए भी व्यक्तिगत वैचित्र्य से सम्पन्न हैं। चरित्रों और कथानक दोनों की अपनी-अपनी गति है कहीं कोई आरोप या आक्षेप नहीं दिखलाई पड़ता।

वातावरण और पृष्ठभूमि, संवाद और भाषा-शैली सभी वस्तुगत यथार्थ के अनुगामी हैं। उपन्यासकार यदि वस्तुगत यथार्थ का ध्यान रखे तो वह उपन्यास-लेखन के बुनियादी दोषों से बच जाता है। सच तो यह है कि प्रत्येक काव्य-रूप में वस्तु ही रूप-शिल्प का निर्माण करती है। आरिगपूडि ने इस सत्य को चरितार्थ किया है। नवीनता का नियोजन प्रतीक-विधान और सांकेतिक प्रयोगों के द्वारा हुआ है। स्वयं 'दूर के ढोल' नाम ही एक सुन्दर प्रतीक है।

आरिगपूडि की उपन्यास-कृति किसी गम्भीर दार्शनिक भित्ति पर नहीं खड़ी होती, यह एक आलोचना हो सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि उसे अपनी सफलता के लिए किसी दार्शनिक भित्ति की आवश्यकता है ही नहीं, उसकी रचना सोद्देश्य है इसलिए वह कहीं उलझता नहीं।

लगभग इसी कथावस्तु को स्वीकार करके श्री सत्यप्रकाश संगर का 'चाँदरानी' उपन्यास खड़ा होता है। चाँदरानी के कथानक का केन्द्र 'चाँदबीबी' ही हैं। इसका कथापरिवेश किंचित् भिन्न है। वेश्या के ऊपर किये गए सामाजिक अन्याय को इस उपन्यास की पृष्ठभूमि बनाया गया है—ऐसा चाँदबीबी के कथन (जो सम्भवतः लेखक का भी स्पष्टीकरण है) से स्पष्ट होता है।

चाँदरानी वेश्या-पुत्री थीं। उन्हें आरम्भ में एक ऐसे व्यक्ति का पत्नीत्व स्वीकार करना पड़ा जिसे उन्होंने ऊबकर अस्वीकार कर दिया। उन्हें शमसुद्दीन नाम के 'लखनवी अन्दाज' के एक व्यक्ति मिलते हैं। दिखाव के लिए उन्हें केशरचन्द्र नाम के इंश्योरेंस एजेंट से ब्याह दिया जाता है जो वस्तुतः कापुरुष रूप में पुरुष है। इसके बाद चाँदबीबी स्वच्छन्द रूप से अपनी विलास-क्रीड़ा आरम्भ करती हैं जिनके साथ वह अपना प्रेम-व्यापार चलाती हैं उनमें उनके नौकर जार्ज से लेकर अध्यापक बैकुण्ठ, पुलिस इंस्पेक्टर शमसुद्दीन, रायसाहब, शायर परवाज, अनेक क्लर्क, सम्पादक आदि सभी हैं। उनकी अन्तिम इच्छा नवागंतुक पुलिस सुपरिण्टेंडेंट केवलकृष्ण को अपने चरणों में झुकाने की है, जिसके लिए वह एक लम्बा जासूसी प्रयत्नजाल बुनकर के उसमें स्वयं फँस जाती हैं। अन्त में चाँद के मित्रों की अक्ल ठिकाने आती है। एकदम मिटने की स्थिति में आकर चाँद नवयुवक अध्यापक बैकुण्ठ की शरण

लेकर, उससे विवाह करके अपनी रक्षा करती है।

यही इस उपन्यास की ऊबा देने वाली कहानी है। इसमें न तो कोई नूतन पृष्ठभूमि है, न कोई नूतन परिप्रेक्ष्य ही। सम्पूर्ण उपन्यास में एक अस्वाभाविक कथावस्तु का अस्वाभाविक ढंग से उपस्थापन हुआ है। आरम्भ से अन्त तक एक ऐसी घटना का जाल बुना गया है जो यथार्थ से कोसों दूर है। असाधारण घटना-व्यापार और चरित्र-शृंखला को प्रतिष्ठित करने के लिए जिस बुद्धि-बल की आवश्यकता होती है उसका भी अभाव है, वैसे असाधारण पात्र और असाधारण घटना-व्यापार संप्रति उपन्यास-साहित्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण भी नहीं रह गए हैं।

उपन्यास और उपन्यासकार की जो सबसे बड़ी कमजोरी है वह यह है कि चाँदरानी के प्रति वह पाठक की सहानुभूति नहीं जगा पाता। इस प्रकार के उपन्यासों में जहाँ किसी को अभिशप्त दिखाया जाता है और उसका कार्य-व्यवहार प्रतिशोधोन्मुख दिखाना अभीष्ट होता है वहाँ उस व्यक्ति के अपने अंतर्द्वन्द्वों को इतने बलशाली रूप में उपस्थित किया जाता है कि वह समस्या और समस्या-पीड़ित की ओर ध्यान और सहानुभूति खींच सके। इस प्रकार मेरे विचार में 'चाँदरानी' का मानस-पक्ष लेखक यथापेक्षित ढंग से नहीं रख सका है। चाँदरानी केन्द्रीय चरित्र है लेकिन उसीका चित्रण अशक्त हो गया है; फलतः उपन्यास काफी हल्का हो जाता है। इतना ही नहीं जिस परिप्रेक्ष्य को लेखक सामने रखना चाहता है उसे भी उपयुक्त पात्र और घटना के प्रभाव में नहीं रख पाता।

उपन्यास की भाषा में उपचार-तत्त्व प्रधान है। चाँद रानी और उनके समुदाय की भाषा की व्यावहारिक औपचारिकता सारे उपन्यास की भाषा को हर लेती है। उपन्यास में स्थिति का निर्देश न होने से परिवेश का गठन भी नहीं हो पाता। उपन्यास वहाँ अत्यधिक ऊबा देता है जहाँ चित्रण के लिए चित्रण होने लगता है। कुल मिलाकर उपन्यास साधारण है।[1]



शिवकुमार मिश्र

दो ऐतिहासिक उपन्यास

वर्तमान युग हिन्दी-साहित्य की बहुमुखी प्रगति का युग है! प्रगति—साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में रची जाने वाली कृतियों की संख्या से सम्बन्धित है या उन कृतियों के साहित्यिक स्तर से, यह भले ही विवाद का विषय हो, पर इतना अवश्य है कि साहित्य प्रगति कर रहा है। हमारे मत से तो यह प्रगति संख्या व स्तर दोनों से ही सम्बन्धित है—संख्या से बहुत अधिक स्तर से कम, पर हम स्तर-सम्बन्धी प्रगति के प्रति भी आस्थावान हैं और आज की स्थिति को देखते हुए हमारी यह आस्था निरी थोथी भी नहीं प्रतीत होती। साहित्य की इस बहुमुखी प्रगति के दौरान में ऐतिहासिक उपन्यासों का अभावग्रस्त क्षेत्र ही क्यों बचता?

१. **'दूर के ढोल', आरिगपूडि, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पृ० २५४। 'चांदरानी', सत्यप्रकाश संगर, विजय प्रकाशन, भोपाल, पृ० १५२।**

आज हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से हो रही है। जहाँ एक ओर श्री वृन्दावनलाल वर्मा और चतुरसेन शास्त्री-जैसे पुरानी पीढ़ी के कथाकार विविध ऐतिहासिक कथानकों को अपनी लेखनी का विषय बना रहे हैं, वहाँ अनेक तरुण और नई पीढ़ी के लेखक भी इस ओर प्रयत्नशील हैं! नई और पुरानी पीढ़ी के इस सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप हमारा ऐतिहासिक कथा-साहित्य आज उतना दरिद्र नहीं प्रतीत होता जितना कुछ काल पूर्व था, भले ही उसमें वह प्रौढ़ता न आ पाई हो, जो अपेक्षित है।

संप्रति हमारे समक्ष दो ऐतिहासिक उपन्यास हैं। एक—'नाना फड़नवीस' जिसके लेखक श्री उमाशंकर हैं और जो भारतीय इतिहास के आधुनिक युग को अपनी कथा की परिधि में बाँधता है, दूसरा—'पत्र लता' जो हर्षकालीन भारत की विभिन्न घटनाओं के आधार पर रचा गया है और जिसके लेखक श्री गुरुदत्त हैं! श्री उमाशंकर का ऐतिहासिक कथा-क्षेत्र में पहला प्रयास है जबकि श्री गुरुदत्त इसके पूर्व भी इस ओर लेखनी चला चुके हैं। हिन्दी के पाठक उनसे पूर्व-परिचित हैं। दोनों उपन्यासों के कथानक, देशकाल, परिस्थितियों एवं रचनाकारों के उद्देश्यों में पर्याप्त विभिन्नता है अतएव हम उन पर एक साथ कुछ कहने की अपेक्षा उनका अलग-अलग विवेचन समीचीन समझते हैं!

'पत्र लता' श्री गुरुदत्त का चौबीसवाँ उपन्यास है। श्री गुरुदत्त ने अपना लेखन-कार्य सन्' ४२ के लगभग प्रारम्भ किया और सन्' ५७ तक उन्होंने चौबीस उपन्यास (जो सभी भारी-भरकम हैं) हिन्दी-जगत् को भेंट किये, इससे उनके कठिन अध्यवसाय और उत्कट लगन का परिचय प्राप्त होता है। यहाँ हम उनके समस्त उपन्यासों पर कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं हैं, केवल 'पत्र लता' उपन्यास तक ही हमारी विवेचना सीमित होगी और उसीके माध्यम से हम उनकी कला एवं विचारों पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

'पत्र लता' हर्ष के काल में प्रचलित दो प्रधान धार्मिक विचार-धाराओं—वैष्णव और बौद्ध—के 'संघर्ष और उसके संघर्ष से उत्पन्न परिणामों' की कहानी है। कम-से-कम उपन्यासकार का यही मन्तव्य है। उसने उन कारणों पर प्रकाश डालने का यत्न किया है जिन्होंने भारत को इस सीमा तक दुर्बल बना दिया कि 'वह भारत जिसने सिकन्दर के आक्रमण का विरोध किया था, गज़नी और गौरी का विरोध करने के अयोग्य हो गया।' लेखक के अनुसार उस काल में प्रचलित वैष्णव और बौद्ध विचार-धारा का संघर्ष एवं राज्य द्वारा एक विशेष विचार-धारा का समर्थन एवं दूसरी का विरोध ही वे कारण हैं जिन्होंने भारत को मुसलमानों के आक्रमण के सम्मुख नतशिर कर दिया। अपने विवेचन के दौरान में ही दो इतिहास-लेखकों—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी व श्री भगवतीप्रसाद पांथरी—की पुस्तकों से मनोनुकूल उद्धरण लेकर लेखक ने कतिपय अत्यन्त प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तियों पर भाँति-भाँति के आरोप लगाये हैं एवं अपने विचित्र-से निष्कर्ष दिये हैं। उदाहरण के लिए उसने अशोक को 'क्रूर' कहा है और उस पर आरोप लगाया है कि उसने राज्य की सारी शक्ति बौद्ध-धर्म के प्रचार में लगा दी थी (लेखक का वास्तविक तात्पर्य यही है कि अन्य धर्मों के प्रति उसने कोई भी उदारता न दिखाई थी यद्यपि उसने इसे स्पष्ट नहीं किया), महात्मा बुद्ध उपनिषदों आदि द्वारा बताये गए मार्ग को कठिन समझते थे और इसी कारण वे जीवन-मरण की समस्या को सुलझाने के लिए सुगम मार्ग (लेखक के अनुसार जो पतन का मार्ग होता है) की ओर चल पड़े, अपनी बात विद्वानों

को न समझा सकने के कारण छोटे स्तर के लोगों को समझाने लगे, संस्कृत में मन की बात न कह सकने के कारण जनसाधारण की भाषा में बोलने लगे और तपस्या, स्वाध्याय आदि को दुष्कर समझ उपदेश देने लगे और हर्ष ने न केवल बौद्ध-धर्म के प्रचार में राज्य की सारी शक्ति लगा दी बल्कि उसने अबौद्धों का विरोध भी किया। लेखक के अनुसार जब-जब भारत में बौद्ध-धर्म की प्रधानता हुई है तब-तब देश राजनीतिक विचार से दुर्बल हुआ है और भी कुछ स्वतन्त्र निष्कर्ष लेखक ने दिये हैं जो उसके अपने मन की उपज हैं ! उपन्यास की आधार-भूमि में पाठक लेखक के उपर्युक्त विचारों को विस्तार से देख सकते हैं, स्थानाभाव के कारण उन्हें उद्धृत नहीं किया जा सका।

हमें आश्चर्य है कि जहाँ एक ओर आधार-भूमि में लेखक भारत की राजनीतिक शक्ति में ह्रास का कारण उपर्युक्त दोनों धार्मिक विचार-धाराओं के संघर्ष को बताता है वहाँ दूसरी ओर वह एक विचार-धारा का स्पष्ट पक्ष भी ग्रहण कर लेता है। एक ओर तो वह उपर्युक्त तीन प्रमुख व्यक्तियों पर दोषारोपण करते हुए इनमें से अन्तिम दो का एक विचार-धारा को समर्थन देने के 'अपराध' में न जाने कितने विशेषणों से सत्कार करता है दूसरी ओर स्वयं दूसरी विचार-धारा के घोर समर्थक और पक्षपाती के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है। ये विरोधी बातें भ्रम तो उत्पन्न ही करती हैं, लेखक की ईमानदारी में सन्देह भी पैदा करती हैं।

यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों एवं निष्कर्षों में स्वतन्त्र है पर एक ऐतिहासिक विषय पर लेखनी चलाते हुए ऐसे विचारों एवं निष्कर्षों का प्रणयन करना—स्वयं इतिहास जिनका विरोध करता है कहाँ तक उपयुक्त है ? ऐतिहासिक उपन्यासकार के अपने दायित्व होते हैं, अपनी सीमाएँ होती हैं। उसके सामने कतिपय ऐसी लक्ष्मण-रेखाएँ होती हैं जिसके अन्दर रहना ही उसके लिए श्रेयस्कर होता है अन्यथा ऐसे परिणाम होते हैं जो लेखक के श्रम पर तो पानी फेरते ही हैं, पाठकों की धारणा भी उसके विषय में अच्छी नहीं बन पाती। हमारा लेखक से इतना ही विरोध है कि उसने इतिहास के उपर्युक्त तीन व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो अपने विचार प्रकट किये हैं, वे इतिहास-सम्मत नहीं हैं, उसके व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों पर आधारित हैं, उन्हें पढ़कर पाठक चौंकता नहीं, उसे क्षोभ होता है।

लेखक ने जिन इतिहास-लेखकों की अपनी आधार-भूमि में चर्चा की है न तो वे ही, न अनेक अन्य प्रमुख इतिहास-लेखक इस विचार-धारा के हैं। लेखक ने उनकी बातों का मनमाना अर्थ लगाया है। लेखक के विचारों की छानबीन के दौरान में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार; श्री जी० पी० मेहता, श्री एम०एन० घोष, श्री राय चौधरी, मजूमदार व दत्त, श्री सी० एस० श्री निवासाचारी व एम०एस० आयंगर, डॉ० ईश्वरीप्रसाद, श्री भण्डारकर व श्री मुकर्जी आदि इतिहास-लेखकों की पुस्तकों के अध्ययन के पश्चात् हमारा यह मत और भी दृढ़ हुआ कि लेखक ने अपने विचारों एवं निष्कर्षों के प्रणयन में पर्याप्त गैर-जिम्मेदारी से काम लिया है। ये सारे लेखक व डॉ० त्रिपाठी एवं श्री पांथरी सब एक स्वर से अशोक व हर्ष की धार्मिक उदारता की सराहना करते हैं। जहाँ तक गौतम बुद्ध का प्रश्न है, यदि लेखक ने उनके मन का विश्लेषण करके कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य निकाले होते तो हम उन पर विचार कर सकते थे पर यहाँ भी उसने अतिशय अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से मनमाने निष्कर्ष निकाले हैं। ऐसी अप्रामाणिक एवं निराधार चर्चाओं को हम कतई प्रोत्साहन नहीं दे सकते। डॉ० त्रिपाठी ने

तो अशोक व हर्ष के विषय में स्पष्ट कहा है—

"यद्यपि अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था, वह उसका असहिष्णु उपासक किसी प्रकार न था × × अपने सुविस्तृत साम्राज्य के साधनों को किसी विशेष धर्म के प्रचार में उपयोग करने का दोषी अशोक को नहीं ठहराया जा सकता।" (प्राचीन भारत का इतिहास—पृष्ठ १२६-१२७)।

"परन्तु हर्ष को बौद्ध-धर्म का सक्रिय प्रचारक किसी भांति भी नहीं माना जा सकता। इसके विरुद्ध उसकी पूजा का रूप सर्वथा धर्म-चयन था और प्रयाग के महामोक्ष-परिषद् में तो उसने ब्राह्मण, देवता, आदित्य और शिव की स्पष्ट पूजा की थी—उसने ब्राह्मणों को भोजन कराया और उनको प्रभूत दान दिये थे।" (वही पृष्ठ—२३२)।

अतएव स्पष्ट है कि अशोक ने बौद्ध-धर्म के प्रचार-हेतु अबौद्धों का दमन या विरोध नहीं किया। बौद्ध-धर्म में आस्था रखना और बात है और दूसरे धर्मों का विरोध या दमन करना दूसरी बात! हिन्दू-युग के सभी सम्राट् किसी-न-किसी धर्म के अनुयायी थे और उस धर्म को मानते हुए भी, उसे संरक्षण का लोभ देते हुए भी दूसरे धर्मों का आदर करते थे। यही अशोक और हर्ष ने भी किया। जहाँ तक बौद्ध-विचार-धारा के प्राधान्य-स्वरूप देश की राजनीतिक दृष्टि से दुर्बलता का प्रश्न है, हम इसे एक कारण मान सकते हैं, पर एक-मात्र कारण नहीं।

अब कुछ चर्चा उपन्यास की भी होनी आवश्यक है यद्यपि हमारे विचार से उपन्यास भर में यदि चर्चा का कोई विषय है तो वह लेखक की 'आधारभूमि'।

'पत्र लता' की कथावस्तु हर्ष के राज्यारोहण के कुछ पूर्व से लेकर उसके राज्य-काल के अन्तिम वर्षों से कुछ पूर्व तक विस्तार पाती है। कन्नौज पर मालवा के राजा देवगुप्त का आक्रमण, कन्नौजाधिपति ग्रहवर्मन (हर्ष का बहनोई) का वध, शशाङ्क व देवगुप्त के कन्नौज पर सत्ता-प्राप्ति के लिए विविध षड्यन्त्र, देवगुप्त द्वारा हर्ष की भगिनी राज्यश्री पर अत्याचार, राज्यवर्धन का देवगुप्त को दण्ड देने के लिए कन्नौज की ओर प्रस्थान, कन्नौज की प्रजा और विशेषकर वैष्णवों द्वारा राज्य को देवगुप्त व शशाङ्क से बचाने के प्रयत्न, महामात्य पद्मराज के विविध उपाय, राज्यवर्धन द्वारा देवगुप्त का वध, बाद को छल से शशाङ्क द्वारा राज्यवर्धन की हत्या, हर्ष का थानेश्वर का सम्राट् बनकर प्रबन्धक के रूप में कन्नौज का शासन-सूत्र भी सम्भालना, शशाङ्क को दण्ड देने का प्रयत्न व असफलता, राज्यश्री का उद्धार, हर्ष की विजय-यात्राएँ और उसकी सीमित सफलता, बौद्ध-धर्म के हेतु प्रचार-कार्य, पत्र लता नामक एक ताम्बूलिन का सारी राजनीति में व्यापक भाग लेना आदि घटनाएँ बौद्ध और वैष्णव विचार-धाराओं के संघर्ष की पृष्ठभूमि में उपन्यास में चित्रित की गई हैं। सारा कथानक भाँति भाँति के षड्यन्त्रों से भरा पड़ा है, एक षड्यन्त्र दूसरे को जन्म देता है, दूसरा तीसरे को और इस प्रकार लेखक ने कथा को आकर्षक बनाने व Suspense से युक्त रखने का प्रयास किया है। अपने इस प्रयास में वह अधिक सफल तो नहीं हुआ, हाँ, इतना अवश्य है कि पाठक बिना ऊबे हुए उपन्यास को आदि से अन्त तक पढ़ जाता है। बीच-बीच में कतिपय अप्राकृतिक प्रसंगों की भी चर्चा है। अघोरी बाबा के सारे कार्य इसी प्रकार के हैं जिनमें तिलिस्म

का पूरा योग है। कथावस्तु घटनाबहुल है, साधारण है और स्थान-स्थान पर लेखक ने वैष्णव और बौद्ध विचार-धाराओं के संघर्ष में अपने पूर्वाग्रह को दिखाते हुए एक को दूसरी से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

चरित्र भी अनेक हैं। हर्ष, देवगुप्त, शशाङ्क, राज्यवर्धन, भण्डी, ग्रहवर्मन, भास्कर-वर्मन, ह्वेनसाँग, बाण, अवलोकितेश्वर, राज्यश्री सभी ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं और इनसे सम्बन्धित अनेक घटनाएँ भी इतिहास से ली गई हैं। लेखक के अपने दृष्टिकोण से उनमें कहीं-कहीं परिवर्तन किया है जो कभी तो इतिहास के प्रसंग के अनुरूप है, कहीं उसे विकृत भी करता है। कल्पित पात्र भी हैं। महामात्य पद्मराज, पंडित विष्णुकान्त, अघोरी बाबा, इन्द्र-जालिक, पत्रलता, मृणालिनी, मलिन्द आदि चरित्र कल्पित हैं। इनसे सम्बन्धित घटनाएँ भी लेखक की कल्पना की उपज हैं। पत्र लता—जिसके नाम पर उपन्यास का भी नामकरण हुआ है न जाने क्यों हमें विशेष प्रभावित नहीं कर पाती! जीवन-भर वह राजनीतिक संघर्षों में कूदती है और अन्त में हर्ष के सैनिकों की आँखों में धूल झोंककर नदी में कूदकर ऐसी लुप्त होती है कि उसका कुछ पता ही नहीं चलता। पत्र लता का सारा जीवन निरुद्देश्य-सा प्रतीत होने लगता है, न वह अपने को सन्तुष्ट कर पाती है और न अपने प्रेमी बाणभट्ट को। पद्मराज भी त्याग-पत्र दे देता है, बाण भी न जाने कहाँ चला जाता है, केवल बौद्ध विचार-धारा ही अन्त में प्रधान बनकर कन्नौज पर छा जाती है। उपन्यास में कोई भी चरित्र ऐसा नहीं है जो पाठक को बलात् आकर्षित कर ले, इसे हम उपन्यासकार की चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी दुर्बलता ही कहेंगे।

उपन्यासकार की भाषा पर तो हमें अत्यधिक आपत्ति है, पंजाबी प्रभाव ने भाषा को बुरी तरह तोड़ा-मरोड़ा है, कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

'वैष्णव मत वालों ने कन्नौज में वासुदेव का एक विशाल मन्दिर बनवाया हुआ था। (पृ० ४३)।

'प्रजा जिसने केवल प्रजा-मात्र ही रहना है, उसको एक राजा और दूसरे में भेद करने की आवश्यकता नहीं। (पृ० ८०)।

'इस समय तक देवगुप्त उस आगार में पहुँच गया था, जहाँ चन्दा ने उसके लिए प्रबन्ध किया हुआ था।' (पृ० ८५)।

'उसने अपने ऊपर एक चादर ओढ़ी हुई थी'—(पृ० १२५), 'तो यह वस्तु तुमने कभी जौहरी को खिलाई प्रतीत नहीं होती।' (पृ० १३०)। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

वाक्य-विन्यास भी बेहद शिथिल है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

'कन्नौज मेरी जन्मभूमि है और मैं, आदिकवि मुनि वाल्मीकि के कथनानुसार कि जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है, मानता हूँ।' (पृ० ३८)।

'यदि तो महाराज कोई ऐसी योजना बताएँ जिससे हमारी रक्षा का प्रबन्ध हो सके तो ठीक है, अन्यथा हमें अपनी रक्षा का प्रबन्ध स्वयं करना चाहिए।' (पृ० ४६)।

'इसके विपरीत उज्जयिनी में संसार में प्रवृत्ति बढ़ने लगी।' (पृ० ११०)।

'कन्नौज की एक वीथिका में एक स्त्री, जो हाथ में एक डोली, जो गीले कपड़े में

लिपटी हुई थी, लिये हुए जा रही थी' (पृ० १२०)।

'जो-को भी प्रबन्ध के लिए योजना बनाई गई थी…'। (पृ० १६१)।

'बेटा ! दूध मँगवा दो, आज हमने अन्न नहीं लेना है।' (पृ० ३२३)।

'वे मेरे से पान लेना चाहती थी।' (पृ० ३६१)।

'हाँ, वह शशाङ्क के पिता की एक सुन्दर रखेल से एक कन्या है। वह रखेल पीछे गौड़ में नर्तकी का कार्य करती थी।' (पृ० १६५) !! इस प्रकार के भी सैकड़ों उदाहरण हैं।

हिन्दू-युग के ऐतिहासिक उपन्यास में 'कारवाँ' शब्द का प्रयोग भी लेखक ने किया है। (पृ० ३२५)। 'शौर्यता' शब्द का प्रयोग, 'वार्तालाप' व 'सवेरे' के स्त्रीलिंग में प्रयोग भी लेखक ने किये हैं जो सब उसकी भाषा-सम्बन्धी शिथिलता के प्रमाण हैं।

एक स्थान पर लेखक ने बड़ी भद्दी भूल की है। पाठक जानते हैं कि आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रचित ग्रन्थ का नाम 'रामायण' है, पर लेखक ने उपन्यास की नायिका पत्र लता के मुख से एक स्थान पर कहलाया है—'और यदि इससे भी सुन्दर लेख देखना है तो महर्षि वाल्मीकि का 'रामचरित मानस' पढ़ लो। 'रामचरित मानस' पर विशेष बल देने के लिए ही लेखक ने उसे ' ' चिह्नों से अंकित किया है। हिन्दू धर्म व शास्त्रों पर गहरी आस्था रखने वाला उपन्यासकार वाल्मीकि के ग्रन्थ के वास्तविक नाम से अपरिचित है, यह आश्चर्य की बात है ! पत्र लता भी बौद्ध नहीं प्रत्युत वैष्णव धर्मानुयायिनी है और इसी प्रसंग पर बाणभट्ट से वार्तालाप करते हुए अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का उल्लेख भी करती है।

युग के वातावरण को उतारने का उपन्यासकार ने पूरा प्रयत्न किया है पर यहाँ भी उसके पूर्वाग्रहों ने अयथार्थता की सृष्टि की है। ब्राह्मण और बौद्धों के जिस प्रबल संघर्ष के दर्शन उपन्यास में लेखक ने कराये हैं, वह ऐसा न था, न ही उनमें इतनी कटुता अथवा वैमनस्य था। बौद्ध धर्म तो स्वतः ह्रासशील हो चला था।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री गुरुदत्त, जो एक अध्यवसायी साहित्यकार हैं, अपने कतिपय पूर्वाग्रहों के कारण इस उपन्यास में वास्तविक ऐतिहासिक सत्यों की रक्षा नहीं कर सके हैं, उनके प्रति जान-बूझकर उदासीन रहे हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी इस उपन्यास में उनकी कला निखार नहीं पा सकी। हिन्दी के ऐतिहासिक कथा-साहित्य में एक और उपन्यास की वृद्धि हुई है, इससे अधिक महत्त्व इस कृति का नहीं है।

दूसरा उपन्यास जैसा कहा गया, श्री उमाशंकर का 'नाना फड़नवीस' है। अपने प्रथम उपन्यास द्वारा ही लेखक ने अपनी भावी सम्भावनाओं को स्पष्ट कर दिया है। हम लेखक की इस ऐतिहासिक कृति का स्वागत इसलिए नहीं करते कि वह एक नवोदित लेखक की कृति है और नवोदित लेखकों को प्रश्रय मिलना चाहिए, बल्कि इसलिए कि वह उस विशेषता के अधिक समीप है जो किसी भी ऐतिहासिक कृति के लिए अनिवार्य कही जाती है और वह विशेषता है कृति में ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा करने की विशेषता। इस कृति के लेखक ने पिछली कृति के लेखक की तुलना में अपने दायित्व को सतर्कतापूर्वक निभाया है। कृति की ऐतिहासिकता की रक्षा के प्रति वह इतना जागरूक रहा है कि उससे कहीं भी कोई ऐसी भूल नहीं हो पाई जो किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना को विकृत कर दे या किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ही बिगाड़कर प्रस्तुत करे। उसने कल्पना से कार्य लिया है और खूब लिया है,

पर उसकी कल्पना ने सीमा का अतिक्रमण नहीं किया और यहीं वह हमारी बधाई का पात्र है। कृति में इतिहास प्रबल है, फिर भी उसे हम इस कारण दोष नहीं मानते कि वह एक ऐसे लेखक की कृति है, ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में जिसका यह प्रथम प्रयास है। नया लेखक स्वभावतः ऐतिहासिकता की सुरक्षा के प्रति अधिक जागरूक रहेगा। हाँ, ऐतिहासिक कृति में ऐतिहासिकता के प्रति उदासीनता को हम अवश्य प्रश्रय नहीं दे सकते।

ऐतिहासिकता के अतिरिक्त कथावस्तु के क्षेत्र में भी लेखक को उचित सफलता मिली है। घटनाओं की योजना सावधानी से की गई है और जहाँ काल्पनिक व ऐतिहासिक घटनाओं की संगति उचित रूप से बैठ गई है वहाँ कथावस्तु में पर्याप्त आकर्षण आ गया है। ऐसा अधिकांश स्थलों पर है। कथावस्तु को रोचक बनाने के लिए ही तीन प्रेम-प्रसंगों की भी अवतारणा हुई है—नाना-अलिनी प्रेम-प्रसंग, नाना-लक्ष्मी प्रेम-प्रसंग, हरी पन्त फड़के-नीरा प्रेम-प्रसंग, और इन प्रेम-प्रसंगों में कतिपय स्थानों पर प्रेमी युग्मों का प्रेम आधुनिक प्रकार का अवश्य लगने लगा है, फिर भी उसने कथानक को रस से सिक्त करके उसे अधिक ग्राह्य बना दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कथा में दोष भी है—युद्ध के वर्णनों में वह अधिकांशतः नीरस हो गई है, कुछ घटनाओं का विकास भी रोक दिया गया है, यथा नाना-अलिनी प्रेम-प्रसंग और इसे हम लेखक की दुर्बलता मानते हैं पर इन कमियों के बावजूद भी कथावस्तु में आकर्षण, रोचकता व प्रवाह है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

चरित्र ऐतिहासिक व काल्पनिक सभी प्रकार के हैं—ऐतिहासिक ९० प्रतिशत, काल्पनिक दो-चार। नीरा, अलिनी, सलोनी आदि दो-एक पात्रों को छोड़कर शेष सारे प्रमुख चरित्र ऐतिहासिक हैं। लेखक ने ऐतिहासिक चरित्रों में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया, यथा-सम्भव उन्हें ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत किया है। हाँ, उसके प्रस्तुत करने का ढंग इस प्रकार का है कि वे इतिहास के मृत पात्र नहीं, उपन्यास के प्राणवान् व्यक्तित्व प्रतीत होते हैं।

चरित्रों का विकास भी युग की परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है। सामन्तीय युग की प्रवृत्तियाँ पात्रों के चरित्र में पूर्णरूपेण उभर उठी हैं। छल, प्रपंच, मक्कारी, गद्दारी, स्वामि-भक्ति, वीरता, शौर्य, त्याग आदि प्रवृत्तियों से पूर्ण ये चरित्र अपने युग के वास्तविक प्रतिबिम्ब हैं। पुरुष पात्रों में सबसे प्रमुख चरित्र नाना फड़नवीस का है। सारा उपन्यास उसीके व्यक्तित्व व उससे सम्बन्धित घटनाओं की कहानी है। जहाँ अपनी दूरदर्शिता, विलक्षण बुद्धि व अँग्रेजों की कूटनीतियों से लड़ने वाले महान् सैनिक के रूप में वह हमें प्रभावित करता है वहाँ एक प्रेमी के रूप में अपने कोमल हृदय के दर्शन भी देता है। महादजी, सखाराम बापू, राम शास्त्री, नारायणराव, हरीपन्त, माधवराव, तुलया आदि पात्रों का चरित्र भी कुशलतापूर्वक चित्रित किया गया है। हरीपन्त फड़के की स्वामि-भक्ति, वीरता व शौर्य, महादाजी की गद्दारी (यद्यपि इस सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं), सखाराम बापू का सन्तुलनहीन व्यक्तित्व, नारायणराव का ढुलमुलपन, तुलया का विश्वास-घात, सबका वर्णन सधे रूप में हुआ है। अँग्रेज पात्रों का चरित्र भी सावधानी से उभारा गया है। स्त्री-पात्रों में अलिनी व नीरा हमें सबसे अधिक प्रभावित करती हैं। अलिनी के चरित्र का विकास रोककर लेखक ने अपनी कमजोरी प्रदर्शित की है। लक्ष्मी एक तर्कशीला नारी के रूप में ही सामने आती है। गंगाबाई नाना के अहसानों से दबी सामान्य नारी ही बनी रह गई है। सलोनी से लेखक ने

जो कार्य लिये हैं वे उसके वर्ग के साथ न्याय नहीं करते।

कथोपकथन शक्तिशाली, सजीव, विदग्धता, व्यंग्य, हाजिरजवाबी, गांभीर्य सभी से युक्त हैं। उपन्यासकार व उसके पात्रों की दार्शनिक चर्चाएँ खटकने वाली हैं। भाषा वैसे तो साफ, निखरी हुई और चुस्त है, पर कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास शिथिल व व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी हैं।

हमारा विश्वास है कि अनेक कमियों एवं दुर्बलताओं के बावजूद भी 'नाना फड़नवीस' एक सफल कृति है और लेखक के होनहार भविष्य की ओर संकेत करती है।

'पत्र लता' व 'नाना फड़नवीस' के लेखकों के अनुभव, वय एवं कृतित्व में पर्याप्त अन्तर है। 'नाना फड़नवीस' एक नवोदित लेखक की कृति है, जबकि 'पत्र लता' एक अनुभवी और मँजे हुए लेखक की। 'पत्र लता' की असफलता के कतिपय विशेष कारण हैं, जिन्हें हम ऊपर निर्देशित कर चुके हैं। हम आशा करते हैं कि श्री गुरुदत्त भविष्य में पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अधिक प्रौढ़ कृतियों का प्रणयन करेंगे और अपनी ख्याति को स्थिर रखेंगे। वे एक अध्यवसायी और गम्भीर कथाकार है, उनसे हमारा यह आशा करना निर्मूल नहीं है। आशा है 'नाना फड़नवीस' का लेखक भी भविष्य में अधिक सुन्दर कृतियों के साथ साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करेगा।[1]



श्री कृष्णबिहारी मिश्र

समुहुत

नई पीढ़ी के ग्रामोन्मुख कथाकारों में श्री केशवप्रसाद मिश्र को काफी प्रशंसा मिली है। 'समुहुत' द्वारा इनके कृति-प्रकाशन का एक प्रकार से 'समुहुत' ही हुआ है। इसमें संग्रहीत नौ कहानियाँ हैं, जो हिन्दी की प्रतिनिधि पत्रिकाओं में प्रायः सभी छप चुकी हैं।

सर्वाधिक प्रशंसित कहनी है 'कोयला भई न राख'। गाँवों की ओर अधिक रुझान होने के साथ ही कथाकार केशव प्रसाद में नागरिक आभिजात्य भी पूरी मात्रा में दिख पड़ता है। इस प्रकार इस कहानी-संग्रह में दो प्रकार का रस मिलेगा। 'कोहबर की शर्त' से यदि आपके मन में कोई दर्द न जगे (या कोई रस न मिले) तो आप 'नाच-घर' तक आइए। सम्भव है, यहाँ की आबोहवा आपके माफिक पड़े। शहर की आधुनिक सुविधाएँ यदि गाँव वालों को मिलें तो क्या कहना ? वाकई यह कहानी संग्रह दो रस का मजा देने वाला है।

केशवप्रसाद मिश्र की तारीफ में कहा गया है कि गाँवों के असफल प्रेम की कहानी कहने में इन्हें महारत हासिल है। लेकिन सच पूछिए तो केशवजी का सही परिचय यह नहीं

१. **पत्रलता; लेखक—श्री गुरुदत्त; प्रकाशक—भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली; मूल्य सात रुपये; पृष्ठ संख्या ४४८।**
नाना फड़नवीस; लेखक—श्री उमाशंकर; प्रकाशक—श्री विद्या मन्दिर, चौक, कानपुर, मूल्य ४ रुपये; पृष्ठ-संख्या ३१२।

है। किंचित् सावधानी से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि गाँवों के असफल प्रेम की कहे जाने वाली इनकी कहानियों में अपेक्षया शहरूपन अधिक है; मसलन, 'कोहबर की शर्त' और 'कोयला भई न राख' में।

ग्रामीण शब्दों से कहानी को बोझिल कर देने से ही गावों की आत्मा की यथार्थ झाँकी नहीं प्रस्तुत की जा सकती। निःसन्देह ऐसा करके कथाकार अपनी रचना में एक अनावश्यक 'ग्रामीणता' ला देता है किन्तु देहाती वातावरण में थिरकन पैदा करने के लिए या वहाँ के प्रश्नों में शक्ति भरकर सहज रूप में सामने रखने के लिए गावों की 'स्पिरिट' को बड़ी सावधानी से पहचानना पड़ता है। गावों का नैकट्य नितान्त अपेक्षित होता है। चलतू ढंग से लिख मारना किसे नहीं आता? लेकिन जाहिर है कि टिकाऊ स्थान वे ही बना पाते हैं जिनकी अनुभूतियाँ व्यापकता सम्पृक्त होती हैं, जिनमें ईमानदारी होती है और जो साहित्यिक मर्यादाओं के प्रति सजग होते हैं। श्री केशवप्रसाद मिश्र मूलतः गाँव के ही रहने वाले हैं। उनकी अनुभूतियों में ईमानदारी है। ग्रामीण वातावरण के प्रति उनकी आत्मीयता है और साथ ही उनकी कहानियों पर उनके सम्प्रति आवास और अध्ययन का प्रभाव है, उनकी शोहबत का रंग है, जो कभी-कभी बेमेल-सा लगता है।

'समुहुत' की कहानियों को एक बार देख जाइए। कथाकार श्री केशवप्रसाद की गणना आप अपने प्रिय लेखकों में कर लेंगे। 'कोयला भई न राख' यह शीर्षक ही आपको अपनी ओर खींचेगा। सम्भव है आप इसे ही पहले पढ़ें और फिर 'कोहबर की शर्त' की ओर झुकें। इन कहानियों के स्थानिक वातावरण (लोकल कलर) और भाषा के प्रयोग को देखकर आपको यह समझते देर न लगेगी कि ये कहानियाँ भोजपुरी-प्रदेश के किसी खास क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।

'कोयला भई न राख' गाँव के असफल प्रेम की कहानी है। कहानी की विषय-वस्तु ग्रामीण है, बाकी सब शहरू या बँगलानुमा। आभिजात्य के लोभ में पड़कर स्वाभाविकता की हत्या कर बैठना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? केशवजी ने भी कहीं-कहीं औचित्य का गला घोंट दिया है। 'कोयला भई न राख' का भरत रेवती के घर आया है, कलेवा लेकर, पूरे एक वर्ष बाद। रेवती के कमरे में बैठा वह बातें कर रहा है। यकायक उसे सन्देह होता है कि 'घर की औरतें न जाने क्या सोचें।' और वह चलने को उठ पड़ता है। यदि आप गाँवों की परम्परा से परिचित हैं तो कहने की आवश्यकता नहीं कि कथाकार की यह मौलिक उद्भावना है। गावों की औरतें ऐसा नहीं सोचतीं जैसा भरत अन्दाज लगाता है। अस्वस्थ मस्तिष्क में इसी प्रकार के सन्देह जगा करते हैं।

'कोहबर की शर्त' में भी ऐसी ही विलक्षण उद्भावनाएँ हैं। गुंजा एक निपढ़ ग्रामीण लड़की है। लेकिन उसके बोलने का लहजा देखिये: 'मुँह खोल के यदि शर्त बदी गई तो वह शर्त कैसी? और दूसरे से पूछ कर हारी शर्त की गई तो उसका मोल क्या' गुञ्जा ने उत्तर दिया।

'कुल की लाज', 'लंगड़े चाचा' 'समुहुत' और 'नलिन जी' उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। 'लंगड़े चाचा' और 'नलिन जी' को कुछ लोग शायद 'स्केच' कहना पसन्द करें। लेकिन उन्हें भी मानना पड़ेगा कि 'लंगड़े चाचा' का चरित्र बड़ा ही जोरदार है। नलिन जी

में जरूर कुछ अस्पष्टता है। नलिन जी ऊपर से मौजी स्वभाव के हैं, लेकिन भीतर से गहरी व्यथा से आपूरित। उनकी वास्तविक व्यथा का मूल उत्स अज्ञात ही रह जाता है ? फिर भी पाठक को सहानुभूति नलिनजी को मिलती है। 'कुल की लाज' गाँव की एक बड़ी समस्या को लेकर चलती है। 'कोहबर की शर्त' और 'कोयला भई न राख' से निःसन्देह एक विशेष प्रकार का दर्द जगता है, ऐसी अनुभूति या व्यथा 'समुहुत' से नहीं हो पाती। किन्तु अधिक स्वाभाविकता 'समुहुत' में ही है। वस्तुतः इस संग्रह का नाम बड़ा ही प्रिय और आकर्षक है।

केशवजी की नायिकाओं में सरलता का अतिशय है, अनाकांक्षित कातरता है। अपनी विरूपता का सामना करने में सभी अशक्य-सी लगती हैं। इनकी निराशा और मायूसी स्वास्थ्य का लक्षण नहीं कहा जा सकता। प्रतिभावान कथाकार की शैली का करिश्मा कहिये कि सारी कमजोरियों के बावजूद भी उनकी नायिकाओं के प्रति एक विशेष प्रकार की सहानुभूति जगती है। साहित्यकार का चरम लक्ष्य न होते हुए भी दर्द जगाना और रुला देना ही संवेदना की चरम परिणति है। कथाकार श्री केशवप्रसाद को इसमें दक्षता प्राप्त है। 'कोहबर की शर्त' और 'कोयला भई न राख' में कहानीकार की सारी प्रतिभा एक साथ मुखर हो उठी है। हमारा हृदय संवेदना से भर-भर उठता है, व्यथा से सारी मनःस्थिति हिल उठती है। केशवजी की यही एकान्त उपलब्धि है।

अब इनकी भाषा पर दो शब्द। केशवप्रसाद मिश्र की भाषा बोल-चाल की है, इन्हें भाषा-अलंकरण का मोह नहीं, किन्तु भोजपुरी के प्रति आवश्यकता से अधिक आग्रह है। भाषा के बारे में केशवजी को थोड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है जिससे भोजपुरी के शब्द या स्थानीय प्रयोग खड़ी बोली में नीर-क्षीर की तरह खप जायँ, तिल-तन्दुल की भाँति अलग-अलग अस्तित्व न बनाये रहें।

कुल मिलाकर हमने देखा कि उनकी कहानियों में उनका वही दर्द बोलता है जिसे उन्होंने दूसरे की पीड़ा समझने का प्रयास कहा है। इसे तो कथाकार का दृष्टिकोण ही कहना उचित है। यह गलत है या सही, इसे तो पाठक बतावें।

'समुहुत' में अनुभूतियाँ अधिक हैं विचार कम। इस कृति का स्वागत है। यह पठनीय है।[1]



१. समुहुत, लेखक—श्री केशवप्रसाद मिश्र, प्रकाशक—दीक्षित पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, मूल्य डेढ़ रुपया। सं



हिन्दी जगत के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार

श्री गुरुदत्त

जिनकी प्रत्येक रचना अन्यतम है।

श्री गुरुदत्त की रचनाओं की विशेषताएँ :

१. प्रत्येक उपन्यास सोद्देश्य है।
२. जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश।
३. राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रत्येक समस्या का युक्तियुक्त विश्लेषण।
४. रोचकता में अन्यतम।

अब तक श्री गुरुदत्त के २७ उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

भारती साहित्य सदन

३०/९० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१

आगरा विश्वविद्यालय कन्हैयालाल मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ

विद्यापीठ के प्रमुख शोधपत्र

भारतीय साहित्य

त्रैमासिक

भारतीय साहित्य और उनके साहित्य की अखिल भारतीय भाषाओं की शोध पत्रिका। वर्ष में दो-दो सौ पृष्ठों के चार अंक। वार्षिक शुल्क १२ रु०।

हिन्दी ग्रन्थ वीथिका

वर्ष में एक अंक ४०० पृष्ठों का; हस्तलिखित तथा अप्राप्य ग्रन्थों से युक्त शोध योग्य सामग्री से पूर्ण। मूल्य १० रु०।

महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक प्रकाशन

१. **भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास**
असमिया, उड़िया, कन्नड़, गुजराती, तमिल, तेलुगु, बंगला, मराठी, मलयालम तथा हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों के विवरण का विभिन्न विद्वानों द्वारा सर्वेक्षण। मूल्य २ रु० ५० नये पैसे।

२. **जाहर पीर गुरु गुग्गा** डॉ० सत्येन्द्र
मूल्य ३ रु० ५० नये पैसे।

३. **हिन्दी धातु संग्रह** डॉ० हार्नली मू० २ रु०।

४. **मुल्ला दाउद की लोर कहा**
डॉ० माताप्रसाद गुप्त (प्रेस में)

५. **अलाओल की पद्मावत: देवनागरी में बंगला**
सं० डॉ० सत्येन्द्रनाथ घोषाल (प्रेस में)

६. **भारतीय साहित्य** (१९५६ की जिल्द)
मूल्य १५ रु०

७. **हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थ वीथिका** (१९५६ की) मूल्य १० रु०

आगरा विश्वविद्यालय कन्हैयालाल मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ,

आगरा



श्री देवराज, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

सम्पादक : नन्ददुलारे वाजपेयी

२४

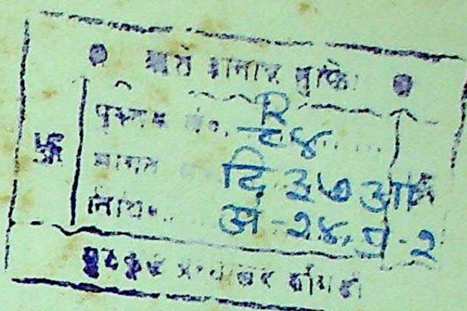
आलोचना

राजकमल प्रकाशन

अक्तूबर, १९५७

एक अंक का ४)

आलोचना



सम्पादकीय

नये उपन्यास

इसी अंक में अन्यत्र श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' के नये उपन्यास 'परती : परिकथा' पर तीन समीक्षाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। यद्यपि ये तीनों निबन्ध 'प्रस्तुत प्रश्न' शीर्षक के अन्तर्गत दिये गए हैं, परन्तु 'परती : परिकथा' हमारी दृष्टि में कोई विवादग्रस्त कृति नहीं है। उसका महत्त्व बहुत-कुछ असन्दिग्ध है, यद्यपि सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में कहीं-कहीं उस पर विपरीत और विरोधी चर्चा भी हुई है। हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि 'रेणु' की पहली कृति 'मैला आँचल' की शतमुखी प्रशंसा करने वाले लोग भी 'परती : परिकथा' से सहसा पराङ्मुख हो उठे हैं। 'मैला आँचल' की इतनी अधिक विशेषताएँ 'परती : परिकथा' में और भी परिष्कृत रूप में ग्रहण की गई हैं और फिर भी 'परती : परिकथा' इतनी बड़ी मात्रा में स्वतन्त्र कृति बन पाई है, कि केवल इसी विशेषता पर लेखक हमारी बधाई का अधिकारी होता है। प्रायः वही विकास, जो प्रेमचन्द के 'सेवा सदन' के पश्चात् उनके 'प्रेमाश्रम' में दिखाई पड़ा था, 'मैला आँचल' के पश्चात् 'परिकथा' में दिखाई पड़ता है। 'मैला आँचल' की कथा आंचलिक होते हुए भी भारतवर्ष के राजनीतिक दलों को केन्द्र में रखकर चली है। इस प्रकार उक्त उपन्यास में राजनीतिक दृष्टिकोण बचाया नहीं जा सका है। दूसरी बात यह है कि उस कृति में लेखक की भाव-धारा रोमाण्टिक प्रेमचर्या से प्रभावित है, किन्तु 'परती : परिकथा' में एक अधिक प्रौढ़ लेखक की भाँति 'रेणु' ने राजनीतिक विचार-धारा के बदले अधिक व्यापक राष्ट्रीय प्रगति को उपन्यास के केन्द्र में रखा है। इस कारण इस कृति में किसी राजनीतिक दल विशेष पर प्रत्यक्ष या परोक्ष टिप्पणी नहीं की गई है। दूसरे शब्दों में यह कृति अधिक तटस्थ और अधिक वास्तविक जीवन का आलेखन करती है। इसमें 'मैला आँचल' की भाँति हल्के रोमांस का भी प्रयोग नहीं है।

कुछ समीक्षकों ने उपन्यास की कला या साहित्य-रूप के सम्बन्ध में वैचारिक प्रश्न उठाकर यह बताना चाहा है कि

'परिकथा' उपन्यास की श्रेणी में आती ही नहीं। वह और चाहे जो हो, उपन्यास नहीं है। इस सैद्धान्तिक शंका का एक उत्तर तो यह है कि उपन्यास न सही, जो-कुछ वह है उसे वैसा ही रहने दीजिए। उपन्यास नाम न होने से पुस्तक का महत्त्व किस प्रकार घटता है ? परन्तु इस उत्तर के साथ ही यदि सिद्धान्त-पक्ष की ओर दृष्टि डाली जाय तो हम देखेंगे कि पश्चिमी साहित्य में, जहाँ से यह उपन्यास शब्द लिया गया है, उपन्यास के कला-रूप की कोई स्थिर इयत्ता या मर्यादा नहीं है। पश्चिम के नये-से-नये विचारक भी उपन्यास की परिभाषा देने का साहस नहीं कर सके। इतने वैविध्य और वैचित्र्य के साथ वहाँ उपन्यास-कला विकसित हुई है; कथानक-कृति से लेकर कथा से नितान्त छुटकारा पाई हुई रचना तक; चरित्र की बाह्य रेखाओं की पूर्णता से लेकर नितान्त रेखाहीन मनोमय भूमिका तक—चेतना के रहस्यमय प्रवाह के रूप में उपन्यास की इतनी भंगिमाएँ, शैलियाँ और प्रकार हैं कि 'परती : परिकथा' उनमें से एक या अनेक आकृतियों में आसानी से आ सकती है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से 'परती : परिकथा' एक समृद्ध रचना है। मुख्य आख्यान कोसी-अंचल में होने वाली नवनिर्माण-सम्बन्धी घटनाओं से सम्बद्ध है। इसके साथ एक अन्य वर्णना पारिवारिक डायरी के मिल जाने से चल पड़ती है, जिसे हम उपन्यास का पूर्व वृत्त कह सकते हैं। ये तीनों ही कथा-स्रोत अच्छी तरह अनुस्यूत होकर 'परिकथा' का निर्माण करते हैं। विशेषतः कोसी की प्राचीन कथा लोक-गीतों का माध्यम लेकर उपन्यास को विशिष्ट भाव-सम्पत्ति प्रदान करती है।

किन्तु 'परिकथा' का मुख्य आकर्षण शिल्पगत न होकर वस्तुगत है। जान पड़ता है कि कोसी अंचल की कुछ वर्षों की सारी जीवन-गति ही उपन्यास में उठाकर रख दी गई है। स्वभावतः यह उपन्यास वर्णनात्मक और दीर्घसूत्री न होकर असंख्य चलचित्रों (Snap shots) की समाहित योजना पर आश्रित है। विशेषता यह है कि ये सम्पूर्ण चलचित्र एक अखण्ड और अव्याहत पूर्णता का निर्माण करते हैं और इनमें कहीं भी सन्धियाँ या रिक्त स्थल नहीं रह पाए हैं। इसे पढ़कर समाप्त करने पर हमारे समक्ष कोसी अंचल की सम्पूर्ण प्राकृतिक और मानवीय दृश्यावली ही नहीं झलक उठती, बल्कि उस दृश्यावली के साथ कलाकार की अप्रतिहित और अदम्य आस्था और अन्तर्दृष्टि भी झाँकने लगती है। ऐसी रचनात्मक दृष्टि और प्रतिभा से समन्वित कोई कृति हिन्दी में कदाचित् वर्षों से प्रकाशित नहीं हुई। इसलिए यह आवश्यक है कि रेणुजी की नवीन कृतियों को हिन्दी-उपन्यास के सम्पूर्ण नये परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जाय, यद्यपि यह कार्य सम्पादकीय लेख की स्वल्प सीमा में करना बहुत कुछ कठिन और असाध्य ही है।

अपने उपन्यासों के निर्माण में जिन उपकरणों का प्रयोग प्रेमचन्द ने किया, वे अन्ततः स्थूल और अविकसित ही थे, किन्तु उनकी प्रतिभा की यह विशेषता थी कि उनके द्वारा भी वे उत्कर्ष की प्राप्ति कर सके। उनकी कृतियों में कथानक और वर्णनात्मकता का प्रधान स्थान है। उनके पात्र भी व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से युक्त न होकर वर्ग अथवा समूह-विशेष के प्रतिनिधि रूप में आये हैं और उनके द्वारा अंकित जीवन-चित्र एक विशिष्ट प्रयोजनमूलक दृष्टिकोण

से सीमित हैं। महान् उपन्यास की निर्मिति के लिए जिन सूक्ष्म तत्त्वों की अनिवार्यता आज बताई जाती है, वे प्रेमचन्द के युग में अलभ्य ही थे। प्रेमचन्द एक विशाल क्षेत्र में कार्य करने वाले लेखक थे। जीवन को उसके समस्त विस्तार में ग्रहण करने का उन्होंने प्रयत्न किया। वास्तविक जीवन-पट असंख्य रंगों से निर्मित है। प्रेमचन्द ने कतिपय चुने हुए रंगों से ही उसका कलात्मक पुनर्निर्माण किया। परिणामतः उनका निर्मित जीवन-चित्र वैशिष्ट्य के महान् ऐश्वर्य से मण्डित न होकर भी व्यापक सजीवता का आभास देता है।

प्रेमचन्द के उपन्यास ग्राम्य जीवन के घनिष्ठ परिचय से आलोकित हैं। ग्राम्य-जीवन की जो आत्मीय और प्राणमयी झाँकियाँ उन्होंने उपस्थित की हैं, वे हिन्दी-उपन्यास में अन्यत्र दुर्लभ हैं। मनुष्य की स्वीकृति में वे अबाध प्रतीत होते हैं और उनकी कृतियाँ मनुष्य के प्रति नैसर्गिक और अपार प्रेम की भावना से वैशिष्ट्यवान हैं। राष्ट्रीय भावना में नई शक्ति के उन्मेष के युग में देश-व्यापी स्फूर्ति, भावना-प्रेरित कर्त्तव्यनिष्ठा और उत्साह के वे प्रत्यक्ष अनुभोक्ता तथा कलात्मक माध्यम में सफल प्रयोक्ता थे। उस युग की उमंग-तरंगित और अबाध-विकासमान राष्ट्रीय चेतना की जीवनी उनकी कृतियों में अक्षत लिपिबद्ध है। व्यक्तिगत वैशिष्ट्य में उन्हें कोई रुचि न थी, किन्तु राष्ट्र अभिनव यौवनोन्मेष के द्वार पर जिस नये व्यक्तित्व की अभ्यर्थना कर रहा था, उसके वे गौरवान्वित अनुगायक थे। उनकी यह शक्ति उनकी कला में जीवन-शक्ति के रूप में प्रतिभासित होती है और वह उनकी कृतियों को सामान्य वस्तु-लेखन की कोटि से ऊपर उठा देती है।

प्रेमचन्द एक बहिर्मुख कलाकार थे। उनकी दृष्टि उनकी आस्था से आलोकित होकर अन्ततः वस्तुन्मुखी थी। सर्वाङ्ग-पूर्ण जीवन बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् की जिस समन्वित सहसत्ता की माँग करता है उसकी दृष्टि से वे एक सीमा को अपनाकर चले; किन्तु इस सीमा के अन्दर जो विस्तार सम्भव था, उसकी सृष्टि उन्होंने की। उनकी उपन्यास-रचना में एक उत्तरोत्तर विकास दृष्टिगोचर होता है और उसीके अनुरूप उनकी अन्तिम कृति उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति भी मानी जाती है। विकास की यह विशेषता उनके परवर्ती नवदिशान्वेशियों में नहीं मिलती, वे आरम्भिक सम्भावना से यशस्वी होकर अपने परवर्ती कृतित्व में स्पष्ट ह्रास प्रदर्शित करते हैं। परवर्ती लेखकों में दुर्लभ प्रेमचन्द की एक और विशेषता है। वे एक ऐसी भाषा के स्वामी थे जो बाह्य स्वरूपवर्ती अन्य गुणों से युक्त एक साथ साहित्यिक उत्कर्ष और जन-भाषा से सामीप्य का साधन बनी है, जो परवर्ती लेखकों की भाषा के निस्पन्द अथवा सन्दिग्ध सौन्दर्य की तुलना में कहीं अधिक रोचक और सप्राण है।

प्रेमचन्द की उपलब्धि की तुलना में हिन्दी-उपन्यास उनके पश्चात् अनेक दृष्टियों से भिन्न हो गया। व्यापक जीवन-चित्रण के स्थान पर संकीर्ण सीमाएँ अपनाई गईं। वस्तु-जगत् के स्थान पर अन्तर्जगत् का आग्रह हुआ और सबको विशाल एकता में अनुसीमित करने वाली मानवतावादी तथा राष्ट्रीय भावना को स्थानापन्न करके अधिकांश लेखकों ने व्यक्तिवादी एवं सैद्धान्तिक भूमि अपनाई। यह कहना कठिन है कि इस नये उत्थान के लेखकों ने प्रेमचन्द की उपलब्धियों का उपयोग करके आगे बढ़ने

का प्रयत्न किया।

जैनेन्द्र में नागरिक मध्यवर्ग की परिस्थितियों और उनके जीवन के कुछ चुने हुए पक्ष निरूपित हैं। प्रेमचन्द की तुलना में वस्तु का सापेक्षिक अभाव जैनेन्द्र की कृतियों में एक वायवीयता का आभास उत्पन्न करता है। उनकी प्रथम प्रशस्ति इस आधार पर हुई कि हिन्दी-उपन्यास में उन्होंने दार्शनिकता का समावेश किया है। तथ्य हम यह देखते हैं कि जैनेन्द्र की कृतियों में दार्शनिक पीठिका या प्रयोजन का जितना योग होता गया उतनी ही वे जीवन से दूर होती गईं। तथाकथित दार्शनिकता वास्तव में उपन्यास के लिए आवश्यक नहीं। उपन्यास में जीवन-चित्रण आधारभूत वस्तु है। जैनेन्द्रीय दर्शन ने उसे ही पाशबद्ध कर लिया है। उपन्यास के क्षेत्र में दर्शन अधिक-से-अधिक छाया प्रकाश के रूप में चित्र को पूर्णता प्रदान करता है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में दर्शन का स्वरूप कला में पर्यवसित न हो पाने के कारण कृतियों के कलात्मक लक्ष्य और चरित्र-चित्रण में अस्पष्टता उत्पन्न करता है। थामस हार्डी और प्रसाद के उपन्यासों में भी एक दार्शनिक भूमिका की स्थिति है, किन्तु उसके परिणामस्वरूप उनकी कृतियों में जीवन और चरित्र चित्रण खण्डित अथवा अस्पष्ट न होकर अधिक स्वयं सम्पूर्ण और प्रोज्ज्वल बन गए हैं। सिद्ध यह होता है कि दर्शन उपन्यास में अनिवार्य नहीं। यदि वह है तो उसके लिए कला में पर्यवसित होना अनिवार्य है। यह आवश्यक है कि उसकी रूपरेखा पहचानने योग्य पर्याप्त स्पष्ट हो, नहीं तो कृति पर लदकर वह उसे विकृत और विकलांग बना देगा।

नारी के विषय में मानसिक अवरोध (Obsessions) के कारण मृणाल सहित उनके समस्त स्त्री-चित्रण सीमित, अधूरे और अनबूझ-से हो गए हैं। इस कार्य में वास्तव में दो स्वतन्त्र प्रेरणा-भूमियों का मिश्रण मिलता है। नारी-चरित्र का आरम्भिक चित्रण यदा-कदा किंचित् सामाजिक स्पर्श के साथ मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार पर करके उत्तरार्द्ध में वे दार्शनिक साधना और नीति का दामन थाम लेते हैं। इस मिश्रण में दोनों प्रेरणा-भूमियों का निर्वाह नहीं हो पाता, वे एक-दूसरे को क्षतिग्रस्त करती हैं।

अन्ततः ये उपन्यास किस प्रकार के कहे जायँगे? क्या वे मनोवैज्ञानिक हैं, अथवा सामाजिक, या नैतिक या दार्शनिक हैं? तटस्थता और वस्तुमूलकता के अभाव में उन्हें अन्य आभास होने पर भी मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। अपनी कृतियों के जगत् में बलात् प्रवेश के द्वारा वे उनके औपन्यासिक लक्ष्य को नष्ट कर देते हैं। उल्लिखित चारों तत्वों का अनमेल प्रयोग उपन्यास की सत्ता को सन्दिग्ध बना देता है। हिन्दी की अविकसित स्थिति में चाहे उन्हें मसीहा का पद दे दिया जाय, पर प्रबुद्ध पाठक के द्वारा वे सदा सन्दिग्ध दृष्टि से ही देखे जायँगे।

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में जैनेन्द्र से कई क़दम आगे बढ़ने वाले अज्ञेय हैं। ये भी दर्शन, औदात्य अथवा महात्मा बुद्ध के आदर्श की भूमिका को छोड़ने के लिए तैयार नहीं। हिन्दी-उपन्यासकारों के साथ यह रोग-सा लग गया है कि उनके पास पकाने लिए कोई-न-कोई खिचड़ी होती ही है। उनकी कृति में अहंवादिता और उसके परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। विशुद्ध अहं वहाँ अंकित नहीं, वहाँ आदर्श अहं

(ego-iadal) का लोक है अर्थात् अहं का कल्पित आदर्श-स्वरूप। परिणामतः कृति 'रोमांटिक' है, 'रिअलिस्टिक' नहीं। यही कृति के पूर्णतः मनोवैज्ञानिक बनने में सबसे बड़ी बाधा है। अज्ञेय की कृति का रोमांस एक अन्तर्मुख व्यक्तित्व का रोमांस है, जो विशेषतः उनके नारी-दर्शन में परिलक्षित होता है। प्रसाद की स्वस्थ रोमांटिक भूमि से यह स्थिति बहुत भिन्न है। अन्तर्मुख रोमांस की पूर्ति के लिए ही अज्ञेय के पात्र उच्च मध्यवर्ग के अवकाशजीवियों में से लिये जाते हैं। कहना आवश्यक नहीं कि इससे औपन्यासिक लेखन की एक सीमा बँध जाती है।

अज्ञेय की अप्रतिमता एक विशिष्ट और मौलिक शैलीकार के रूप में है। सबसे बढ़कर शैली वह वस्तु है जो उनकी कृति को उत्कृष्ट और दीर्घजीवी बनाती है। प्रेमचन्द यदि बोल-चाल की भाषा में चमत्कार के स्रष्टा थे, तो प्रसाद के समान अज्ञेय अपने विशिष्ट ढंग से अभिजात भाषा में चमत्कार के स्रष्टा हैं। कृतित्व में भी अज्ञेय एक विशेष प्रकार के महत्त्व के पात्र हैं। प्रेमचन्द में बहिर्मुखता की उपलब्धि के पश्चात् अग्रिम गति में हिन्दी-उपन्यास आन्तरिक जीवन के चित्रण की सफलता का अपेक्षी था। अज्ञेय का प्रयोग इस दृष्टि से सफल है, किन्तु यह सफलता एक बहुत बड़ी कीमत चुकाकर मिली है। अन्ततः सर्वाङ्ग उत्कर्ष की सिद्धि हिन्दी-उपन्यास में अन्तर्बाह्य के सन्तुलित योग से ही सम्भव होगी।

इलाचन्द्र जोशी ने जीवन और कला के प्रति एक बौद्धिक दृष्टिकोण को अपनाया है। अपने ढंग से वे मनोविज्ञान और प्रगतिवाद का नाम लेकर अन्तः और बाह्य के सन्तुलित सह-स्वीकार के लिए प्रयत्नशील हुए हैं, यद्यपि विशेष उपेक्षित तत्त्व मानकर मनोविज्ञान पर उन्होंने अधिक ज़ोर दिया है। मनोविज्ञान उनके उपन्यासों में सामग्री के रूप में प्रयुक्त है, किन्तु शैली और शिल्प मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अनुरूप नहीं हैं। वस्तु तो नवीन है, किन्तु विधि पुरानी है। जो अविकसित और रूक्ष उपकरण प्रेमचन्द को प्राप्त थे, जोशी जी उनमें परिनिष्ठित हैं। तभी तो जीवन के सर्वाङ्गपूर्ण निरूपण की आकांक्षा के साथ कथात्मकता के लिए उनका प्रबल आग्रह है।

विकास की दृष्टि से अपनी प्रारम्भिक स्थिति में वे अधिक एकाग्र कलाकार दिखाई देते हैं। उनके कलात्मक उद्देश्य में एकता मिलती है। इसीलिए 'पर्दे की रानी' अपने ढंग की उल्लेखनीय कृति बन गई है। आगे चलकर उद्देश्य और प्रेरणाओं में बहुमुखता आ गई है, जिससे कला का संगठन टूटने-सा लगा है। वे मानवतावाद की ओर निरन्तर अग्रसर हो रहे हैं, किन्तु अभी तक वहाँ पहुँचे नहीं हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उनकी समस्त गति बौद्धिक है, और प्रत्यक्ष जीवन से सम्पर्क स्थापित करने में वे अभी तक सफल नहीं हुए हैं। परिणामस्वरूप महती सदाशयता की उत्तरोत्तर वृद्धि और कलात्मकता के उत्तरोत्तर ह्रास का विचित्र दृश्य उनकी परवर्ती कृतियों में हम देखते हैं। मनुष्य के प्रति एक दुरन्त अनुराग तो उनमें लक्षित होता है, किन्तु कला को समुन्नत करने वाली उस महान् सहानुभूति की ऊष्मा का परिचय अभी तक उनमें नहीं मिला, जो उदाहरणार्थ पर्ल बक के कृतित्व में अनुभूति होती है। एक स्वस्थ दृष्टिकोण को सामने लाने का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है।

इन मनोवैज्ञानिक कहे जाने वाले

उपन्यासकारों के अतिरिक्त कुछ नितान्त भिन्न दिशा में चलने वाले लेखक भी हैं। उनकी विशेषताओं का परिचय देने के लिए उपेन्द्र-नाथ 'अश्क' और यशपाल बहुत उल्लेखनीय हैं--दोनों विशिष्ट दृष्टिकोण से युक्त और बहिर्मुख हैं। अश्क आंशिक रूप में जोला की जाति के यथार्थवादी हैं। यथातथ्यवाद में निष्ठित होने के कारण उनकी कृतियों में परिस्थिति (वातावरण और वंशानुक्रम) नियामक बनकर उपस्थित होती है और मनुष्य उसके द्वारा नियोजित और परिचालित पुतला बन जाता है। परिपार्श्व की शक्तियाँ उसे उत्तेजित करके अपने साथ दौड़ाती हैं, किन्तु उसमें ऐसा कोई प्रेरणा-केन्द्र नहीं है जो स्वयं उसकी आकांक्षित और संकल्पित मानवनिष्ठ गति को स्फूर्त्त कर सके। इसकी अवश्यम्भावी और विलक्षण परिणति उनके सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गिरती दीवारें' में दृष्टिगोचर होती है। इसमें परिपार्श्व के चित्रण में अश्क अपार परिश्रम करते हैं, एक-एक ईंट जमा करके एकान्त लगन से वे अपना कला-भवन निर्मित करते हैं, छोटी-से-छोटी वस्तु भी उपेक्षित नहीं रह पाती, और इन सबके साथ उनके नायक के जीवन की रूप-रेखा भी क्रमशः निर्मित होती जाती है। वह क्षण आता है जब नायक का निर्माण अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है। इस पूर्णता के साथ वह अपने को एक ऐसी स्थिति में पाता है जब उसका चेतन–प्रबोध–सम्पूर्ण है, और वह एक निर्णय लेने की आवश्यकता के अभिमुख है। यदि संकल्पित निर्णय वह ले लेता है तो वह तत्काल विशुद्ध परिस्थिति से ऊपर एक आध्यात्मिक धरातल पर उठ सकता है। किन्तु यन्त्र आत्मा से युक्त नहीं होते। 'गिरती दीवारें' का नायक वह अनिवार्य निर्णय नहीं ले पाता, और 'गिरती दीवारें' का कला-भवन सिद्धि का द्वार देखकर, उसका स्पर्श किये बिना ही ढह जाता है। केवल यही नहीं कि वह निर्णय नहीं लेता, किन्तु सत्य तो यह है कि अश्क के जगत् में उगने वाला मनुष्य निर्णय लेने में मूलतः अशक्त है। गम्भीरता अचानक हल्केपन में बदल जाती है, और प्रयोजन की सम्भावना का प्रयोजनहीनता में अवसान हो जाता है। इसीलिए अश्क का सामाजिक व्यंग्य शक्तिमान आघात न पहुँचाकर मन्द हँसी भर पैदा करके रह जाता है।

यशपाल एक तरह से अश्क के प्रतिलोम हैं। अश्क जी यदि परिपार्श्व के प्रणेता हैं, तो यशपाल प्रयोजन के प्रतिष्ठाता। अश्क जी यदि कला को पूर्णतया वैज्ञानिक स्वरूप में ढालने के पक्षपाती हैं तो यशपाल उसे मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपित करने के आग्रही हैं। यशपाल पुरुष-पौरुष के लेखक हैं, किन्तु मनुष्य की तुलना में उन्हें मतवाद प्रिय है। उनमें हम मध्यवर्गीय लेखक की साम्यवादी परिणति देखते हैं। जब ऐसा होता है तो यथार्थ से असंगति के विविध परिणाम देखने को मिलते हैं। यशपाल का दृष्टिकोण भी जोशीजी के समान बौद्धिक है, किन्तु जोशी जी से भिन्न स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के चित्रण में वे एक विकृत (Morbid) मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। नैतिक मनुष्य की उनकी धारणा संदेहास्पद है और मनुष्य सत्ता की विकासमान परिणति की सम्भाव्यता में आस्था के अभाव का संकेत करती है। उनका जीवन-चित्रण निरंतर मनुष्य का आधार खोजता है, किन्तु वास्तविक मनुष्य और जीवन से उसकी संगति नहीं बैठ पाती। जिस प्रकार प्रेमचन्द का कृतित्व जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से आत्मवान है, वह विशेषता यशपाल के सिद्धान्त-प्रेरित

कृतित्व में कम ही उभर पाई है।

यशपाल की भाषा और अभिव्यंजना अनगढ़ और रूक्ष हैं। उनकी कृतियों के संगठन के विषय में भी इससे बहुत भिन्न बात नहीं कही जा सकती। किन्तु इतना होते हुए भी उनके लेखन में एक विशिष्ट शैली का तत्त्व मौजूद है। दो आतिशयिक विरुद्ध तत्त्वों को मार्मिक रूप में एक-दूसरे के समीप और अभिमुख रखकर वे आकर्षक कला की उद्भावना कर लेते हैं। उनके व्यंग्य इसीलिए चुभने वाले और आघातकारी होते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की तुलना में वे जीवन की व्याप्ति और सामाजिक जागरूकता के परिपोषक दिखाई देते हैं।

प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी के यही प्रमुख रचनात्मक औपन्यासिक हैं। ये कला की भूमि में पूर्णतः परीक्षित हो सकते हैं। इनसे एक श्रेणी भिन्न वे लेखक और उपन्यासकार हैं, जिन्हें हम पूर्णतः साहित्यिक नहीं कह सकते। उनके लेखन के उद्देश्य बहुत-कुछ उपयोगितावादी हैं। उनकी लेखनी का बल उनकी कलात्मक त्रुटियों को एक हद तक अपवाहित कर देता है। इस श्रेणी में राहुल सांकृत्यान की गणना हो सकती है, जिनके ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी में अपना स्थान रखते हैं। इनसे बहुत-कुछ भिन्न और साहित्यिक दृष्टि से अधिक प्रौढ़ ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा हैं, जिनकी कृतियों में राष्ट्रीय चेतना और रोमांस का सुन्दर सम्मिलन हुआ है। परन्तु राहुल की लेखनी की-सी शक्तिमत्ता कदाचित् उनमें नहीं है। 'वैशाली की नगर वधू' के लेखक चतुरसेन शास्त्री भी ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों के क्षेत्र में अधिकांश कार्य परिमाण-मूलक हैं।

तीन अन्य लेखक भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी और प्रतापनारायण श्रीवास्तव उपन्यास-लेखन में उल्लेखनीय कार्य कर चुके हैं। हिन्दी-साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में इन लेखकों का प्रदेय भी परिगणित होता रहा है, यद्यपि ये अपनी कृतियों में किन्हीं अतिशय मौलिक तत्त्वों की परिकल्पना कदाचित् नहीं कर सके हैं।

नवयुवक लेखकों में धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' अतिशय सामान्य और छिछली कृति है। उनकी दूसरी रचना 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' अधिक प्रौढ़ है और उनकी सम्भावनाओं को प्रकट करती है। इसी प्रकार नरेश मेहता तथा कुछ अन्य लेखकों की शिल्प-प्रधान कृतियाँ प्रस्तुत हुई हैं, जिनमें वस्तु-तत्त्व अथवा जीवन-तत्त्व की रेखाएँ प्रायः क्षीण हैं।

उपन्यास की विषय-वस्तु और लेखन-प्रक्रिया में एक प्रकार की स्थिरता अथवा गतिहीनता की स्थिति देखकर कुछ पुराने लेखकों ने अपने लेखन की दिशा बदली और नागरिक जीवन की भूमिका को छोड़कर दूरवर्ती और विलक्षण रीति-नीति वाली जातियों और स्थितियों के चित्रणों को अपनाया। उनके लिए यह एक नया प्रयोग था। वे पिष्ट-पेषण से बचना चाहते थे, परन्तु ऐसे लेखक न तो किसी बड़ी गहराई में जाकर आंचलिक क्षेत्र की वस्तु-स्थिति का परिचय दे सके हैं, न उनकी लेखन-शैली में ही कोई बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा है। श्री उदयशंकर भट्ट और अमृतलाल नागर ऐसे लेखक हैं, जिन्हें आंचलिक उपन्यासों का स्रष्टा कहा जा सकता है, पर एक सीमित अर्थ में। उनकी कृतियों से हिन्दी-उपन्यास के वस्तु-तथ्य अथवा रचना-शिल्प में कोई बड़े परिवर्तन उपस्थित नहीं हुए। उक्त प्रौढ़ लेखकों के ये नये उपन्यास उनके लिए

अधिक नये पाठकों की सृष्टि कर सके हैं; यह सच है; पर उपन्यास साहित्य की रूपात्मक या भावात्मकगतिविधि में कोई बड़ी क्रान्ति नहीं हो पाई।

यदि आंचलिक उपन्यास वस्तुतः हिन्दी में एक नई औपन्यासिक प्रगति के प्रतीक हैं, तो ऐसे उपन्यासों की सृष्टि का श्रेय नगार्जुन और रेणु-जैसे लेखकों को दिया जा सकता है। नागार्जुन के उपन्यास व्यंग्यात्मक अधिक हैं और उनमें एक गँदलापन भी है, जिसके कारण उनकी कृतियाँ प्रत्याशित ऊँचाइयों तक नहीं पहुँचीं। फिर भी हिन्दी-उपन्यास को नई दिशा देने में नागार्जुन उल्लेखनीय व्यक्ति हैं। रेणु के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने आरम्भिक दो उपन्यासों के द्वारा ही हिन्दी-उपन्यास के विषण्ण और अतिशय गतिहीन वातावरण में एक नई स्फूर्ति, सक्रियता और उत्साह की सृष्टि कर दी है।

रेणु के आंचलिक उपन्यासों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे अतिशय सीमित क्षेत्र की घटना, भाषा और बोलचाल से सम्बद्ध होते हुए भी एक विलक्षण सांकेतिकता के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को ध्वनित और व्यञ्जित करते हैं। उनमें दो शक्तियाँ प्रशस्त रूप में पाई जाती हैं। छोटी सीमा में दिखाई पड़ने वाली जीवन की बारीक-से-बारीक विविधता का प्रदर्शन; और उन चित्रणों द्वारा सम्पूर्ण सामयिक राष्ट्रीय जीवन-चेतना की अभिव्यक्ति। उनके उपन्यासों में स्थानिकता के आकर्षण के साथ-साथ गतिशील राष्ट्रीय चेतना की सम्पूर्णता का आकर्षण भी है। प्रेमचन्द के उपन्यास राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न हैं। परन्तु उनमें स्थानिकता या आंचलिकता की अपनी रंगत; अपना रूप, रस, गन्ध स्पर्श नहीं है, जो रेणु के उपन्यासों में आ सका है। प्रेमचन्द के पश्चात् उसी राष्ट्रीय पैमाने का, उसी सशक्त सर्जनाशक्ति का दूसरा लेखक हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र में शायद कोई नहीं था। अब हमारी दृष्टि रेणु की ओर जा सकती है।

एक ही उल्लेखनीय बात जो रेणु की कृतियों के सम्बन्ध में प्रश्न-चिह्न बनकर आती है, उनके उपन्यासों की भाषा है। उनके उपन्यास आंचलिक भाषा को छोड़कर यदि खड़ी बोली में लिखे जायँ, तो उनके प्रभाव में किस प्रकार की कमी आयगी! जिस भाषा में उनकी ये कृतियाँ अंकित हैं, दूर प्रान्त वाले हिन्दी-भाषी पाठकों के लिए दुरूह हो सकती है। न भी हो, तो भी भाषा-प्रयोग की शिष्ट परम्परा से दूर तो वे हैं ही। शंका हो सकती है कि यदि रेणु जी इसी आंचलिक भाषा में अपने आगामी उपन्यास भी लिखते रहे, तो वे सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र के उपन्यासकार कहला सकेंगे या नहीं! तब तो उनके उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिन्दी-पाठकों को उसी प्रकार उनकी विशेष भाषा पढ़नी और समझनी पड़ेगी जिस प्रकार हम बंगला या उड़िया भाषा को पढ़ते और समझते हैं। यह स्थिति उनके पाठकों की संख्या सीमित कर सकती है और उन्हें हिन्दी-उपन्यासकार का पद देने में भी बाधक बन सकती है। परन्तु संप्रति भाषा के इस प्रश्न को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है। हमें इस नये लेखक के आगामी विकास को, उसकी अपनी स्वतन्त्र कला-अभिरुचि पर छोड़ देना चाहिए। प्रतिबन्धों से जो कार्य नहीं हो सकता, वह स्वतन्त्रता द्वारा आसानी से हुआ करता है।

निबन्ध

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

नाट्य-शास्त्र की भारतीय परम्परा

[पिछले अंक से आगे]

जैसे कि पहले बताया गया है कि नाट्य वेद में दो वस्तुएँ हैं—विधि और शास्त्र। पाँचवें अध्याय तक पूर्वरंग की विधि विस्तारपूर्वक बताई गई है। छठे अध्याय में पूर्वरंग विधि के सुन लेने के बाद मुनियों के पाँच प्रश्नों का उल्लेख है।

१. रस क्या है, और सत्व का कारण क्या है ?

२. भाव क्या हैं और वे किस वस्तु को भावित करते हैं ?

३. संग्रह किसे कहते हैं ?

४. कारिका क्या है ?

५. निरुक्ति किसे कहते हैं ?

भरतमुनि ने उत्तर में बताया कि चूँकि ज्ञान और शिल्प अनन्त हैं इसलिए नाट्य का कोई अन्त नहीं है। लेकिन संक्षेप में सूत्ररूप में नाट्य का रसभावादि संग्रह मैं आप लोगों को बताऊँगा। उन्होंने बताया कि सूत्र और भाष्य में जो अर्थ विस्तार पूर्वक कहे गए हैं उनका संक्षेप में निबन्धन संग्रह कहलता है और सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्र का संग्रह उन्होंने एक श्लोक में बताया। वह श्लोक है :

रसाभावाह्यभिनयां धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगं च संग्रह ॥

अर्थात् नाट्य-शास्त्र के संक्षेप में इतने अंग हैं :

१. रस; २. भाव; ३. अभिनय; ४. धर्मी; ५. वृत्ति; ६. प्रवृत्ति; ७. सिद्धि; ८. स्वर; ९. आतोद्य; १०. गान और ११. रंग।

इस संग्रहश्लोक में भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र के ११ अंगों का निर्देश किया है और प्रारम्भ में इनका संक्षेप में विवरण दिया है और बाद में विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। वस्तुतः इन ११ विषयों का विवेचन ही शास्त्र है। स्पष्ट जान पड़ता है कि इन श्लोकों के लिखे जाने के पूर्व इन विषयों पर सूक्त, कारिका, और भाष्य लिखे जा चुके थे और इन शब्दों की निरुक्ति भी बताई जा चुकी थी। छठे, सातवें और आठवें अध्याय में सूत्र भी हैं

और कारिकाएँ भी हैं, प्रत्येक शब्द की निरुक्ति भी बताई गई है। गद्य में इन विषयों की जो व्याख्या की गई है वह बहुत-कुछ भाष्य की शैली पर है। कई श्लोकों को आनुवंश्य कहा गया है। आनुवंश्य अर्थात् वंश-परम्परा से प्राप्त। स्पष्ट ही नाट्य-शास्त्र अपने पूर्व के एक विशाल नाट्य-साहित्य की स्थिति की सूचना देता है। विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के पहले शास्त्रकार ने संक्षेप में इनकी चर्चा कर दी है। उन्होंने बताया है कि शृंगार, हास्य आदि आठ रस हैं, रति-हास आदि आठ स्थायी भाव हैं, इनके अतिरिक्त स्वेद, स्तम्भ आदि आठ सात्विक भाव हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर भावों की संख्या ४६ हैं। काव्य-रसिकों के निकट ये भाव काफी परिचित हैं अतएव हम उनका नाम नहीं गिना रहे हैं। आगे बताया गया है कि अभिनय चार प्रकार के होते हैं—१. आंगिक, २. वाचिक, ३. आहार्य और, ४. सात्विक; धर्मी दो हैं—१. लोकधर्मी, २. नाट्यधर्मी; जिन वृत्तियों में नाट्य प्रतिष्ठित होता है वे चार हैं—भारती, सात्विकी, कैशकी और आरभकी; प्रवृत्तियाँ पाँच हैं—अवन्ती, दाक्षिणात्या, मागधी, पांचाली और मध्यमा;—सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं— दैविकी और मानुषी; षड्ज प्रभृति सात स्वर हैं जो मुख और वेणु दोनों ही से निकलते हैं—आतोद्य चार प्रकार के हैं—तत, अवनद्ध और सुषिर, इनमें तार वाले बाजे तत हैं, मृदंगादि अवनद्ध हैं, ताल देने वाले घन हैं और वंशी सुषिर (छिद्रयुक्त) हैं। गान पाँच प्रकार के होते हैं—प्रवेश, आक्षेप, निष्काष्य प्रासारिक और (ध्रुवावेग) ? रंग च तीन प्रकार के होते हैं—चतुरस्र, विकृष्ट और मिश्र। संक्षेप में यही शास्त्र के विषय हैं—

'एवमेषोऽल्पसूत्रार्थोव्यादिष्टेनाट्यसंग्रहः।'

इन्हीं ११ विषयों के विस्तृत विवेचन को नाट्य-वेद का शास्त्र-अंग कहा गया है। यह विधि से भिन्न हैं। इनके अनेक भेदोपभेदों का ज्ञान कराया गया है और युक्तिपूर्वक बताया गया है कि इनका प्रयोग कब, क्यों और कैसे किया जाना चाहिए। विधि अवश्य करणीय है। उसमें तर्क नहीं किया जा सकता। किन्तु शास्त्र तर्क और ऊहापोह से युक्त है। उसमें शंका और समाधान के लिए स्थान है और बौद्धिक विवेचन की गुञ्जाइश है।

नाट्य-शास्त्र के कई संस्करण प्रकाशित हुए। 'हाल' ने सन् १८६५ में अपने सम्पादित 'दशरूपक' के परिशिष्ट में नाट्य-शास्त्र के १८वें, २० वें, और ३४ वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। पी० रेगनाड ने भी नाट्य-शास्त्र के १४ वें और १५वें अध्याय और सन् १८८४ में 'रेटोरिके संस्कृते' में ६वें और ७ वें अध्याय का प्रकाशन कराया। 'निर्णयसागर' प्रेस में काव्यमाला सीरीज में पूरा नाट्य-शास्त्र प्रकाशित हुआ और फिर उसके कुछ दिन बाद १९३९ में काशी में पं० बटुकनाथ शर्मा और पं० बलदेव उपाध्याय ने 'काशी संस्कृत सीरीज' (जो प्रायः चौखम्बा संस्कृत सीरीज के नाम से प्रसिद्ध है) में नाट्य-शास्त्र का एक दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। सन् १९२६ में श्री रामकृष्ण कवि ने अभिनव गुप्त की महत्त्वपूर्ण टीका 'अभिनव-भारती' के साथ नाट्य-शास्त्र के प्रथम सात अध्यायों का सम्पादन करके 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज' में प्रकाशित कराया। आठवें से १८ वें तक के अध्यायों की दूसरी जिल्द सन् १९३४ में प्रकाशित हुई और तीसरी जिल्द भी अब प्रकाशित हो गई है। श्री कवि ने नाट्य-शास्त्र के विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक विवरण अपनी पुस्तक की भूमिका में दिया है। उस भूमिका में और महामहोपाध्याय पं० सी० वी० काने ने अपने

'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स' में विस्तारपूर्वक इन संस्करणों में पाये जाने वाले विभिन्न रूपों और पाठ-भेदों की चर्चा की है। उससे लगता है कि नाट्य-शास्त्र के पाए जाने वाले विभिन्न रूपों में बहुत अन्तर है।

वर्तमान नाट्य-शास्त्र से यह स्पष्ट है कि नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है। ६वें, ७ वें तथा अन्य अध्यायों में भी लम्बे-लम्बे गद्यांश आए हैं, जो निरुक्त और महाभाष्य की शैली में लिखे गए हैं, कम-से-कम १५ श्लोक और १६ आर्या में आनुवंश्य अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त बताई गई हैं, कुछ सूत्रानुबद्ध आर्याम हैं, जो श्लोकरूप में लिखे हुए सूत्रों की व्याख्या हैं, इन्हें सूत्रानुबद्ध या सूत्रानुविद्ध आर्या कहा गया है, लगभग सौ पद्य ऐसे हैं जिन्हें 'अत्रश्लोका' या 'आत्रार्या' कहकर उद्धृत किया गया है और जिनके बारे में अभिनव गुप्त ने कहा है कि ये प्राचीन आचार्यों के कहे हुए श्लोक हैं।[1] इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में पूर्व-परम्परा के अनेक तत्त्व मिलते हैं। नाट्य-शास्त्र में कुछ अंश निश्चय ही बहुत पुराना है। उपलब्ध नाट्य-शास्त्र का लेखक स्वीकार करता है कि वह परम्परागत सूत्रों का हवाला दे रहा है, जब कि आरम्भिक अध्यायों में यह भी कहता है कि यह सबसे पहला प्रयास है। पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में कृशाश्व और शिलालि नाम के दो सूत्र-कर्ताओं का उल्लेख किया है। यह आश्चर्य की बात है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र में मानो प्रयत्नपूर्वक इन दो आचार्यों का नाम छोड़ दिया गया है। सम्भवतः वर्तमान रूप के लेखक या सम्पादक को इस शास्त्र की सर्वप्रथमता सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक लगा हो (भाव-प्रकाशन में वासुकि नाम के एक प्राचीन आचार्य का यह मत उद्धृत किया है कि इन्होंने भी भावों से उसका उत्पन्न (रस-सम्भवः) होना बताया है और प्रमाणस्वरूप नाट्य-शास्त्र का एक श्लोक उद्धृत किया है,[2] जो वर्तमान नाट्य-शास्त्र में 'भवन्ति चात्रश्लोकाः' कहकर उद्धृत किया है। इससे अनुमान किया सकता है कि किसी वासुकि नाम के आचार्य की किसी कृति से वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक परिचित अवश्य था परन्तु उनका नाम देना किसी कारणवश उचित नहीं समझा। पाणिनि ने जिन दो आचार्यों का उल्लेख किया है उनकी कुछ बातें भी इन परम्परा-प्राप्त कारिकाओं या सूत्रों में आई हैं या नहीं, यह कहना कठिन है। नन्दिकेश्वर, तंडु (यह भी अभिनव गुप्त के मत से नन्दिकेश्वर का ही दूसरा नाम है) कोहल आदि आचार्यों का नाम लेकर उल्लेख है और 'गन्धर्ववेद' नामक शास्त्र की भी चर्चा है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक ऐसे लोगों का नामतः उल्लेख करने में नहीं हिचकता जिनकी प्रसिद्धि देव-कोटि के लेखकों में है, परन्तु मनुष्य-कोटि के लेखकों का वह प्रयत्नपूर्वक नाम नहीं लेना चाहता। उद्देश्य है, शास्त्र की सर्वप्रथमता खण्डित न होने देना। कोहल को मनुष्य-कोटि का आचार्य माना गया है इसलिए भविष्यवाणी के रूप में[3] इनका उल्लेख किया गया है और प्रथम अध्याय में इन्हें भरत के पुत्रों में मिलाया गया है।

१. 'अभिनव भारती', जिल्द १, ६. पृ० ३२८।
२. भा० प्र०, पृ० ३६-३७।
३. पृ० ३६-६५।

ऐसा जान पड़ता है कि नाट्य-शास्त्र का कुछ अंश काफी पुराना है, महामहोपाध्याय डॉ० पी० वी० काने का अनुमान है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का छठा और सातवाँ अध्याय (रसभाव विवेचन) ८वें से १४वें तक के अध्याय (जिनमें अभिनय का सविस्तर विवेचन है) तथा १७ वें ३५ वें तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित हुए थे। छठे और ७वें अध्याय के गद्य-अंश और आर्याएँ सन् ईसवी के दो सौ वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थीं। वर्तमान नाट्य-शास्त्र को जब अन्तिम रूप दिया गया तब जोड़ी गई।[1] आगे चलकर उन्होंने बताया है कि सन् ईसवी की तीसरी या चौथी शताब्दी में नाट्य-शास्त्र को नये सिरे से सजाया गया और उसमें सूत्रभाष्य शैली के गद्य, पुरानी आर्याएँ तथा श्लोक और जोड़े गए और नवीन रूप देने वाले सम्पादक ने भी कुछ व्याख्यात्मक कारिकाएँ लिखकर जोड़ीं।[2] डॉ० काने ने इसके पक्ष में अनेक प्रमाण दिए हैं जिनको स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

१९वीं शताब्दी में कई यूरोपियन पण्डितों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय नाट्यों के विकास में भारत के साथ ग्रीस के सम्पर्क का बहुत बड़ा हाथ है। वेबर ने अपनी पुस्तक "Indian Literature" में तथा अन्य कई लेखकों ने यह बताने का प्रयत्न किया कि वैक्टिरया पंजाब और गुजरात में ग्रीक शासकों के दरबार में ग्रीक नाटकों के अभिनय होते थे। उनसे भारतीय नाटक और नाटकीय सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु 'महाभाष्य' में जब ऐसा लेख प्राप्त हुआ जिससे 'रामायण महाभारत' आदि के अभिनय की परम्परा पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई तो वेबर ने अपने मत में थोड़ा सुधार कर लिया। वे इतना ही कहकर सन्तुष्ट हो गए कि भारतीय नाटकों पर और नाटकीय सिद्धान्तों पर कुछ ग्रीक प्रभाव ज़रूर पड़ा होगा।

पिशेल नामक जर्मन पण्डित ने वेबर के मत का बड़ा जोरदार खण्डन किया, जिसका प्रत्याख्यान सन् १८८२ में विंडिश नामक जर्मन पण्डित ने किया। विंडिश यह तो मानते हैं कि भारतवर्ष में स्वतन्त्र भारतीय नाटक के विकास के तत्त्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। परन्तु वे 'महाभाष्य' में उल्लिखित 'रामायण महा भारत' की लीलाओं से परवर्त्ती काल के शास्त्रीय-सिद्धान्त-मर्यादित नाटकों को भिन्न समझते हैं, उनका कहना है कि परवर्त्ती काल के नाटकों की विषय-वस्तु का परिवर्तन हो गया, जो पौराणिक पात्र थे, वे गृहस्थ के दैनन्दिन जीवन के साँचे में ढाले गए, नाटकों की प्रधान-काव्य-वस्तु कामदी-प्रेय बन गया।

कथावस्तु का कलात्मक विकास हुआ जिसमें अंकों और दृश्यों में उनका विभाजन किया गया, पात्रों के ढाँचे में विकास हुआ, वार्तालाप के विकास के सामने महाकाव्यात्मक तत्त्व पीछे रह गए, पद्यों के साथ-साथ गद्य का मिश्रण हुआ और संस्कृत के साथ प्राकृत ने भी नाटकों में अपना अधिकार स्थापित किया। क्या यह सब यों ही हो गया? निश्चय ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व नया आया होगा। विंडिश का ही अनुमान है कि यह नया तत्त्व ग्रीक लोगों के साथ भारतीयों का सम्पर्क ही है। विंडिश के इस मत की बड़ी चर्चा हुई। उनके बाद भारतीय कला और शिल्प के अन्यान्य क्षेत्रों में ग्रीक-प्रभाव की काफ़ी चर्चा हुई।

१. पृ० १८।
२. पृ० २२।

मूर्ति-कला के क्षेत्र में गान्धार की मूर्तियों को ग्रीक-मूर्तिकला की देन बताया गया और परवर्ती-काल में एक नवीन स्वतन्त्र भारतीय कला के विकास में उसे प्रेरक तत्त्व समझा गया। प्रो० सिल्वांलेवी ने विंडिश के नाटक-सम्बन्धी मत का तो बड़ा ज़ोरदार खण्डन किया किन्तु उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया कि अश्वघोष के माध्यम से बौद्धधर्म में जो नवीन प्राणों का स्पन्दन दिखाई देता है उसका कारण पश्चिम से आई हुई धार्मिक विचार-धारा थी। इस प्रकार विंडिश ने जिस ग्रीक-प्रभाव को भारतीय नाटकों का प्रेरक तत्त्व बताना चाहा था उसका अस्तित्व शिल्प और धर्म के दूसरे क्षेत्रों में भी स्थापित करने का प्रयत्न हुआ। अब प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ग्रीक-शासकों के दरबार में ग्रीक-नाटकों का अभिनय हुआ करता था? दुर्भाग्यवश इसके पक्ष या विपक्ष में कहने योग्य प्रमाण कम हैं। सन् १९०९ में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की पत्रिका में सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ जान मार्शल ने पेशावर में प्राप्त एक बरतन पर ग्रीक-नाटक 'एण्टिगोन' के एक अभिप्राय का अंकन बताना चाहा परन्तु प्रायः सभी विद्वानों ने उसे सन्देहास्पद और कष्ट-कल्पित माना। अलक्षेन्द्र के बारे में अवश्य कहा जाता है कि वह नाटक देखने का बड़ा शौकीन था और यह भी सुना जाता है कि अकेले 'एकवनाना' में ही तीन हज़ार ग्रीक-कलाकार थे। परवर्ती ग्रीक-लेखकों ने यह भी लिखा है कि ईरानीवस्वे, जेड्रोशियन और ? शसा के लोग यूरीपाइड और सेफोक्लिक्स के नाटकों के गीत गाया करते थे। और परवर्ती ग्रीक लेखक 'फिलस्ट्रेटस' ने तो एक ब्राह्मण की चर्चा की है जिसे गर्व था कि उसने यूरीपाइड का नाटक 'हेराक्लडई' पूरा पढ़ लिया है। प्रो० सिल्वांलेवी इन वक्तव्यों को अतिरंजित और सन्देहास्पद मानते हैं। जो हो, यह मान लिया जा सकता है कि भारतवर्ष में जो ग्रीक लोग आए होंगे वे कुछ-न-कुछ अपने देश के नृत्य, गान, नाटक आदि का अभिनय भी कराते होंगे। जिन शासकों ने ग्रीक-कलाकारों को बुलाकर सुन्दर सिक्के ढलवाये उनसे उतने कला-प्रेम की आशा तो की ही जा सकती है; परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि सचमुच इन नाटकों ने भारतीय नाटकों को प्रभावित किया होगा? विंडिश का कहना है कि ईसवी पूर्व ३४० और २६० के बीच जो ग्रीस में जो नई ऐक्टिक कामेडियाँ लिखी गईं वे ही भारतीय नाटकों को प्रभावित करने वाले मूल स्रोत मानी जा सकती हैं परन्तु जैसा कि श्री ए० बी० कीथ ने अपने 'संस्कृत नाटक' नामक ग्रन्थ में बताया है "संस्कृत नाटक और कामेडियों में जो सम्बन्ध है वह बहुत ही थोड़ा है।" श्री ए० बी० कीथ ने और भी कहा है कि विंडिश का यह कहना कि ग्रीक (रोमन) और भारतीय दोनों नाटकों में अंकों और दृश्यों का विभाजन होता है दोनों में स्त्री पात्र प्रत्येक दृश्य के अन्त में रंगमंच छोड़ देते हैं, अंकों की संख्या साधारणतः पाँच होती है (भारतीय नाटकों में यह संख्या प्रायः अधिक होती है), कोई बहुत महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं हैं क्योंकि यह संयोगजन्य साम्य भी हो सकता है। संस्कृत-नाटकों का अंक-विभाजन एक्शन के विश्लेषण (Analisation of action) पर आधृत होता है, जो ग्रीस और रोम में कहीं भी अनुलिखित नहीं है। इसी प्रकार दृश्य-सम्बन्धी रूढ़ियों में जो समानता है, जनान्तिक और अपवार्य भाषण की रूढ़ियों में जो एकरूपता है और किसी पात्र के प्रवेश के समय रंगमंच पर उपस्थित किसी अन्य पात्र से उसके सम्बन्ध में परिचयात्मक वाक्य कहलाने की समान प्रथाएँ हैं, वे भी ऐसी हैं जो एक ही परिस्थिति में खेले जाने वाले नाटकों में अवश्य नियोज्य हैं,

इनकी समानता से ग्रीक या रोमन प्रमाण की स्थापना नहीं की जा सकती। आजकल के वैज्ञानिक युग में भी नवागत पात्र के परिचय कराने की आवश्यता अनुभव की ही जाती है।

डॉ० राघवन् ने संस्कृत-नाटकों के वस्तु-विषय को बहुत सुन्दर ढंग से बताया है—संस्कृत में नाटक प्रस्तावना के साथ प्रारम्भ होता है जिसमें सूत्रधार और उसका कोई सहयोगी सम्भाषण करते हैं और कवि (नाटककार) तथा नाटक का परिचय प्रस्तुत करते हैं। कथावस्तु का आयोजन परिच्छेदों में किया जाता है, जिन्हें अंक कहते हैं और जिनकी सीमा चार से लेकर दस तक होती है। अंक में दृश्य-परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उनमें दृश्यों के विभाजन का संकेत नहीं किया जाता। अंकों में एक नैरन्तरिक कार्य-कलाप होता है जो एक दिन की अवधि का नहीं होता। अंकों में उच्चतर अथवा निम्नतर चरित्रों का एक प्रस्तावनात्मक दृश्य हो सकता है। इसका प्रयोजन कथावस्तु में एकसूत्रता अथवा नैरन्तर्य की स्थापना करना, दर्शकों को कथा-वस्तु का बोध कराना और उन घटनाओं के विषय में सूचना देना अथवा वार्तालाप कराना होता है जो रंगमंच पर प्रमुख अंकों में प्रदर्शित न किये जा सकते हों। पूर्व-निर्देश के अभाव में कोई पात्र मंच पर अवतरित नहीं हो सकता। नाटक की मूल वस्तु में गद्य तथा पद्य-शैलियों का मिश्रण होता है। पद्य का प्रयोग उस स्थान पर होता है जब किसी आवश्यंजनक अभिव्यक्ति अथवा उच्च प्रभाव की सृष्टि की आवश्यकता होती है। गद्य और पद्य के मिश्रण की भाँति ही साहित्यिक तथा लौकिक भाषाओं का भी मिश्रण होता है। उच्चवंशीय तथा शिक्षित पुरुष-पात्र संस्कृत बोलते हैं और निम्नतर श्रेणी के पात्र, स्त्री-पात्र तथा साधारण सभासद् प्राकृत बोलते हैं, जो निम्न श्रेणी के पात्रों की संख्या तथा प्रवृत्ति के अनुसार कभी-कभी विभिन्न प्रकार की होती है। कार्य संक्षिप्त अवधि का भी हो सकता है अथवा वर्षों तक फैला हुआ भी हो सकता है और इसी प्रकार एक विशिष्ट स्थान पर भी घटित हो सकता है अथवा विभिन्न स्थानों तक भी उसका विस्तार हो सकता है। कथावस्तु प्रसिद्ध महाकाव्यों से ली जा सकती है अथवा कल्पित या भिन्न भी हो सकती है। कथावस्तु के प्रख्यात होने पर भी नाटककार उसे अपने नाटक के भाव तथा प्रयोजन के उपयुक्त नया रूप दे सकता है, क्योंकि संस्कृत-नाटककार उसे अपने नाटक में उदात्त चरित्रों तथा दर्शकों के अन्तस्तल पर उदात्त भावों का प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया करता है। नाटक का अन्त सुखमय होना चाहिए। (संस्कृत-लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार नाटक एक विशेष जाति का अभिनेय रूपक है। परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है।)

इन दृष्टियों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी मूल वस्तु के अवयवों, कथावस्तु, चरित्र और रस की योजना करता था। वस्तुतः रस ही संस्कृत के सभी काव्य-नाटकों का लक्ष्य है। रस तक ले जाने के कारण ही नायक (ले जाने वाला), नायिका (ले जाने वाली), अभिनय (ले जाने का पूर्ण साधन) आदि शब्दों की रचना हुई है। वह कथा की उन घटनाओं को, जो उसके कथानक के लिए आवश्यक होती थीं अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थीं, परित्यक्त अथवा पुनर्निर्मित करता था। यही वह अपने पात्रों के चारित्रिक गुणों के विषय में करता था। परम्परा-प्राप्त व्यक्तित्व में से वह अपने स्वयं के चरित्रों की सृष्टि कर लेता था। कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण, जो

पश्चिमी नाटकों के सर्वस्व होते हैं, भारतीय नाट्य-कला में रस के साधक होते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक एवं चरित्र-चित्रण उपेक्षित थे। भरत का कथानक-निर्माण की प्रविधि का नियमपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार की आलोचना का निराकरण करेगा।

'यवनिका' शब्द ने भी अनेक प्रकार की ऊहापोहों को उत्तेजना दी है, परन्तु विंडिश और लेवी ने इस शब्द से उत्पन्न भ्रान्त धारणाओं का निरसन कर दिया है। वस्तुतः यवनिका या 'जवनिका' संस्कृत के 'यमनिका' शब्द के प्राकृत रूप हैं जिसका अर्थ होता है, संयमन की जाने वाली परी (तु० अपटीक्षेप प्रवेश) या पर्दा। यदि यह शब्द किसी प्रकार 'यवन' शब्द से सम्बद्ध मान भी लिया जाय तो भी इसका अर्थ केवल विदेश से आई हुई वस्तु ही होगा। भारतीयों का प्रथम परिचय आयोनियन (Ionion) लोगों से हुआ था, उसीसे संस्कृत का 'यवन' और पालि का 'योन' शब्द बना है। बाद में इस शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और हेलेनिक परसियन साम्राज्य के सभी देशों के निवासियों के लिए इसका प्रयोग हुआ है, मिस्र (Egypt), ईरान (Persia), सीरिया, वाह्लीक (Wahlic) आदि सभी देशों के निवासी यवन कहे जाते थे और उनकी वस्तुएँ भी इसी विशेषण से स्मरण की जाती थीं। लेवी ने ईरान के बने परदों को यवनिका कहा है। वस्तुतः जैसा कीथ ने कहा है, ग्रीक-नाटकों में परदे होते ही नहीं थे। स्वयं विंडिश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। फिर भी वे कहना चाहते हैं कि ग्रीक-रंगमंच के पीछे जो चित्रित दृश्यावली होती थी उसे ही भारतीय रंगमंच में परदे से सूचित किया जाता होगा, इसलिए उसको 'यवनिका' नाम दे दिया गया। यह विचित्र तर्क है। अनेक यूरोपियन पण्डितों ने इस तर्क की निस्सारता सिद्ध की है फिर भी 'यवनिका' शब्द इतना स्पष्ट व्यञ्जनाकारी है कि इससे उत्पन्न भ्रान्त धारणा इस देश में बनी हुई है और आये दिन अच्छे-अच्छे भारतीय मनीषी इस भ्रान्त सिद्धान्त को अम्लान भाव से कह दिया करते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० राघवन् ने ग्रीक और संस्कृत-रंगमंचों की तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि "भारतीय रंगमंच पर नाट्य-रूपों की विविधता पहले से ही थी, जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'त्रासदी' यूनानी नाटकों का सर्वोत्कृष्ट रूप था और संस्कृत रंगमंच पर यूनानी त्रासदी-जैसी किसी वस्तु का विकास कभी नहीं हुआ। वस्तुतः इसके सिद्धान्त रंगमंच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। संस्कृत-रंगमंच में यूनानी रंगमंच के समान कोई गायक-वृन्द नहीं होता था और यूनानी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य संकलन-त्रय के सिद्धान्त से देश-काल के संकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निश्चिन्त होकर छोड़ दिये गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विशाल भी था। यूनानी रंगमंच का भारतीय रंगमंच के विविध रूपों से—जिनका भरत ने कुछ विशदता से वर्णन किया है—कोई साम्य नहीं है। भरत के—जिनका ग्रन्थ अरस्तू के पोयटिक्स तथा 'रिटारिक्स' के सम्मिलित रूप से भी अधिक पूर्ण है—पूर्ण रस-सिद्धान्त के समक्ष, त्रास, करुणा तथा विरेचन के यूनानी सिद्धान्त हेय-से हैं। परदे के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द, रंगमंच पर आने वाले राजकीय अनुचरों में यवन स्त्रियों की उपस्थिति आदि तथ्यों में भी यवन-सम्पर्क के कुछ प्रमाण खोजे गये हैं। (इनमें से) अन्तिम तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास परदे के लिए 'पटी' 'तिर-

स्करणी', 'प्रतिशिरा' तथा यहाँ तक कि 'यमनिका' आदि शब्द देशीय तथा युक्तियुक्त न होते तो प्रथम युक्ति में कुछ शक्ति हो सकती थी। इन रूपों की अपेक्षा भारतीय नाटक के अधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट अंग वे हैं जिनका यूनानी नाटकों में अभाव है—संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का बहुभाषीय माध्यम। सिलवेन लेवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत में शकों के प्रभाव में विकसित हुए हैं। उनके आधार-भूत प्रमाण नितान्त सारशून्य हैं। कीथ के अनुसार संस्कृत-नाटकों का उद्भव तथा विकास स्वदेशीय ही है। निस्सन्देह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न है।

'यवनिका' की ही भाँति संस्कृत-नाटकों में राजा की अंगरक्षिका के रूप में यावनी बालाओं की उपस्थिति को भी ग्रीक-रंगमंच के प्रभाव का निदर्शक बताया जाता है, पर जैसा कि श्री कीथ ने कहा है कि ग्रीक नाटकों में अंगरक्षिकाओं का कोई अस्तित्व नहीं है, यह अधिक-से-अधिक ग्रीक रमणियों के प्रति भारतीय राजाओं का झुकाव ही सिद्ध करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] तथा मैगस्थनीज आदि के लेखों से इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

विंडिश ने नाटिकाओं के साथ कई कामदियों का आश्चर्यजनक साम्य दिखाया है और इनमें तथा अन्य संस्कृत-नाटकों में जो अभिज्ञान यासहिदानी का अभिप्राय आया है उसे ग्रीक-प्रभाव बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि कीथ ने कहा है अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य में इतना पुराना है कि यह कल्पना करना कि भारतीयों को अभिज्ञान या सहिदानी के अभिप्राय को उधार लेने के लिए ग्रीस जाना पड़ा, कुछ तुक की बात नहीं है। यह और बात है कि जिन कथाओं और काव्यों में इस प्रकार के अभिप्रायों का प्रयोग है, उनकी तिथि सर्वत्र सन्देहास्पद बताई जाती है। फील्ड आदि विद्वानों ने भारतीय कथानक-रूढ़ियों का बहुत विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके प्रयत्नों से इस रूढ़ि की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित की गई है। 'मृच्छकटिक' नाटक की कथावस्तु, नाम आदि को लेकर विंडिश ने अपने सिद्धान्त स्थिर किये थे, पर भास के 'चारुदत्त' नामक नाटक के मिलने से, जो 'मृच्छकटिक' का मूल रूप है, अन्य उसका भी वजन कम हो गया है। 'मृच्छकटिक' में कुछ नयापन है अवश्य, और यदि वह विदेशी प्रेरणा से आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। राजनीतिक उलटफेरों से गणिका वसन्तसेना का रानी की मर्यादा पा लाना नई-सी बात है, पर उसका पहली रानी के साथ-साथ विवाहित पत्नी के रूप में रहना भारतीय प्रथा है।

इसी प्रकार और भी जो बातें कही गई हैं वे निराधार और कष्टकल्पित हैं। यह तो नहीं माना जा सकता कि ग्रीकों-जैसी शक्तिशाली जाति के सम्पर्क में आने के बाद भारतीयों-जैसी अद्भुत कल्पनाशील जाति के विचारों और कल्पना-शक्ति में कोई परिवर्तन हुआ ही न होगा, पर जहाँ तक नाटकीय सिद्धान्तों का प्रश्न है, उसकी बहुत ही समृद्ध और पुरानी परम्परा इस देश में वर्तमान थी। यह भी नहीं समझना चाहिए कि यावनी साहित्य और विचार-धारा भारतीय सम्पर्क में आकर कुछ लेने में हिचकी होगी। अधिक-से-अधिक यही कहा

१. अध्याय १, पृ० २१।

जा सकता है कि दोनों जातियों में कुछ ऐसा आदान-प्रदान हुआ अवश्य होगा, पर उसे नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को ग्रीक साहित्य की देन कहना कल्पना-विलास-मात्र है।

कई यूरोपियन पण्डितों ने केवल बाहरी प्रमाणों पर निर्भर न रहकर विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक-रोमन-नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों में जो 'टाइप' की प्रधानता है वह सिद्ध करती है कि आरम्भ में अनुकरणमूलक के रूप में और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों के प्रभाव से नया रूप ग्रहण किया। पुराने टाइपों का रह जाना उनके मत से रोमन कामदियों से उनका प्रभावित होने का ही लक्षण है, क्योंकि यह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया, पर पुराना गया नहीं। यह बात कितनी निराधार है यह श्री कीथ के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है :

"The similarity of types is not at all convincing; the borrowing of the idea of using different dialects from the mime is really absurd and the large number of actors is equally natural in either case."

अर्थात् टाइपों की समानता बिलकुल मानने योग्य बात नहीं है और विभिन्न बोलियों के प्रयोग-सम्बन्ध में माइम से उधार लेने वाला विचार बेहूदा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक संख्या का होना दोनों देशों के नाटकों में समान रूप से सम्भव है। श्री कीथ ने जोर देकर कहा है कि ग्रीक रोमन कामदियों में टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में परिचित पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण कथावस्तु में जो विकास हो जाता है, वह उसमें एकदम नहीं मिलता।

ऊपर संक्षेप में आधुनिक विद्वानों की कुछ ऊहापोहों की चर्चा की गई है। इस चर्चा का उद्देश्य केवल पाठकों को नये विचारों से परिचित करा देना था। इस संक्षिप्त चर्चा से इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय पाठकों के विकास में बाहरी प्रभाव की बातें विशुद्ध अटकल पर आधारित हैं और नाट्य-शास्त्र के विकास में तो किसी विदेशी परम्परा का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता। नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी—हज़रत ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है। ऊपर की विवेचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि भरत के नाट्य-शास्त्र का वर्तमान रूप अनेक परम्परा-प्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है और कुछ परवर्ती भी है। इसका अन्तिम सम्पादन कब हुआ था यह कहना कठिन ही है, परन्तु सन् ईस्वी की तीसरी शताब्दी तक उसने यह रूप अवश्य ही ले लिया होगा, क्योंकि कालिदास-जैसे नाटककार को इस शास्त्र का जो रूप प्राप्त था वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। इस बात के लिए विद्वानों ने प्रमाण दिए हैं।

वर्तमान नाट्य-शास्त्र मूलतः तीन प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। प्रथम (१) और मुख्य लक्ष्य तो अभिनेताओं को शिक्षा देने का है। इन लोगों को नाट्य-शास्त्र भरत-पुत्र कहता है। नाट्य-शास्त्र का यह भी प्रयत्न है कि अभिनेताओं को सामाजिक दृष्टि से ऊँची मान्यता प्राप्त हो। दूसरे (२) लक्ष्यीभूत श्रोता, प्रेक्षक सामाजिक हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्र प्रेक्षकों में अनेक ग्रन्थों की आशा रखता है। संस्कृत-नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए, इस विषय में नाट्य-शास्त्र ने स्पष्ट रूप में कहा है (२७-५१ और आगे) कि उसकी सभी इन्द्रिय दुरुस्त होनी चाहिएँ; ऊहापोह में उसे

पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल आडिएंस कहते हैं, ऐसा होना चाहिए), दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके अर्थात् जो संवेदनशील न हो उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक या दर्शक का पद नहीं देना चाहता।[1] इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाट्य-शास्त्र अनेक प्रकार की नाट्य-रूढ़ियों का विवेचन करता है और ऐसे इंगित बताता है जिससे दर्शक रंगमंच पर अभिनय करने वाले व्यक्तियों के आकार, इंगित, चेष्टा और भाषा द्वारा बहुत-कुछ अनायास ही समझ ले। नाट्य-शास्त्र में ऐसी नाट्य-रूढ़ियों का विस्तार-पूर्वक संग्रह किया गया है जो दर्शक को रसानुभूति में सहायता पहुँचा सकती हैं। तीसरा (३) लक्ष्यीभूत श्रोता कवि या नाटककार है। शास्त्रकार नाटकों के निबन्धन की विधियाँ बताता है और कथा के विभिन्न अवयवों और अभिनय की विभिन्न चेष्टाओं के संयोग से चरित्र और घटना-प्रवाह के परस्पर आघात-प्रत्याघात द्वारा विकसित होने वाले नाटकीय रसानुभूति के सूक्ष्म कौशलों का परिचय कराता है। वह आशा करता है कि कवि या नाटककार इन सूक्ष्म कौशलों का अच्छा जानकार होगा और कथा का ऐसा निबन्धन करेगा कि कुशल अभिनेता और सहृदय पाठक-प्रेक्षक दोनों को रस ग्रहण करने में आसानी होगी। परवर्ती-काल में नाट्य-शास्त्र के बताये हुए विस्तृत नियमों का संक्षेपीकरण हुआ और अभिनेता तथा पाठक की अपेक्षा कवि या नाटककार को ही ध्यान में रखकर छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की गई है। 'दश-रूपक' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य-निबन्धन की विधि बताना है। अभिनेता उसकी दृष्टि में बहुत कम हैं और सहृदय प्रेक्षक बहुत गौण रूप से हैं। आगे इसी संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति पर विचार किया जायगा। (क्रमशः)

---

१. पृ० २७-५२।

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

राष्ट्र-निर्माण में लेखक का सहयोग

वास्तव में प्रस्तुत विषय, सवालों का सवाल है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले राष्ट्र की गुलामी ही हमारी प्रमुख समस्या थी। स्वतन्त्र भारत की प्रमुख समस्या—राष्ट्र-निर्माण की समस्या है। इस विषय के मूल में बहुत सारी समस्याओं की गुत्थी उलझी हुई है। और, मुझे लगता है कि यही एक प्रश्न है जिसको हल करने के लिए हमें बार-बार एकत्र होने की आवश्यकता पड़ रही है। इसलिए आरम्भ में ही निवेदन कर दूँ—ऐसे कठिन और महत्त्व-पूर्ण विषय पर मुझ-जैसे नये चिन्तक के विचार सहचिंतन को उलझायँगे ही। आदर्श राष्ट्र के बारे में, जन-मन-गन-अधिनायक के गायक ने कहा था—आधुनिक युग में हम उसी राष्ट्र-नीति को श्रेष्ठ कहेंगे जो सर्वजन की स्वाधीन बुद्धि और स्वाधीन शक्ति को प्रकाशित करने का समुचित अवसर दे।

देश को स्वाधीन हुए एक दशक हो रहा है, किन्तु प्रवीण चिन्तन की परम्परा हमारे देश में अभी अंकुरित ही नहीं हुई है। अन्य क्षेत्रों में जो-कुछ भी हुआ है—चिन्तन के क्षेत्र में कोई अग्रगति नहीं हुई है। प्रवीण-चिन्तन—जिसको कवि-गुरु ने चित्र का स्वराज्य एवं मोह-मुक्त बुद्धि का उदार अनुशीलन कहा है। अत्यानुसन्धान, तीव्र विचार विरोध-गणतन्त्र की सफलता और अग्रगति के न्यूनतम उपकरण हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि जीवन को उपवासी और जीर्ण रखकर मनन और चिन्तन का उन्नयन किया जाय। सभ्यता के सभी उपकरण प्रस्तुत कर देने से ही अन्तर की स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो जाती। इसलिए कुछ दिन तक अविरत आत्मानुसंधान करने की आवश्यकता है। वर्ना, हमारे सामने जो रूमानी आवरण है, वह दूर नहीं होगा। और, उस आलोक के बिना अन्धकार में अग्रसर होने का अर्थ—पतन की ओर बढ़ना है।

हमारे देश में चित्त का स्वराज्य नहीं हुआ है। हमारी बुद्धि मोह-मुक्त नहीं हो सकी है। राष्ट्र-निर्माण की जिन परिकल्पनाओं के कार्य प्राम्भ हुए हैं, क्या उनसे हमारे दुःख और दारिद्रय का सचमुच ही अवसान होगा ? हमने इस पर भी कभी विचार किया है। अपने इस दैन्य का अभिशाप हम भोग रहे हैं।

राष्ट्र-व्यवस्था-गठन करके, जन-कल्याण के पथ पर हमारा देश अग्रसर हुआ है। कल्याण-साधन के कार्य भी आरम्भ हुए हैं। किन्तु, हमारे राष्ट्र-नायकों के जन-कल्याण की चेष्टा में, बुद्धि को जाग्रत करने का अभिप्राय कहाँ नहीं मिलता। तरह-तरह के वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों के द्वारा, सर्व-साधारण के बीच विज्ञान का प्रसाद वितरण कर देने से कुछ नहीं होगा। जन-साधारण की वैज्ञानिक दृष्टि को खोलने की भी आवश्यकता है। वैज्ञानिक सम्पद्

लाभ करने के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टि-लाभ श्रेयस्कर है। देश की खरस्रोता नदियों के जल-स्त्रोत को विज्ञान की शृंखला में बाँधकर, देश की बञ्जर और गैर-आबाद जमीन को शस्य-श्यामल बनाने के साथ-साथ मानसिक दुर्भिक्ष-ग्रस्त राष्ट्र की चित्त-भूमि को उर्वर बनाने की आवश्यकता थी। जन-साधारण के सूखते हुए मनन-स्रोत की ओर हमारे राष्ट्रनायकों का ध्यान कभी नहीं गया। यही कारण है कि कोई भी परिकल्पना जन-साधारण के हृदय में प्रविष्ट होकर प्रतिष्ठित नहीं हो पा रही है। इसे राष्ट्र-जीवन का दुरुपयोग ही समझना चाहिए।

विद्युत्-आलोक से गाँव-गाँव की अली-गली को आलोकित करने का क्या अर्थ, जब कि सर्वजन के मन के कोटर में चिर-अन्धकार बद्धमूल हो रहा है ? शिक्षा की अपूर्णता हमारे साहित्य के मुक्ति-विधान में बाधक हो रही है— इसे हम देखकर भी नज़रअन्दाज कर रहे हैं। शिक्षा और साहित्य का सम्बन्ध अभिन्न है। किन्तु हमारा दुर्भाग्य, हमारे देश में शिक्षा और साहित्य का प्रत्यक्ष संयोग अभी तक नहीं हुआ। निश्चय ही यह स्थिति किसी राष्ट्र के लिए संकटपूर्ण प्रमाणित हो सकती है।

पंचवार्षिक परिकल्पनाओं का शुभ सन्देश लेकर जब हमारे राष्ट्रनायक जनता के बीच आते हैं तो जन-गन के खाली दिल-दिमाग को देखकर वे परेशान होते हैं। झुँझलाते हैं। अपने अजीबो-गरीब मुल्क पर तरस खाते हैं। और कभी-कभी ललाट पर बल डालकर अपने राष्ट्र के लेखकों को खोजते हैं—कहाँ हैं वे—सपनों के संसार वाले ? हम यहाँ कितने सपनों को साकार करने जा रहे हैं। हमारे राष्ट्र के लेखक और कलाकार निर्विकार हैं।

लेखक और कलाकार निर्विकार नहीं हैं। हाँ, वे असमञ्जस में अवश्य पड़े हुए हैं। असमञ्जस का कारण है। स्वाधीनता-संग्राम के मूल में जो त्याग और सेवा का आदर्श जीवन्त था—वह धीरे-धीरे विलुप्त हो चुका है, हमारे राष्ट्र के आचरण से। महात्मा गांधी ने अपनी जीवन-साधना से इस राष्ट्र के जन-मानस में जिस प्रचण्ड शक्ति को उद्दीप्त किया था, वह भी लुप्तप्राय है। विदेशी नौकरशाही प्रतिवेश से चिपके रहने के कारण हमारे राष्ट्रनायक इस हकीकत को नहीं समझ सकते हैं। राष्ट्र को संगठन-मूलक प्रचेष्टा में प्रवृत्त कराने के लिए जिस आदर्श की आवश्यकता है, उसे हमारे राष्ट्रनायक खो चुके हैं। जब कि स्वाधीनता-संग्राम में उसकी जितनी आवश्यकता थी, उससे भी अधिक आवश्यकता आज है। राष्ट्र-निर्माण की परिकल्पनाओं को सफल करने के लिए देश की जनता को त्याग स्वीकार करना होगा। भविष्य की ओर देखकर वर्तमान का दुःख-कष्ट सहन करना होगा। किन्तु, उपर्युक्त आदर्श की अनुपस्थिति में देश की जनता को बृहत्तर स्वार्थ के लिए अनुप्राणित करना बहुत कठिन व्यापार है।

इस अंधकारपूर्ण परिपार्श्व में, लोक-तन्त्र की प्रतिश्रुति की आशा का एक-मात्र प्रकाश है। इसीके भरोसे हमें सब-कुछ करना है। प्लेटो ने लेखक और कलाकार को अपांक्तेय और अछूत करार देकर, राज-काज के मामले से इन्हें बहिष्कृत करने की सलाह दी थी। उसने लेखक और कलाकार को गैर-जिम्मेवार, पागल और नमकहराम समझा था। किन्तु, लोक-तन्त्र के नेताओं ने अनुभव से यह जान लिया है कि किसी भी राष्ट्र के निर्माण में लेखक और कलाकार की सहयोगिता अत्यावश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

यह सही है कि लेखक-वर्ग विभिन्न राजनीतिक मतवादों से प्रभावित हैं। जिन पर

किसी राजनीति का प्रभाव नहीं, उनकी अपनी राजनीति है, उनका अपना दर्शन है। हममें से अनेक ऐसे हैं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि प्राप्त कर ली है। इसलिए राष्ट्र-निर्माण को हम विभिन्न दृष्टि से देखते हैं। इसके बावजूद, भारतीय लेखक वर्ग राष्ट्र-निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकता है। यह हमारा विश्वास है। क्योंकि, भारतीय-जन ने राष्ट्रीयता का पाठ अच्छी तरह पढ़ा है। फिर लेखक या कलाकार जिसका धरती से इतना लगाव हो, वह राष्ट्र-निर्माण के कामों को देख-सुनकर अनुप्राणित हुए बिना कैसे रह सकता है? बहुजन हिताय परिकल्पनाओं को शंका की दृष्टि से देखने वाले आलोचकों को भी सम्भवतः कोई वाजिब दलील नहीं मिलेगी। यहाँ मुझे एक ऐसी ही दलील की याद आ रही है। हमारे एक प्रतिष्ठित लेखक-बन्धु कोई 'डैम' देखने गए थे। नव-निर्माण को देखकर रचनाकार प्रभावित अवश्य हुआ। किन्तु, 'डैम' के पास ही एक किसान से उसकी भेंट हो गई। किसान ने कहा—'क्या देख रहे हैं बाबू साहब? यह नदी तो विधवा हो गई।' और, हमारे मित्र कलाकार के मन में यह बात बैठ गई। उसका सारा उत्साह शेष हो गया। उसने देखा—वास्तव में नव-निर्माण-कर्ताओं ने नदी का सुहाग लूट लिया है। नदी विधवा हो गई है। कवि का हृदय कातर हो गया और सम्भवतः नव-निर्माण-विमुख भी।

आरम्भ में ही मैंने प्रवीण चिन्तन की चर्चा की है। उपर्युक्त कातरता यदि राजनीतिक पूर्वाग्रह की उपज नहीं तो नाबालिग चिन्तन का अकाल परिपक्व फल अवश्य है। राष्ट्र-निर्माण के कार्यों को देखने के पहले उसकी निगाह या तो शासक-पार्टी के झण्डे पर थी अथवा जन-जीवन से परे पले हुए व्यक्तित्व पर—जो ऐसे क्षणों में अपनी लघुता में काँप-काँप जाता है। नहीं तो उस अचैतन्य किसान के सामने वह उस नदी की सही तस्वीर उपस्थित करता—आँचल में सुख-समृद्धि लिये खड़ी सुहागिन पुण्य सलिला! जो कुछ दिन पूर्व तक डायन थी, अपने बच्चों को खाती थी, वह जन-जन में नवजीवन बाँटने के लिए आई है। यदि किसी एक व्यक्ति के सरोवर को परिपूर्ण करने के लिए उस नदी को श्रीहीन किया गया तो हमारे बन्धु का ही कर्तव्य था—जन-साधारण को इस बर्बरता की सूचना को देकर, इसके विरुद्ध जनमत तैयार करना। किन्तु, उसका तटस्थ रहना तो किसी भी अवस्था में क्षम्य नहीं। विज्ञान-भवन की भव्य अट्टालिका में—सर्वाधुनिक प्रसाधनों से परिपूर्ण तथा आरामदेह आसनी पर बैठते समय निश्चय ही अनेक लेखकों को अपने जन-साधारण की याद आई होगी। किन्तु किसी कवि का हृदय कातर नहीं हुआ, अन्दाज की बात है।

प्रश्न उठता है, लेखक या कलाकार राष्ट्र-निर्माण में किस तरह सहयोग दे? क्या वह 'अप्सरा' पर महाकाव्य लिखे? चिरन्तन पर नाटक की रचना करे? मेरे विचार से, यही वह भ्रमपूर्ण स्थल है, जहाँ हम भटक जाते हैं। अपने देश की नौकरशाही ने इस भ्रम को और भी गाढ़ा कर दिया है।·······राज्य को लेखकों और कलाकारों की जरूरत है। उनके सहयोग की आवश्यकता है। भ्रष्ट नौकरशाही आगे बढ़कर लेखकों को बटोरने का काम शुरू कर देती है। तरह-तरह के साज-सरंजाम के साथ लेखक बटोरने का राष्ट्रव्यापी आयोजन प्रारम्भ होता है। वे जानते हैं कि लेखक गरीबी और अवहेलना का मारा हुआ है। इसलिए वह पुकार-पुकारकर कहता है लेखको! महाप्राप्ति योग उपस्थित है तुम्हारे द्वार पर। इस लुभावनी पुकार से लेखकों में चांचल्य की सृष्टि अवश्य होती है। सहयोगिता

के नाम पर बटोरे हुए लेखकों को राष्ट्र-नायक गुण-कीर्तन रचने से लेकर नदी-घाटी योजना के भ्रष्ट पदाधिकारियों का यशोगान करने के लिए तक सलाह दी जाती है। बीच-बीच में तफरीह के लिए देश के विभिन्न निर्माण-क्षेत्रों में भेजकर नौकरशाही अपने कर्त्तव्य से मुक्त हो जाती है। किन्तु लेखक का सन्देहशील मन क्रमशः कोटरगत हो जाता है। नौकरशाही मशीन का नट-वाल्ट बनकर वह रह जाता है। उधर, राजनेता जब लेखा-जोखा करने बैठता है तो उसकी झुँझलाहट फिर बढ़ जाती है। क्या बात है? हमने लेखक माँगे थे—ये तो मुहर्रिर हैं। लेखक का क्या कुसूर? उसे मुहर्रिर होने का कम दुःख नहीं। किन्तु व्रत छोड़कर वृत्ति स्वीकार करने के बाद कलम, नश्लन-बाद-नश्लन पुष्ट होते हुए फाइलों के दस्तावेजों की नकल करने में ही घिसती है। हमारा प्रचार-साहित्य इसका प्रमाण है।

असल में लेखक से सहयोगिता स्थापित करने के ये सारे नौकरशाही तरीके गलत ही नहीं, अहितकर भी हैं। इससे राष्ट्र-निर्माण में न तो कोई सहायता मिल सकती है और न साहित्य का कोई मंगल होता है। इसके विपरीत साहित्य का निर्मल जल अकारण ही गँदला होता है और लेखकीय मंच पर शोर-गुल, छीना-झपटी तथा ईर्ष्या-कातरता को पनपने का मौका मिलता है। इस तरीके को किसी भी आत्म-सम्मानशील लेखक की स्वीकृति नहीं मिल सकती।

यदि हमारे राष्ट्र के लेखक को महान् निर्माण-कार्यों से प्रेरणा नहीं मिलती, तो उसे राजकीय पैमाने पर प्रेरित न किया जाय। रचने दीजिये उन्हें देहवादी रचनाएँ। नव-निर्माण की पहली शर्त है—राष्ट्र को नई प्रेरणा प्रदान करना। और, बावजूद सारी खामियों के इसने हमारी देश की जनता को प्रेरित करना शुरू किया है। आन्तरिकता-शून्य उपदेशों का असर उलटा होता है। जन-जीवन के सुख-दुःख से परे रहने वाले साहित्यकार की कढ़ाई हुई रचनाओं का प्रभाव जन-जीवन पर नहीं पड़ सकता। जीवन के क्षेत्र में कुण्ठा, अव्यवस्था और घुटन महसूस करने वाले लेखकों से, नव-निर्माण से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की आशा करना, हिमाकत के सिवा और कुछ नहीं।

क्या पता कि नव-निर्माण की तीव्र प्रेरणा कहीं किसान के बेटे को स्पन्दित कर रही हो। और वह अपनी अटपटी भाषा में मन के उल्लास को जोड़ने की चेष्टा कर रहा हो। दूर किसी उदास गाँव में बैठा कोई बूढ़ा लुहार ट्रैक्टरों, बुलडाजरों की गड़गड़ाहट को सुनकर फिर से जवान हो रहा हो। उसकी बाँहों में फिर से फौलादी ताकत आ रही हो। सेनेटोरियम की खिड़की से, पचास कोस दूर थरमल-पावर प्लांट की चिमनियों को देखकर किसी क्षयग्रस्त युवक के फेफड़े के घाव भर रहे हों। विपुल प्राण-धर्म से ओत-प्रोत जीवन-छन्द रचने को वह बेदार हो रहा है।

सम्भव है, साहित्य के इतिहास में उनका नाम कभी न लिया जाय। साहित्यकारों की पंक्ति में उन्हें स्थान न मिले। किन्तु, जन-जीवन में नवीन प्रेरणा और आदर्श स्थापित करने का सारा श्रेय उन्हीं कलाकारों का होगा। एक फ्रेंच राष्ट्र-नायक ने कहा था—"वार इज़ टू सीरियस ए थिंग टू बि लेफ्ट ओनली टु दि जनरल्स।" इस विख्यात उक्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि रचना का गुरुत्व इतना अधिक है कि इसे सिर्फ साहित्यकारों के हाथ में छोड़ देने से अनिष्ट अवश्यम्भावी है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

प्रगति और परम्परा

परम्परा और प्रगति जीवन के दो अभिन्न पक्ष हैं, एक ही सत्य के वे दो रूप हैं। मनुष्य अपनी परम्परा के आधार पर प्रगति करता है। बिना मनुष्य के इतिहास की दीर्घ और अखण्ड परम्परा के ज्ञान को हम नई मञ्जिलों तक नहीं पहुँचा सकते : और न वह परम्परा ही सार्थक है, जिसका विकास और प्रस्फुटन रुक गया हो। विकासमान परम्परा बढ़ती हुई नदी के समान है, जिसका जीवन प्रति क्षण नये प्राण और नई शक्ति से स्पन्दित होता रहता है, जो अविराम आगे बढ़ती है।

मनुष्य अपने पूर्व-अर्जित ज्ञान के आधार पर प्रगति करता है। जो कुछ उसने अपने पूर्व-पुरुषों से उत्तराधिकार के रूप में पाया है, उसमें वह विकास की नई कड़ियाँ जोड़ता है। ज्ञान की तुलना दीप से की गई है, जिसे एक पीढ़ी अपनी अगली पीढ़ी को समर्पित करके अदृश्य में विलीन होती है।

आदिम काल में मनुष्य ने बोलना सीखा, भाषा सीखी, लिखना सीखा। इस आधार पर अगली पीढ़ियों ने साहित्य रचा, कला की सृष्टि की, दर्शन और विज्ञान की अपूर्व उड़ानें लीं। उसने घर बनाए, अग्नि जलाना सीखा, गेहूँ और कपास उगाई। उसी आधार पर आगे चलकर उसने पिरामिड पार्थनन और अजन्ता का निर्माण किया। ताजमहल के समान भव्य इमारत खड़ी की। उसने भाप, बिजली और अणु की शक्ति पर प्रभुत्त्व प्राप्त किया और अब इन अपूर्व स्वप्नों को सत्य में परिणत करने की कामना करता है। उसने गीता और उपनिषदों की रचना की, शेक्सपियर और मिल्टन, वेदव्यास और वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी, टालस्टॉय और प्रेमचन्द्र, टैगोर और रोम्यारोलाँ के समान महान् स्वप्न-द्रष्टा उत्पन्न किये। उसकी साधना, उसके महाभियान और जय-यात्रा का कोई ओर-छोर पाना असम्भव लगता है।

मनुष्य की इसी सदियों और युगों-पर्यन्त विकासशील परम्परा के हम अधिकारी हैं। इस परम्परा की प्रगति अनन्त काल तक चलती रहेगी। अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित ज्ञान के आधार पर आज मनुष्य प्रकृति पर और भी अप्रत्याशित विजय पाने की आशा रखता है। आज उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं लगता। वह ग्रह-उपग्रहों की यात्रा के स्वप्न देख रहा है, उसने काल और दूरी पर विजय पा ली है, रोग और मृत्यु पर वह विजय प्राप्त करने को आतुर है।

मनुष्य की इसी अखण्ड विजय-यात्रा का वृत्तान्त हम संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्रों में भी पाते हैं। हमारे देश की सांस्कृतिक परम्परा का स्रोत सहस्रों वर्ष पुराना है।

परम्परा और प्रगति का ऐसा अटूट मेल हम चीन और भारत के समान देशों में ही पायँगे। हमारी संस्कृति की जड़ें पृथ्वी का हृदय फोड़कर अदृश्य के गर्भ में चली गई हैं। भारत ने अपने लम्बे इतिहास में कभी किसी अन्य देश पर आक्रमण नहीं किया। हमने सदियों-पर्यन्त केवल प्रेम और शान्ति के सन्देशवाहक दूरस्थ देशों को भेजे थे। हमारे पूर्वजों ने ज्ञान के क्षेत्र में ऊँची उड़ानें ली थीं। उन्होंने 'वेद' और 'ब्राह्मण', 'उपनिषद्' और 'गीता', 'रामायण' और 'महाभारत', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और 'मेघदूत' के समान उच्चतम कृतियों की रचना की। उन्होंने अपने सिद्धान्त और आदर्श सदैव ऊँचे रखे, उन्होंने अनेक अद्भुत स्वप्न देखे और उन्हें यथार्थ बनाया। अजन्ता और ऐलोरा के गुहा-मन्दिर चिरकाल तक उनकी दिव्य-शक्ति और अनुपम सृजन-प्रेरणा के साक्षी रहेंगे। उन्होंने करुणा, प्रेम, शान्ति और सत्य का सदा पक्ष लिया और यही आदर्श आधुनिक भारत के प्राणों को भी स्पन्दित करते हैं। हम अपने चतुर्दिक् बड़े अभाव, बड़ी पीड़ा, दुर्दमनीय दैन्य, बड़ी व्यथा का साम्राज्य देखते हैं। मनुष्य अपने अक्षय ज्ञान की शक्ति से इस अभाव और पीड़ा को सहज ही दूर कर सकता है। इसे दूर करना ही होगा—यही हमारी अतुलनीय सांस्कृतिक परम्परा हमें सिखाती है। जहाँ हम हैं, वहाँ—कदापि हम रुक नहीं सकते। हमें पृथ्वी पर स्वर्ग उतारकर लाना है। अन्धकार को दूर करके हमें असंख्य घरों में ज्योति लानी है।

हमारी सांस्कृतिक परम्परा में अनेक ऐसे तत्त्व भी लिपटे हुए हैं, जिन्हें अलग करके ही हम प्रगति के पथ पर बढ़ सकते हैं। यह तत्त्व हैं जातिवाद, अस्पृश्यता, अनेक अन्ध-विश्वास, इतिहास की गति में अनेक मृत विश्वास। जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण उदात्त है, किन्तु उसे उत्तरोत्तर अधिक वैज्ञानिक बनाने का कार्य अभी शेष है।

इसी प्रकार विश्व के स्तर पर भी मानव-परम्परा को नई दिशा लेनी है। ज्ञान ने मनुष्य को अनेक सहस्रचक्षु प्रदान किये हैं। इनका प्रयोग वह किस प्रकार करेगा, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठा है। विज्ञान की अजस्र शक्ति, उसकी अक्षय निधि का प्रयोग वह सामाजिक कल्याण के लिए करेगा, अथवा विनाश के लिए ? यह जिज्ञासा आज सभी सचेत व्यक्तियों के मन में नाच उठी है। प्रकृति पर मनुष्य के इस असीम प्रभुत्व के युग में मनुष्य की सदियों-पर्यन्त सञ्चित सम्पदा कुछ ही व्यक्तियों की निजी पूँजी अब नहीं रह सकती। अन्यथा, अनन्त धन-संचय के लोभ से वह मनुष्य की युगों-पर्यन्त पोषित संस्कृति की ही युद्ध के होम में आहुति दे देंगे।

हिन्दी की साहित्यिक परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। यह सन्त कवियों की परम्परा है, जिन्होंने लोक-कल्याण की भावना को अपनी रचनाओं में उन्नत स्वर दिया था। इन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को ठुकराकर जन-हित का अलख अपने साहित्य में जगाया था। इनकी वाणी सम्पूर्ण लोक-मानस में व्याप्त हो गई है और पाठकों की अन्तश्चेतना को प्रभावित करती है। इन्होंने कला के शृंगार को उसका सर्वोपरि ध्येय नहीं माना, इन्होंने कला के प्राण को अपनी उन्नत विचार-धारा से सम्पन्न बनाया।

हिन्दी की समर्थ परम्परा के वाहक हैं 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' के सदृश कृतियों के रचयिता, भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के लेखक; प्रकृति के सौन्दर्य और जीवन की पीड़ा से हिन्दी-पाठक को अवगत कराने वाले छायावादी कवि। इस परम्परा के शक्ति-

सम्पन्न पोषक थे प्रेमचन्द, जिन्होंने भारत के दैन्य-जर्जर किसान को प्रथम बार साहित्य के आसन पर प्रतिष्ठित किया। हिन्दी-साहित्य की इसी सबल और स्वस्थ परम्परा को आज के समाज-चेता लेखक विकास की नवीन मञ्जिलों तक ले जा रहे हैं। इस परम्परा का विकास राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय और नागार्जुन के समान तेजस्वी लेखक नई सामाजिक क्रान्ति की दिशा में कर रहे हैं।

हिन्दी-साहित्य की शिल्पगत परम्परा भी सदियों के हस्तलाघव और अभ्यास से परिमार्जित हुई है। हमारे पूर्वजों ने हिन्दी-भाषा में अनन्य सौष्ठव, लालित्य और माधुरी भरी है। यह परम्परा नित्य-नवीन समृद्धि के पथ पर अग्रसर हो रही है। कला और शिल्प के क्षेत्र में भी भावी पीढ़ियाँ हमारी अभिव्यञ्जना-शक्ति और शैली में नए गुण भरेंगी। किन्तु अपनी सम्पूर्ण कलात्मक परम्परा के वैभव को त्यागकर हम सम्पन्न नहीं बनेंगे। आज के अनेक लेखक हमारी लोक-परम्परा की ध्वनियों को साहित्य में उतार रहे हैं। यह इसी बात का समर्थन है कि समर्थ कलाकार अपनी समृद्ध परम्परा की अवहेलना नहीं करता, वरन् इस वैभव से सम्पन्न होकर वह अपने कृतित्व को अधिक सामर्थ्यवान बनाता है।

जिस प्रकार टी० एस० इलियट की चेतना में शेक्सपियर, स्पेन्सर और मिल्टन की अनुगूँज है, उसी प्रकार हमारे छायावादी कवियों की चेतना में तुलसीदास, सूर, कबीर और मीरा की गूँज विद्यमान है। पूर्व पुरुषों के छन्द, संगीत, चित्र, उपमाएँ अनजाने ही हमारी वाणी में मुखर होते हैं। जिस प्रकार अंग्रेजी लेखकों के स्वर में बाइबिल का स्वर गूँजता है, उसी प्रकार हिन्दी-लेखकों के स्वर में तुलसीदास का। उनके अनेक पद लोक-स्मृति में बस गए हैं और तीव्र अनुभूति के क्षणों में हम उन्हें दोहराते हैं। अपनी काव्य-पुस्तक 'तुलसीदास' में 'निराला' बड़े मार्मिक शब्दों में कवि-गुरु की वन्दना करते हैं :

'देश-काल के शर से विंधकर
यह जागा कवि अशेष छवि धर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी :
निश्चेतन, निज तन मिला विकल,
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएँगी।'

'सूर' काली रात की उपमा साँपिन से देते हैं। इस कला-शिल्प के वैभव की समता आसानी से नहीं हो सकती। 'सूर' कहते हैं :

'पिया बिनु सांपिन कारी राति।
कबहुँ जामिनि होत जुन्हैया, डसि उल्टी ह्वै जाति।'

इन कवियों की वाणी हमें अपने देश की जनता से प्रेम करना सिखाती है। यह एक महामन्त्र हमें उनसे अतुलनीय भेंट के रूप में मिला है। कबीर कहते हैं :

'पढ़ि-पढ़ि के पत्थर भया
लिखि-लिखि भया जु इंट।
कहै 'कबीरा' प्रेम की
लगी न एकौ छींट।।'

छायावादी कवियों ने खड़ी बोली को सुकुमार, कोमल और मधुर बनाया। पत्थर को काटकर मानो उन्होंने चिकना और निर्मल बनाया। उनके काव्य में प्रकृति की समस्त श्री अनायास ही फूट पड़ी है। तारों-भरा आकाश, गंगा की धारा-सी दूर तक फैलती ज्योत्स्ना, सागर की लोल लहरें, सभी के प्रति हिन्दी का पाठक सजग हो उठा है। इस सौन्दर्य को उसने नित्य-प्रति देखा था, किन्तु अब पहली बार इससे प्रेम करना उसने सीखा। इस काव्य का संगीत भी आज के पाठक के मन में निरंतर गूँजता रहता है। 'प्रसाद' की सार्वभौमिकता, पन्त की कोमलता, निराला के पौरुष और महादेवी वर्मा की करुणा ने हिन्दी-साहित्य की परम्परा को पुष्ट, परिपक्व और समृद्धिशाली बनाया है।

किसी भी साहित्य की जीवन्त परम्परा में गतिशीलता का गुण अनिवार्य है। परम्परा में विकास के लिए प्रयोग भी सदा होते रहेंगे। नये संगीत, चित्रों और ध्वनियों की खोज में नई पीढ़ी ने सदैव ही तत्परता दिखाई है। खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवि, छायावादी कवि, प्रगतिशील कवि और नये कवि वस्तु और शिल्प दोनों में ही विद्रोही रहे हैं। लेकिन प्रयोग अपनी परम्परा से हमें अलग नहीं कर सकते। परम्परा से टूटकर कवि बे-घर-बार हो जाता है। विदेशी साहित्य के अन्धानुकरण के फलस्वरूप हिन्दी-कविता में हम कभी-कभी इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ भी पाते हैं। नये कवियों में अनेक सच्ची काव्य-प्रतिभा रखते हैं। किन्तु उनमें से कुछ के काव्य-संगीत, शब्द-चित्रों, उपमाओं और ध्वनियों में पाठक को गद्यात्मकता की मरुभूमि पार करनी होती है। उनकी आत्म-रति, अनास्था, सामाजिक हित के प्रति उनकी उदासीनता भी हिन्दी-साहित्य की परम्परा से विलग रहने वाले अनोखे तत्त्व हैं।

हमारी परम्परा की जड़ें धरती में गहरी गई हैं। हमारी संस्कृति का वृक्ष इन्हींके आधार पर अनन्त काल तक पुष्पित और पल्लवित होता रहेगा। मानव-संस्कृति का विकास सहस्रों वर्षों पर्यन्त होता रहा है। आज मनुष्य के असीम ज्ञान की शक्ति ने विकास की अप्रत्याशित सम्भावनाओं के द्वार खोल दिए हैं। यदि यह अखण्ड ज्ञान मुट्ठी-भर मनुष्यों के स्वार्थ के पोषण में ही न लगा, यदि पूरे समाज का अधिकार मानव की संचित अनन्त ज्ञान-राशि और धन-राशि पर हो, तो मनुष्य इतिहास में पहली बार प्रकृति की शक्तियों पर अभूतपूर्व आधिपत्य पा सकता है। इतिहास के महान् मनीषियों और चिन्तकों के स्वप्न तब सत्य हो सकेंगे। मनुष्य के सभी बन्धन तब खुल जाएँगे, मुक्त पंछी की भाँति तब वह पंख खोलकर आकाश में उड़ सकेगा। प्रागैतिहासिक युग का तब अन्त होगा और इतिहास का आरम्भ होगा। प्रेम और शांति की गंगा तभी विश्व में प्रवाहित होगी। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शासन का अन्त तब होगा, और केवल वस्तुओं का शासन शेष रह जायगा। तब न राज्य रहेगा, न राजा और प्रजा। तब मानव-संस्कृति इतिहास में पहली बार उन्मुक्त विकास करेगी और पूर्व-काल के स्वप्न सत्य बन सकेंगे। आज वह सभी सम्भावनाएँ कल्पना की परिधि से निकलकर यथार्थ होने की प्रक्रिया से गुजर रही हैं।

आज के सभी सचेत लेखक, कवि और कलाकार मनुष्य के इन्हीं दिव्य स्वप्नों को अपनी कला के माध्यम से व्यक्त करेंगे और इस प्रकार उद्दाम जीवन की प्रगति में शक्ति के अजस्र स्रोत बनेंगे।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

'दिव्या' का वितर्क पक्ष

'दिव्या' उपन्यास के प्राक्कथन को लेखक ने सारगर्भ बना दिया है। जैसे 'रामचरित मानस' के आरम्भ में गोस्वामीजी ने 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि' आदि लिखकर अपने महाकाव्य के अध्ययन की कुञ्जी प्रस्तुत कर दी है उसी प्रकार यशपाल ने अपने इस उपन्यास की मूल वृत्ति का सूचनात्मक कथन अपने प्राक्कथन में उपस्थित किया है। कुछ पंक्तियों में कृतिकार ने अपने इस इतिहासाश्रित उपन्यास का सामूहिक अभिप्राय बड़ी कुशलता से कह दिया है—'दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना-मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।' यदि इस कृति की समीक्षा का मूल आधार लेखक की इसी स्थापना को मान लिया जाय तो रचना की सर्वांगीण परीक्षा का सम्पूर्ण सौन्दर्य स्वयमेव उद्घाटित हो उठेगा।

'दिव्या' की ऐतिहासिक कल्पना केवल कल्पना की सौन्दर्य-सत्ता की विवृत्ति नहीं है, उसका अपना उद्देश्य है। इस रचना के माध्यम से लेखक जीवन के एक तथ्य एवं दर्शन को सामने लाना चाहता है। वह चाहता है कि उपन्यास की कथा-धारा को इस क्रम से प्रवाहित करे कि 'व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र' अंकित हो उठे। यों तो 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' ही व्यक्तिमूलक अहंवाद को परितुष्ट करता है फिर भी वह अपने को स्थायी स्वरूप प्रदान करने के अभिप्राय से अथवा अपने मंगल के संघटन की दृष्टि से कुछ विश्वासपरक विधानों एवं बन्धनों को स्वीकार कर लेता है। यह उसकी प्रवृत्ति है। बात यहीं समाप्त हो जाय ऐसा नहीं प्रतीत होता। अपने लिए बन्धनों का विधान यदि उसे प्रिय है तो अपनी उस प्रिय निर्मिति का समूल उच्छेदन भी उसकी उतनी ही प्रबल प्रवृत्ति है। बनाने में कर्तापन का अहं उसे सन्तोष देता है और बिगाड़ने में अथवा पराजित करने में भी उसे अहं की शक्ति का बोध होता है। इसी प्रवृत्ति-वैचित्र्य का काव्यात्मक कथन 'दिव्या' का प्रतिपाद्य है।

'दिव्या' व्यक्तिमूलक अहंवाद का प्रतीक है। उसने आद्यंत अपने व्यक्तित्व से प्रेम किया है। उसकी विविध प्रवृत्तियों एवं प्रगतियों का साथ दिया है। विचार ऊहापोह और दृढ़तापूर्वक जीवन की पिच्छल भूमि पर उसने पैर बढ़ाए हैं। अपनी साधना में रस का अनुभव किया है उसके जीवन की गति कभी सम नहीं रही है। वह नीचे-ऊँचे सभी ओर स्थिर होकर चढ़ी है, गिरी है। उत्कर्षापकर्ष के अनेक रूप उसके सम्मुख उपस्थित हुए हैं।

कहीं व्यक्ति और समाज ने उसकी उपासना और आराधना की है, प्रशंसा और स्तुति की है, उसे कला की अधिष्ठात्री देवी माना है, और कहीं उसे निरादृत, उपेक्षित और त्याज्य मान लिया है, उसकी कदर्थना, उपहास और व्यंग किया है, दर-दर की ठोकरें खिलाकर अपमानित और लांछित किया है। पृथुसेन ने अपने ढंग से और रुद्र-धीर ने अपने ढंग से उसे प्रताड़ित और विक्षुब्ध किया है। वह धीर अभिमान-भरी नारी सब प्रकार के घात-प्रतिघातों, संघर्षों और कुरूप विषमताओं का सामना करती हुई अपने गन्तव्य मार्ग पर अडिग चलती गई है। उसके जीवन की धारा सुख-दुःख, चिन्ता उद्वेग और आत्म-ग्लानि की लम्बी और करुण कहानी बन गई हैं।

पर जीवन के नानात्व के अन्तराल में से चलकर जो दिव्या का व्यक्तित्व गठित हुआ है वही रचना में अध्ययन का विषय है, उसीमें जीवन का निखार उभरा है, और वही लेखक की सच्ची कला-कृति है। संक्षेप में उसकी यातना की कहानी इतनी ही है—उच्च सामंत वंश के प्रासाद में उसका समस्त आभिजात्य संगठित हुआ, यौवनोत्कर्ष वेला में कला-कौशल ने उसमें चार चाँद लगा दिए। मद्र राज्य और सागल नगरी की आराधना का वह अप्रतिम विषय बन गई। राजकीय और सामाजिक सम्मान से आपूर्ण अपने नारीत्व को उसने सहज विश्वास के साथ पृथुसेन को अर्पित कर दिया। यहीं से व्यक्ति और समाज ने उसका विरोध आरम्भ किया। पृथुसेन प्रवञ्चक प्रमाणित हुआ। इस पर कुलाचार ने दिव्या को लांछित और परित्याज्य घोषित किया। फिर तो विषम धाराओं में वह बह निकली। प्रौढ़ श्रेष्ठी प्रतूल ने बेटी संबोधन करके भी उससे निर्दयता का ही व्यवहार किया। मथुरा के दास व्यापारी भूधर ने दारा नाम धारिणी दिव्या को प्रतूल से खरीदा और पुनः पुरोहित चक्रधर के हाथों बेच दिया। वह चक्रधर के यहाँ जाकर अपार यातनाओं में पड़ी। इस प्रकार समाज और व्यक्तियों की अमानवीय क्रूरताओं के दुर्दान्त थपेड़ों को सहन करते-करते वह कातर हो उठी; पर लड़ाई उसकी गतिशील रही। अपनी और अपने नवजात शिशु शाकल की प्राण-रक्षा के अभिप्राय से वह गई बुद्ध की शरण, धर्म की शरण, संघ की शरण में। नाना प्रकार के अनुनय-विनय और तर्क-वितर्क करने पर भी उसे वहाँ प्रवेश नहीं मिल सका। सब प्रकार से अपने को दीन-हीन, असहाय और प्रवंचित पाकर उस समय उसके जड़ मस्तिष्क में केवल एक ही बात स्पष्ट थी—वेश्या स्वतन्त्र नारी है, परतन्त्र होने के कारण उसके लिए कहीं शरण और स्थान नहीं—इसलिए वह वेश्या बनेगी।

इनके उपरान्त तो फिर दिव्या शूरसेन प्रदेश की जनपद कल्याणी, राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा का प्रश्रय प्राप्त कर लेती है और तब उस कलावती की जीवन-धारा कुछ समगति से प्रवाहित होती है। दारा का नाम अंशुमाला हो जाता है और वह श्रेष्ठी, युवक सामंतगण और राजपुरुषों के प्रेम और अभ्यर्थना का विषय बन जाती है। विलास-वैभव से आपूरित उसका अपना व्यक्तित्व-ऐश्वर्य सिद्ध दिखाई पड़ने लगता है। रुद्रधीर और मूर्तिकार चार-वाक-मारिश जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति उसकी ओर आकृष्ट होने लगते हैं और अपने-अपने अनु-रूप प्रणय-निवेदन उपस्थित करते हैं। इस प्रकार समस्त प्रतिष्ठित समाज की उपासना पाकर भी दिव्या में आरम्भ का आन्तरिक उल्लास मुखरित न हो सका। वह अपने प्रति सर्वथा निरपेक्ष ही बनी रही। उत्कर्षापकर्ष की उन कठोर भूमिकाओं की यथार्थ वस्तु-स्थितियों को

वह न भूल सकी जिनके भीतर से चलकर जीवन की दारुण विभीषिकाओं का वह सामना कर चुकी थी। ग्रीष्म की प्रतप्त आतप-रश्मियों की वह प्रचण्ड तीव्रता आज भी उसके अन्तःकरण में घर किये थी जिसमें स्तनों को पीठ-पीछे बाँधे वस्त्र के एक टुकड़े और कटि पर बँधे अन्तर्वासक के अतिरिक्त उसके शरीर पर अन्य वस्त्र न था और वह अपने शाकुल को अंक में दबाए कहीं शरण पाने के लिए मारी-मारी फिर चुकी थी। यहाँ तक आते-आते कठोर अनुभूतियों की नग्न वास्तविकता उसके जीवन की समस्त रस-सरिता को सुखा चुकी थी और वह पद्मपत्रमिवांभसि बाह्य ऐश्वर्य-सज्जा से पूर्ण होकर भी भीतर अत्यन्त विरक्त भाव धारण किये रहती थी।

एक बार पुनः परिस्थितियों ने करवट ली और वह मल्लिका की उत्तराधिकारिणी—जनपद कल्याणी—वेश्या बनने के लिए सागल नागरी में अवतीर्ण हुई—अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ; परन्तु यहाँ आकर पुनः सामाजिक मान्यताओं ने उसे बन्धन में डाल दिया। मद्र के समस्त जन-समूह ने, सामन्त-वर्ग ने और अभिजात समाज ने एक स्वर से ललकार दिया—मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठकर जन के लिए भोग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती। धर्म-व्यवस्थापक, नीतिविद्, महापण्डित, महाचार्य रुद्रधीर ने भी अपनी व्यवस्था का उद्घोष कर दिया कि वर्णाश्रम की व्याख्या त्रिकाल के लिए सत्य है। इस आर्य सत्य के सम्मुख दिव्या ने सिर झुका लिया और वह निभृत एकान्त में बैठकर अपनी भाग्य-लेखा का रूप समझने के लिए आकुल हो उठी। एक बार फिर समाज से बहिष्कृत होकर वह अपने अदृष्ट को स्थिर रूप देने की चिन्ता में आ पड़ी।

अपने कण्टकित जीवन का इतना मार्ग तय करते-करते उसमें एक अपना सुदृढ़ व्यक्तित्व स्फुटित हो गया है। सार-सर्वस्व रूप में उसके भीतर सुस्थिर भावनाएँ, विचार और कर्तृत्व भर चुका है। अब वह इस स्थिति में आ चुकी है कि पूर्व की सभी अपनी समस्याओं का यथोचित उत्तर और समाधान प्रस्तुत कर सके। अपने सभी प्रताड़कों—व्यक्ति, समाज, धर्म आदि को दो टूक खरा-सा जवाब वह दे सके—ऐसी क्षमता उसके चरित्र में उत्पन्न हो गई है। उपन्यास के अन्त में विषय का जैसा समाहार लेखक ने किया है उसमें दिव्या का यही रूप उभरा है। उसके भीतर नारी का कठोर बुद्धिवादी स्वरूप निखर उठा है और उसकी निर्णयात्मिका शक्ति गम्भीर और अडिग हो गई है। उपन्यास का अन्तिम दृश्य पान्थशाला में उद्घाटित होता है। वस्तुतः इस कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दृश्य यही है। यह उपन्यास का मस्तिष्क है। इसे प्राक्कथन में उपस्थित की गई स्थापना का उत्तर पक्ष मानना चाहिए।

× × × ×

चारों दीपदण्डधारी कक्ष के चारों कोनों में खड़े हो गए। अँधियारा कक्ष प्रकाश से जगमगा उठा। दिव्या अप्सरा के वेश में भित्ति का सहारा लिये हुए भूमि पर बैठी थी। मस्तक उठाकर उसने आगन्तुकों की ओर देखा। वह निश्चल बैठी रही। द्वार से झाँकने वाला जन-समूह विस्मय में मौन था।

स्थिर नेत्र उठाकर दिव्या ने आचार्य से प्रश्न किया—'इस प्रताड़िता के लिए अब क्या आज्ञा है?'

भूमि पर बैठी हुई दिव्या के सम्मुख कंचुकी द्वारा बिछाया आसन ग्रहण करके आचार्य बोले—'देवी, तुम्हारा स्थान नर्तकी वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुल-कन्या हो। तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुल माता के आसन पर है। आचार्य रुद्रधीर देवी को आचार्य-कुल की महादेवी के आसन पर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित हैं। देवी, अपना आसन स्वीकार करके आचार्य को कृतार्थ करो!'

निष्पलक दृष्टि आचार्य के मुख पर स्थिर किये दिव्या ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—'आचार्य, कुलवधू का आसन, कुलमाता का आसन, कुलमहादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख आदर से मस्तक झुकाती है परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुलमहादेवी निरादृत वेश्या के समान स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर नहीं हैं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय-मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य, अपनी इच्छा से अपने स्वत्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगा? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्म-निर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।'

आचार्य अपनी असीम क्षमता को असमर्थ अनुभव करके दिव्या की कठिन मूर्ति की ओर विवश दृष्टि किये बैठे रहे।

× × × ×

दिव्या के जीवन को आमन्त्रणपूर्ण प्रभाव से आन्दोलित करने वालों में एक रुद्रधीर भी थे। तत्कालीन सांस्कृतिक संगठन के अनुसार सर्वोत्तम आभिजात्य के श्रेष्ठ अधिष्ठान रुद्रधीर थे। आभिजात्य-प्रेम दिव्या के जीवन को पतनोन्मुख बनाने का प्रधान कारण था। कुलगृह के विच्छेद से ही सूखे पत्ते की भाँति उसे जीवन में इधर-से-उधर उड़ते रहना पड़ा था। व्यक्ति स्वातन्त्र्य को मूलतः उच्छिन्न कर देने वाला यह अमानवीय पाषण्डवाद पूर्ण-तया अहंवादिता का समर्थक था और व्यक्तिमूलक नारी के स्वत्व-सम्मान को स्वीकार नहीं करता था। अतएव अहं-प्रबुद्धा और स्वत्वाभिलाषिणी नारी की प्रतिहिंसा का लक्ष्य था। जीवन के कठोर और अनुमानित सत्य पर आश्रित दिव्या का व्यवहार-दर्शन पुरुष के इस कोटि के एकाधिकार को स्वीकार नहीं कर सका। इस उपन्यास में स्वत्व और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की लिप्सा से अभिभूत नारी की प्रतिहिंसात्मक भावना का प्रतीक दिव्या है। अहं का पूर्ण आभोग ही उसके जीवन का इष्ट बन गया है। यही कारण है कि आभिजात्य भावापन्न रुद्रधीर के पाषाण मुख पर उसने इतनी कड़ी चोट की है। प्रतिशोध ने उसे प्रेरित किया कि वह भले ही नर्तकी वेश्या न बनने पावे, पर कुलाचार और रूढ़-परम्परा की बर्बरता के प्रतीक आचार्य की भोग्या बनना भी उसे स्वीकार नहीं।

× × × ×

उस समय आचार्य के आसन के समीप आकर भिक्षु ने पुकारा—'आर्ये, मैं तथागत का सेवक भिक्षु पृथुसेन समाज से प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में ग्रहण करने के लिए उपस्थित हूँ।'

दीपदण्डों के प्रकाश में सम्मुख खड़े काषाय-चीवरधारी भिक्षु का स्वर सुनकर और परिचय पाकर दिव्या के नेत्र फैल गए। एक कम्पन-सा उसके शरीर पर हुआ। एक गहरे श्वास से उसका वक्ष उठा और वह भिक्षु की ओर दृष्टि लगाए फिर निश्चल हो गई।

आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठाकर भिक्षु पृथुसेन बोला—'देवी, तथागत की कृपा से तुमने आसक्ति और मोह के भ्रम को जानने का अवसर पाया है। देवी, शान्ति वैभव में नहीं, शान्ति प्रभुता में नहीं, शान्ति तृप्ति में नहीं। देवी, चिरन्तन सुख केवल निर्वाण में है। देवी, संसार का कोई दुःख निर्वाण के आनन्द को क्षुब्ध नहीं कर सकता। देवी, संसार के पीड़ित समाज से प्रताड़ित बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शान्ति पाते हैं। देवी, उस अपार करुणा की शरण ग्रहण करो।'

क्षण-भर के लिए मौन दिव्या की दृष्टि धुँधली हो गई। दीपदण्ड से प्रकाशित कक्ष में अधिकार और शक्ति की प्रतिमा महामात्य रुद्रधीर और काषाय-चीवरधारी भिक्षु उसकी दृष्टि से लुप्त होकर मथुरापुरी के महाबोधि विहार के मुँदे पटों के सम्मुख वृक्ष के नीचे, सन्तान गोद में लिये अशरण, आर्तनारी भगवान् बुद्ध, धर्म और संघ से शरण की भिक्षा माँगती दिखाई देने लगी।

दिव्या के नेत्र पुनः दीप्त हो गए। काँपते स्वर में दिव्या ने प्रश्न किया—'भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?'

भिक्षु ने धीरे स्वर में उत्तर दिया—'देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।'

'भन्ते, अपने निर्वाण-धर्म का पालन करें—' दिव्या ने मन्द परन्तु दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, 'नारी का धर्म निर्वाण नहीं सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।'

दिव्या के जीवन में पृथुसेन धूमकेतु की तरह अवतरित हुआ है। दिव्या की समस्त कटु अनुभूतियों का मूल कारण वही है। उसकी प्रवंचना ने दिव्या को कहीं का न रहने दिया, इसी के फेर में पड़कर उसको कौटुम्बिक निष्कासन का सामना करना पड़ा है और उसीके पाप से उसका सारा जीवन अभिशप्त हो उठा है। पृथुसेन परिस्थितियों का दास बनकर सीरो के अन्धकार में ऐसा पड़ा कि दिव्या को सामाजिक हीनताओं और अपकर्षों में धँसना पड़ा है। उसका सारा भविष्य मानसिक और शारीरिक व्यथाओं का पुञ्जीभूत रूप बन गया है। उसका कौमार्य भ्रष्ट हुआ, मातृत्व संकट में पड़ा और सम्पूर्ण आभिजात्य भयंकर प्रवंचना में पड़कर कलंकित हुआ है। नारी-गरिमा का दारुण पतन पृथुसेन ने किया है। यही कारण है कि उसके प्रति दिव्या के हृदय में निर्मम पीड़ा ने घर कर लिया है और वह उसके हाथ से वरदान, शान्ति, निर्वाण और अमृत भी नहीं ग्रहण कर सकती।

इसके अतिरिक्त संघनियमों की अमानवीय व्यावहारिकता का नितान्त गलित रूप भी वह देख चुकी है। उसमें न तो उसे कोई सौन्दर्य दिखाई पड़ा है और न मंगल का कोई दिव्य विधान। अतृप्त वासनाओं और कलुषित चारित्र्य के प्रतीक पृथुसेन जीवन की असफलताओं की करुण कहानी पृथुसेन को धर्म के पाखण्डवाद का समर्थक होते देखकर उसके प्रति दिव्या की भावनाएँ तिक्त और क्षुब्ध हो उठती हैं। जीवन की चतुर्दिक् असफलता से विक्षुब्ध होकर पलायनवाद के रूप में पृथुसेन ने प्रव्रज्या ग्रहण की है। इस सत्य से दिव्या

पूर्णतया परिचित है। इसीलिए उसे धर्म के नाम पर करुणापूरित होते पाकर दिव्या उसके प्रति तिरस्कार, व्यथा, प्रतिहिंसा से कठोर बन उठी है। उसे न तो प्रवंचक पृथुसेन में कोई आकर्षण रह गया है न घटाटोप पाखण्डी धर्म संघ में कोई श्रद्धा दिखाई पड़ती है।

× × × ×

(अवसर पाकर पूर्व देश से आए पथिक ने भिक्षु के समीप आकर पुकारा 'मैं मारिश, देवी के सामीप्य के लिए ही मथुरापुरी से सागल आया हूँ।'

दीपदण्ड के प्रकाश में दिव्या के नेत्र पुनः विस्मय और जिज्ञासा से फैलकर चमक उठे। धूलि-धूसरित पथिक बोला—'मारिश देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख-दुःख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी के साथ कर सकता है। वह संसार के धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है। सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।'

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिए। उसका स्वर आर्द्र हो गया—'आश्रय दो आर्य।')

प्रत्यक्ष एवं व्यवहार-सिद्धि पर पूर्ण आस्था रखने वाले मारिश ने दिव्या को ठीक से समझा है। उस नारी की आन्तरिक कुण्ठा और बुभुक्षा का यथार्थ रूप उसकी समझ में आ गया है। राज-प्रासाद की महादेवी-भावना से प्रवंचित और आभिजात्य की यथार्थ अमानवता से पूर्ण परिचित दिव्या इन रंगीनियों और प्रलोभनों से कदापि नहीं जीती जा सकती। इन दोनों के भीतर अपने-अपने ढंग की जो कुरूपताएँ हैं, इसका ज्ञान वह कर चुकी है। महादेवी-भावना के भीतर उसे व्यक्ति की रूढ़ और विकृत सत्ता का रूप दिखाई पड़ता है। महादेवीत्व प्रदान करने वाला व्यक्ति उस पद-मर्यादा को स्वीकृति प्रदान करके अपने को दाता और अनुग्रह करने वाला मानता है। इसमें स्त्री-गरिमा का अपहरण समझती है दिव्या, आदान-प्रदान के समत्व और संतुलन का इसमें अभाव पाती है, इसे वह स्त्री के स्वत्वमूलक अहंवाद का सर्वनाश मानती है। इसलिए इसे सर्वथा अग्राह्य घोषित करती है। इसके अतिरिक्त आभिजात्य का व्यामोह कितना अनर्थकारी है इसका ज्वलन्त स्वरूप उसका अपना जीवन स्वयं है। इतना नाच नचाकर अथवा काँटों पर दौड़ाकर यदि अन्त में वही अभिजात्य उस पर अनुग्रह-जल का अभिसिंचन करना चाहे तो उसे उपेक्षा और तिरस्कार से विलुण्ठित करना ही दिव्या का लक्ष्य है। यदि आभिजात्य किसी अभिजात के अपकर्ष का कारण बनता है, उसकी हत्या में योग देता है तो वह उसका शत्रु है—उसकी आराधना का विषय नहीं हो सकता। दिव्या ने रुद्रधीर के प्रस्ताव को ठुकराकर शत्रु के समस्त शौर्य को विगलित कर दिया है। उसकी क्रान्ति के आलम्बन यही दोनों शत्रु हैं, इसीलिए उन पर इतना निर्मम प्रहार उसने किया है। उसके इस मर्म को मारिश ने समझ लिया है।

मारिश ने यह भी देखा कि दिव्या संघ-जीवन की ओर आकृष्ट नहीं है। निर्वाण में

उसकी कोई आस्था नहीं है। जिस प्रकार के जीवन एवं दर्शन का भिक्षु पृथुसेन प्रलोभन दे रहा था उस ओर उसकी अभिरुचि नहीं। एक ओर सृष्टि और उत्पादन की ओर प्रवृत्ति रखने वाली नारी का स्थान संघ में सम्भव नहीं, दूसरी ओर धर्म-निर्वाण को वह अपने लिए ग्राह्य नहीं मान सकती। ऐसी स्थिति में ऊर्जस्वित और सत्यानुशील नारी की भाँति उसने पृथुसेन के आमन्त्रण एवं प्रस्ताव को ठुकरा दिया है। इस कठोर उपेक्षा और अश्रद्धा को उद्दीप्त किया है संघ की कुरूप स्मृति ने जो उसके भीतर जग उठी। भिक्षु के स्वरूप में उसके अन्तस्थ की सारी कड़ुआहट प्रतिबिम्बित हो गई। इसके अतिरिक्त एक और प्रबल कारण उपस्थित है इस निमन्त्रण का दाता वही पुरुष है, जिसके फेर में पड़कर उसका जीवन इतना विप्लवकारी बन गया। उस व्यक्ति के प्रति उसके भीतर घृणा-भाव घर कर गया है। चरित्र से दरिद्र और परिस्थितियों के दास पृथुसेन में ऐसा कुछ है ही नहीं जिसमें वह कुछ विश्वास नियोजित कर सके। शुद्ध अन्तःकरण से उसके ऐसा जीव कभी धर्म की ऊँची भूमिका पर पहुँच सकता है इसका विश्वास वह कैसे कर सकती है। अतएव उसके स्वागत-जाल में वह कदापि फँसना नहीं चाह रही है--इस बात को भी मारिश-जैसे व्यवहारवादी दार्शनिक ने परख लिया है। स्थिति की इसी वास्तविकता ने मारिश को प्रेरित किया है कि वह अपने सच्चे रूप को सामने रखे और यथार्थ की ओर दिव्या को उन्मुख करे।

समस्त वस्तुस्थिति का आकलन करते हुए मारिश ने अपना आमन्त्रण उपस्थित किया है। अपने पक्ष का निवेदन करने के पूर्व उसने उन प्रलोभनों का तिरस्कार किया है, जिनसे दिव्या प्रवंचित हो चुकी है। और जिनके प्रति उसके मन में नगण्यता-विधायक विरक्ति पूर्णतया उद्दीप्त हो चुकी है। ऐसा करके मारिश ने दिव्या की आन्तरिक सहानुभूति प्राप्त कर ली और उसके आगे के अनुकूल निश्चय के लिए भूमिका प्रस्तुत कर दी।

इसके अतिरिक्त भौतिक ऐश्वर्य-विभव की नगण्यता अथवा उपेक्षा का संकेत देते हुए उसने स्वीकार किया है कि 'वह धूलि-धूसरित मार्ग का पथिक है' और दिव्या को किसी रंगीन दुनिया में ले जाकर नहीं स्थापित कर सकता। उसी सामान्य जीवन को यदि दिव्या अपना समस्त नारीत्व अर्पित कर सके तो वह भी अपने पुरुषत्व का समर्पण कर सकता है। इस प्रकार लेन-देन को, आश्रय के आदान-प्रदान को वह अपने जीवन की आधारशिला बना सकता है। इस क्षण-भंगुर जीवन में अनुभूतिजन्य सन्तोष के भव्य प्रासाद की स्थापना वह ऐसी ही शिला पर करना चाहता है। इस प्रासाद की अधिष्ठात्री देवी के रूप में यदि दिव्या अवतरित होना चाहे तो वह संवेदनापूर्ण सन्तोष उत्पन्न करने में योग दे सकता है।

अन्त में यदि इस उपन्यास का सार-संग्रह किया जाय तो कहना होगा कि इसकी मूलवृत्ति समस्या-प्रधान है और समस्या सम्बद्ध है दिव्या के जीवन से। व्यक्ति, परिवार, धर्म और समाज के प्रति चिरन्तन नारी का व्यक्तिमूलक अहं पूर्णतया प्रबुद्ध होकर क्रान्ति के रूप में विवृत हुआ है—इस उपन्यास में। अन्याय, प्रतारणा और उत्पीड़न को चुनौती देने के लिए, वर्गवादी समाज की अहंमन्यता के मुँह पर थप्पड़ मारने के लिए दिव्या के रूप में नारी का शाश्वत और स्वतन्त्र व्यक्तित्व खड़ा किया गया है। जीवन में आदर्श की पराजय और व्यावहारिक दृष्टिकोण अथवा भौतिक दर्शन की विजय ही इस उपन्यास का साध्य पक्ष कहा जा सकता है।

बालकृष्ण राव

राष्ट्र-निर्माण और लेखक

इससे पहले कि हम इस विषय पर सोचना शुरू करें कि राष्ट्र-निर्माण के विराट् अभियान में आज के लेखक का क्या स्थान है, यह आवश्यक है कि हम यह भली भाँति समझ लें कि इस समस्त पद, 'राष्ट्र-निर्माण' का प्रयोग हम किस अर्थ में कर रहे हैं। बिना इस शब्द का अर्थ निश्चित किये कुछ भी कहना सार्थक न होगा।

साधारणतया 'राष्ट्र-निर्माण' कहने से पंचवर्षीय योजनाओं का बोध होता है। कुछ उसी तरह जैसे 'विद्योपार्जन' कहने से स्कूल जाने का। पर स्कूल जाना विद्योपार्जन नहीं है, विद्योपार्जन की एक विधि-मात्र है। उसी तरह पंचवर्षीय योजनाओं की परिकल्पना और उनका परिचलन राष्ट्र-निर्माण की एक विधि-मात्र है। जिस व्यापक और गम्भीर अर्थ में साहित्यकार इस शब्द का प्रयोग करता है वह पंचवर्षीय योजनाओं में प्रतिबिम्बित भले ही हो, उन्हीं तक सीमित नहीं रह जाता। सत्य तो यह है कि साहित्यकार की दृष्टि 'राष्ट्र' से बृहत्तर मानव-समाज को सहज ही अपनी गोचरभूमि बना लेती है। राष्ट्र की चेतना बहुत दूर तक उसे प्रेरणा नहीं दे पाती। वह उन उदात्त क्षणों में, जिनमें उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि हो सकती है, देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर जाता है, स्वयं अपने से बड़ा हो जाता है। वह जिन सीमाओं से, जिन स्तरों से ऊपर उठ जाता है उन्हें क्षुद्र मानकर आगे नहीं बढ़ता, उन्हें अनिवार्य, आवश्यक, सत्य मानता हुआ, उनके प्रति सच्चा रहता हुआ, सहज गति से बढ़ता है। वर्ड्स्वर्थ ने यह बात यों कही थी :

"अपने आदर्श, कल्पना, चिन्तन के स्वर्ग और पैरों के नीचे पड़ी घर की ज़मीन, दोनों के प्रति समान रूप से सच्चा रह सकना ही साहित्यकार की चरम सफलता है।"

हम यहाँ आदर्श, कल्पना, चिन्तन के स्वर्ग की नहीं, भूमि की ही बात करने जा रहे हैं—और सो भी उस छोटे-से भूखण्ड की; जिसे वह अपना देश और जिसकी सीमाओं के भीतर रहने वाले मानव-समूह को अपना राष्ट्र मानता है। उसकी दृष्टि इन सीमाओं के भीतर ही नहीं रह जाती। सम्भव है कि वह राष्ट्र की चेतना को मनुष्य के विकास के मार्ग पर गड़ा एक मील का पत्थर-मात्र मानता हो, उसका वह विश्वास हो कि आगे चलकर हम राष्ट्र-भावना को उसी तरह पुरानी, सड़ी-गली, त्याज्य मानने लगेंगे जैसे आज जात-पाँत, छुआ-छूत, आर्य-अनार्य के भेद-भावों को मानने लगे हैं। यह सम्भव ही नहीं, अनिवार्य है कि हम विकास के क्रम को इन स्थूल सीमाओं पर सदा के लिए रुका हुआ न देखना चाहें, न देख सकें। पर यदि वह सच्चा साहित्यकार है, दोनों ही उसके लिए सत्य होंगे—आदर्श भी और यथार्थ भी। देश और काल की सीमाओं से आगे जा सकना एक बात है, ठोस भूमि पर

पैर जमा न पाना दूसरी। भूमि को नीचे छोड़कर आकाश में उड़ सकना भूमिवासी के लिए वरदान होगा, पर भूमि पर लौट न पाना अभिशाप हो जायगा। सच्चा साहित्यकार अपने आदर्श के आकाश में मनचाहा विचरण करने की शक्ति पाने और पाकर उसे सुरक्षित रखने के लिए न ठोस भूमि पर लौटने का अपना सहज अधिकार ही गँवा बैठता है, न प्रवृत्ति ही।

जब राष्ट्र-भावना उतनी पुरानी और निर्जीव हो जायगी जितनी पुरानी और निर्जीव आज हमें जात-पाँत की भावना दिखाई देती है, तब की तब देखी जायगी; पर इस समय न वह पुरानी है, न निर्जीव। कोई उससे बहुत अधिक प्रभावित है, कोई बहुत कम; पर इससे कोई शायद ही इन्कार करे कि उसके मन में किसी-न-किसी प्रकार या किसी-न-किसी रूप में राष्ट्र-चेतना का संस्पर्श होता ही है। यथार्थ को देखने और समझने वाला साहित्यकार यथार्थ के बहिरंग को जानकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह यथार्थ के अन्तस् से भी परिचित होता है, उसकी अन्तर्निहित प्रगतिशीलता को पहचानता है। आज के मनुष्य के लिए राष्ट्र-चेतना उतना ही बड़ा सत्य है जितना पारिवारिक सम्बन्धों में माँ-बेटे और भाई-भाई के बीच निकटता का भाव। हमारे मन में राष्ट्र-चेतना उतनी सबल न हो, जितनी हमारे विचार में औरों के मन में है; पर हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि हम जिस समाज के सदस्य हैं उसके अन्य सदस्यों के मन राष्ट्र की भावना से सहज ही प्रभावित हो जाते हैं, राष्ट्र-निर्माण, राष्ट्रोन्नयन की आकांक्षा उनमें से बहुतों के मन में उठा करती है। हम अपने समाज के गुणों और दोषों से परिचित न हों, यह सम्भव नहीं है; पर यदि हम सच्चे अर्थों में साहित्यकार हैं तो केवल गुण-दोषों से ही नहीं—जिनसे विदेशी पर्यटक भी बहुत-कुछ परिचित हो जाते हैं—समाज के मन और प्रवृत्तियों से भी हमारा गहरा परिचय हो जाता है। हम यह भली भाँति जानते हैं कि हमारे समाज की सामूहिक चिन्ता-धारा किस ओर, किस गति से बह रही है। हम यह पढ़-सीखकर नहीं, अपने समाज और अपने परिवेश से तादात्म्य स्थापित करके जान लेते हैं—और अपने समाज और परिवेश से तादात्म्य स्थापित करना साहित्य-सर्जना की प्रक्रिया का ही एक अनिवार्य अंग है।

इस प्रकार समाज के अन्तर्मन से अपना तादात्म्य स्थापित करके हम अपनी आत्मिक विशिष्टता गँवा नहीं देते, समाज बलिदान की वेदी नहीं है, न साहित्यकार का व्यक्तित्व ही बलिदान का बकरा है। सर्वाधिकारवादी समाज-व्यवस्था में बलिदान की वेदी और बलि-पशु की समस्या भले ही खड़ी हो जाय, सामान्य, स्वाभाविक रूप से नियोजित समाज में यह स्थिति नहीं होती—न उस समाज की वह स्थिति है जिसके हम सदस्य हैं। हमारी बुद्धि, वाणी, लेखनी, किसी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं। समाज के जिन सदस्यों के हाथ में शासन का भार है वे चाहते हैं हम उनके द्वारा बनाई हुई राष्ट्र-निर्माण की योजनाओं को सफल बनाने में अपना योग दें। इस आशय से वे हमें प्रेरणा देने की चेष्टा करते हैं। पर वे, भाग्यवश इस स्थिति में नहीं हैं कि हमें अपनी योजनाओं की सफलता के निमित्त कुछ कहने या लिखने के लिए विवश कर सकें। यदि हम उन योजनाओं की भर्त्सना करना चाहते हैं तो कर सकते हैं, स्तुति करना चाहें तो भी कर सकते हैं—और यदि सर्वथा उदासीन रहना चाहते हैं तो भी हमें कोई टोकने वाला नहीं है। इस परिस्थिति में यदि हम, विश्वास और अन्तःप्रेरणा के कारण अथवा

शासक को प्रसन्न करके आर्थिक लाभ उठाने के लोभ से या केवल 'फैशन' के साथ चलने की इच्छा से, किसी निर्माण-योजना-विशेष के प्रति अपने भावकों को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ लिखते हैं, तो यह हमारी अपनी मर्जी; नहीं लिखते हैं तो हमारी मर्जी। इस स्थिति में भी हम यह कहकर अपने मन में उठती शंकाओं को दबाना चाहते हैं कि "हम क्या करें! जी तो नहीं चाहता था कि उस योजना पर प्रबन्ध-काव्य लिखें, प्रेरणा ही नहीं थी, पर आमदनी का कोई जरिया तो बाल-बच्चे वाले को चाहिए ही। क्या करता? लिखकर दे दिया, रुपये मिल गए तो घर का काम चला।" जो ऐसे स्पष्ट वक्ता नहीं हैं वे सरकारी नौकरी करने और निर्माण-योजनाओं के लिए प्रचार करने के कार्यों को देश-सेवा और राष्ट्र-निर्माण की भावना को लाभ देकर अपने शंकाकुल मन को आश्वस्त करने की चेष्टा करते हैं। साथ ही वे यह भी मानना—या यों कहें कि मनवाना चाहते हैं कि इस प्रचार-कार्य से श्रेष्ठतर साहित्य-साधना हो ही नहीं सकती। रीति-काल के कवि ने कहा था, "आगे के सुकवि मानिहैं तौ कविताई, न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन कौ वहानो है"—बाँध-निर्माण पर प्रबन्ध-काव्य लिखकर पारितोषिक पाने वाला कवि अपने पूर्ववर्ती के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकता है, "आगे के सुकवि मानिहैं तौ कविताई, न तो लोक-सेवकाई करिबे कौ वहानो है।" इन लेखकों के मन में इस प्रकार के बहाने बनाने की इच्छा इसीलिए तो उठती है कि इनमें अभाव है। यदि प्रधान उद्देश्य नौकरी करना या पारितोषिक पाने की कोशिश करना कोई चोरी-डकैती तो नहीं, जो छिपाने की आवश्यकता हो।

हमारे यहाँ ही नहीं और भी अनेक देशों में साहित्यकार और पत्रकार में यह अन्तर माना जाता रहा है कि जहाँ साहित्यकार शाश्वत मूल्यों का अन्वेषण करता है वहाँ पत्रकार तात्कालिक मूल्यों का; साहित्यकार किन विषयों को अपने चिन्तन की परिधि से बाहर रखता है, किन्हें उसके भीतर ले लेता है, यह सब उसकी दुनिया की बातें हैं—समाज जिन समस्याओं से उलझता रहता है वे समस्याएँ साहित्यकार के चिन्तन की नहीं, पत्रकार के लिए उपयुक्त हैं। हम इसके भी आदी रहे हैं, और अब तक हैं, कि शाश्वत मूल्यों के अन्वेषी को उससे अधिक आदर के योग्य मानें जो केवल इस समय के जीते-जलते प्रश्नों के उत्तर खोज रहा है। अतः यह बहुत आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे अनेक भाई-बन्धु अपनी और औरों की आँखों के आगे नैतिकता, देश-भक्ति और लोक-कल्याण की भावना के चमकीले पर्दे गिराकर अपनी भूख और प्यास की नग्नता छिपाने की कोशिश करें—यद्यपि उन्हें प्रेरणा देने वाली शक्ति उनकी भूख थी, देश-भक्ति नहीं। साहित्यकार—अथवा कोई भी—कौन-सा कार्य किस उद्देश्य से, किस प्रेरणा के फलस्वरूप करता है, यह उसे शायद कभी पूरी तरह से मालूम नहीं हो पाता। उसके उपचेतन मन में अनेक अतृप्तियाँ और कुण्ठाएँ, नेपथ्य में बैठी, उसे अनेक दिशाओं की ओर बढ़ने, अनेक कार्य हाथ में लेने, अनेक लिये हुए काम अधूरे ही छोड़ देने की प्रेरणा दिया करती है। बहुधा इन अदृश्य शक्तियों से अपरिचित रहने के कारण ही हम अपने-आपको धोखा देने के लिए नहीं, सच्चे मन से ग़लत बात बता दिया करते हैं। निरुद्देश्य और स्वान्तः सुखाय साहित्य-रचना की बात करना, सच्चे मन से यह मानना कि हम "कला के लिए कला" का नारा नहीं लगाते, वास्तव में उस नारे को अपने धर्म का मूल मन्त्र बना चुके हैं, इसी तरह की एक भल हो सकती है। लोक-कल्याण की भावना से

प्रेरित होकर, देश-भक्ति के आवेश में आकर यदि कोई बेकार नौकरी कर लेता है, निर्धन धन कमाने लगता है, तो अधिक सम्भावना इसीकी है कि वह भी उसी तरह अपने को बहला रहा है जिस तरह उस शिव-भक्त ने अपने दिल को बहलाने की कोशिश की थी, जिसने कहा था "पूजा ते विषदोपभोगरचना, निद्रा समाधिस्थितिः--यद्यत्कर्मकरोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।"

यह प्रवञ्चना है—जान-बूझकर की गई प्रवञ्चना हो या अनजान में। हमारा उद्देश्य यदि रुपया कमाना-मात्र है तो भी हमें बिना किसी संकोच के यह मान लेना चाहिए—कम-से-कम एकान्त में अपने-आप से—कि हमारे बाढ़-पीड़ित जनता के दुःख से विचलित होने के कारण ही हमारा शोक श्लोक में नहीं बदल गया, हमने व्यावहारिक बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन किया है। निर्धन, बाल-बच्चेदार आदमी अगर चार पैसे कमाने के इरादे से प्रचार-विभाग में नौकरी कर लेता है तो उसे तो यह मानने में और भी कम संकोच होना चाहिए कि उसके नौकरी करने के निर्णय के पीछे सबसे प्रबल प्रेरणा कौन-सी थी। प्रत्येक निर्णय के पीछे केवल एक ही उद्देश्य प्रेरक के रूप में खड़ा हो, यह आवश्यक नहीं है। अनेक स्पष्ट, अर्द्ध-स्पष्ट, अस्पष्ट उद्देश्यों का संचित बल हमें प्रेरणा दे सकता है, देता रहता है। हमारा नैतिक कर्तव्य मात्र इतना ही है कि हम उनमें से जितनों को देख और पहचान सकते हैं उनके विषय में अपने-आपको भ्रान्ति में न रखें। दूसरा नैतिक दायित्व, अपने प्रति, हमारा यह है कि हम यह न समझते रहें कि मात्र इस कारण ही हम लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार हैं, हमारी धाक जमी हुई है, साहित्य के इतिहास में हमारा उल्लेख है और होता रहेगा, हम जो भी लिखें वह साहित्य की कृति हो जायगी। उसी शिव-भक्त ने, जिसने 'पूजा ते विषयोपभोग रचना' कहकर आशुतोष को सन्तुष्ट करने की और अपने शंकाकुल मन को मनाने की चेष्टा की थी, यह भी कहा था कि 'स्तोत्राणि सर्वा गिरा।' हम भी प्रचारार्थ 'बाँध बावनी' लिखकर यह विश्वास कर बैठते हैं कि हमारी रचना होने के कारण, क्योंकि हम लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार हैं, हमारी 'बाँध बावनी' साहित्य की श्रीवृद्धि करेगी। यह समझना कि एक बार में दो नहीं तीन शिकार मारने की सुविधा है—धर्म, पुण्य, यश; एक साथ तीनों कमाने की हमारी भूल है। प्रचार और पत्रकारिता साहित्य नहीं है, भले ही वे साहित्य से निम्न कोटि की साधनाएँ न हों।

प्रचार प्रचार है, साहित्य साहित्य—पर ऐसा भी अनेक बार हुआ है कि प्रचार-मात्र प्रचार ही नहीं रहा, साहित्य के स्तर तक उठ गया है। मिल्टन ने 'एइरोपैजिटिका' की रचना अपने देश और समय के लिए की थी। उसके सामने एक उद्देश्य था—प्रकाशन पर लगाये गए प्रतिबन्धों को हटाने के लिए शासक-वर्ग को राज़ी कराना। फिर भी उसकी कृति अंग्रेजी साहित्य की बहुमूल्य निधि बन गई। टालस्टाय और बर्नार्ड शॉ के नाम, सोद्देश्य, प्रचारार्थ रचना करने वाले श्रेष्ठ साहित्यकारों की नामावली में, सादर रखे जाते हैं। इन उदाहरणों से यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि प्रचारार्थ लिखी गई चीज़ अनिवार्य रूप से साहित्य के स्तर तक उठ ही जायगी; इनसे केवल यही प्रमाणित होता है कि प्रचार के उद्देश्य से लिखी हुई चीज़ भी साहित्य के ऊँचे-से-ऊँचे स्तर तक पहुँच सकती है।

साहित्यकार सब समय लेखक ही रहता है, पर लेखक सब समय साहित्यकार नहीं हो पाता। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का एक छोटा-सा लेख पिछले दिनों 'नई धारा' में

प्रकाशित हुआ है, जिसका पहला वाक्य है : 'साहित्य के क्षेत्र में सभी लेखक साहित्यकार का गौरव नहीं पा सकते।' मैं बख्शीजी से पूर्णतया सहमत होता यदि वे इतना और जोड़ देते कि 'साहित्यकार स्वयं हर समय साहित्यकार नहीं रहता।' उसके हाथों खोदा हुआ कुआँ, कुआँ ही होगा, काव्य न हो जायगा।

और माखनलाल जी के अग्रलेख पत्रकारिता के नमूने हैं, कविताएँ साहित्य की कृतियाँ हैं। बड़े-से-बड़े साहित्यकार का प्रचार-कार्य प्रचार कार्य ही रहेगा—'बाँध बावनी' केवल इस कारण साहित्य न हो जायगी कि उसका रचयिता एक आधुनिक भूषण है। इसमें शर्म भी नहीं, गर्व की बात है कि हम ऐसी चीज़ के लिए प्रचार-कार्य कर रहे हैं जिसमें हमारी आस्था है—उसे 'साहित्य' की संज्ञा दिये बिना बेचैन रहना यही तो दिखाता है कि हमारे अन्तर्मन में उसके प्रति इतनी आस्था, इतना आदर नहीं है जिसका हमने प्रचार किया, कि हम, सबके सामने या अकेले में अपने-आपसे, यह स्वीकार करें कि "हमने यह रचना प्रचारार्थ की है, वह साहित्य के स्तर की हो या न हो, हमें इसकी चिन्ता नहीं है। हम इस समय अपने समाज के लिए प्रचार-कार्य ही उचित और कल्याणकर मानते हैं। 'भूखे भजन न होहि गुपाला।' भूख मिटाना हमारा काम है; भजन हमारे बाद की पीढ़ियाँ गायँगी।" यदि लेखक की अन्तर्वाणी उसे 'बाँध बावनी' लिखने की प्रेरणा दे रही है तो वह 'बाँध-बावनी' की रचना अपना सहज कर्म मानकर करे—क्षण-भर को भी इसकी चिन्ता किये बिना कि यह प्रचार-कार्य माना जायगा, समाज में उसकी साहित्यिक प्रतिष्ठा घटेगी।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

: २ :

तो क्या हमारे समाज में लेखक का इतना ही दायित्व है कि वह अपना 'सहज कर्म' पहचाने और उसे करे? मैं निःसंकोच कहूँगा, "हाँ केवल इतना ही। आज भी यही उसका दायित्व है, कल भी यही था और भविष्य में भी यही रहेगा।" वर्ड्स्वर्थ ने कहा था—"उसके लिए यही सब-कुछ है कि वह अपनी स्थिति को स्वीकार करे, उसके प्रति सच्चा रहे। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'।"

फिर भी केवल इतना ही कहना काफ़ी नहीं है कि—क्योंकि इसका अर्थ यह लगा लिया जायगा कि साहित्यकार को देश-काल की सीमाओं के अस्तित्व को स्वीकार करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, पैरों के नीचे की भूमि और अपने चारों ओर के समाज के प्रति सच्चा होना तो दूर, उन्हें जानने की भी उसे कोई ज़रूरत नहीं है। एक समय था जब यही बहुतों की मान्यता थी, पर आज से बहुत पहले। आज हम विकास करते-करते जहाँ पहुँच गए हैं वहाँ यह मान्यता हमारे लिए निरर्थक है। हम व्यक्तित्व को एक विकसित पुष्प के रूप में समझने लगे हैं, जिस पुष्प के लिए वायु, सूर्य-रश्मि, टहनी, काँटे, जड़, उद्यान की भूमि, सभी का महत्त्व है, सभी उसके हैं और वह उनमें से प्रत्येक का है। पुष्प अनेक पंखुड़ियों के सह-अस्तित्व का परिणाम है, किसी एक के क्षत या अविकसित होने का दुष्प्रभाव उस पर पड़ता ही है। हम अनेक पंखुड़ियों के समानान्तर, जीवित चेतन पुष्प की तरह सामाजिक उद्यान में

विकसते-मुरझाते हैं—प्रत्येक पंखुड़ी हमारी अपनी है, किसी एक का क्षत या अविकसित होना हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में कमी लाता है। हम साहित्यकार हैं, मनुष्य हैं, एक समाज के सदस्य हैं, एक देश के नागरिक हैं। हमारे सारे खंडशः विभक्त व्यक्तित्वों का सहज समातार हमारा सम्पूर्ण, विकसित व्यक्तित्व है। हम किसी के भी प्रति उदासीन होकर अपनी सम्पूर्णता के आदर्श से गिरेंगे, हमारा विकास अपूर्ण रह जायगा। और पूर्णतया विकसित होना हमारा सहज कर्म है, हमारा जीवन के प्रति सबसे बड़ा दायित्व है।

हम अपने उन दायित्वों के प्रति, जिन्हें हम अपने नागरिक या सामाजिक दायित्व कहते हैं, उदासीन होकर अपने ही विकास को रोकते हैं, अपने प्रति स्वयं शत्रुता करते हैं। आज का साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को अनेक खण्डशः विभक्त व्यक्तित्वों के संश्लेष के रूप में यदि नहीं देखता तो, चिन्तन के स्तर पर, वह आज के नहीं सदियों पुराने संसार में रह रहा है। यदि इस संश्लिष्ट रूप को पहचानता है तो वह यह भी जानता है कि वह मात्र साहित्यकार है, न हो सकता है। वह परिवेश से तादात्म्य स्थापित करने और अपने अन्तस् की वाणी सुनने में कोई पारस्परिक विरोध नहीं देखता—जो विरोध उसे दीखता है वह अन्तर्मन के आदेश और बाह्य आचरण का विरोध ही होगा, परिवेश और अन्तर्मन के बीच कोई मौलिक विरोध न होगा। अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की पहचान अपने समस्त दायित्वों का स्वीकरण है। दूसरे शब्दों में राष्ट्र-निर्माण और आत्म-निर्माण में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, पर केवल एक के परिवेश में दायित्व-वहन की चेष्टा अपने ही सम्पूर्ण विकास को रोकने का अनिवार्य कारण होगी। साहित्यकार का कर्तव्य आज यह है कि वह परिवेश के प्रति, समाज के प्रति, समय की माँग के प्रति जागरूक हो; यह जाने और माने कि वह देश और काल से ऊपर, बाहर जा सकता है, पर इनसे बाहर रह नहीं सकता; यह समझ ले कि उसका प्रत्येक कार्य साहित्य-साधना न होगा, पर यदि वह दायित्व-निर्वाह का कार्य है तो उसके स्वीकरण से उसकी साहित्य-साधना में कमी न होगी। साहित्यकार के रूप में राष्ट्र-निर्माण में यही उसका दायित्व है, यही योग-दान। नागरिक के रूप में वह चाहे श्रम-दान करे, चाहे भूमि-दान; मात्र-लेखक के रूप में वह मनचाहा प्रचार करे—साहित्यकार के रूप में उसका दायित्व उस संश्लिष्ट व्यक्तित्व का सहज कर्म ही है जिसकी मैंने चर्चा की है। वह सहज कर्म समाज के प्रति समान रूप से दायित्व-निर्बाह का ही दूसरा नाम है :

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्व्वमिदं ततम्।
स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

प्रो० ब्रजलाल वर्मा

नई कविता : एक प्रश्न

फ्रायड ने कहा कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे काम की प्रेरणा रहती है। यह पूर्ण रूप से सत्य हो या आंशिक रूप से, परन्तु यह भी सत्य है कि निखिल भुवन में प्रत्येक मनुष्य प्रतिष्ठा, महत्त्व और सम्मान का आकांक्षी है। यह तथ्य गम्भीर विचारकों की भाषा में इस रूप में आया कि संसार में मनुष्य के प्रत्येक कार्य के पीछे आत्म-सम्मान और आत्म-प्रतिष्ठा का भाव रहता है। इस प्रतिष्ठा और महत्त्व की उपलब्धि के लिए प्रयास सक्षम और अक्षम दोनों की ओर से होते हैं। सक्षम और अक्षम की प्रतियोगिता उक्त प्रयासों में चलती रहती है। अक्षम व्यक्ति समर्थ की पद्धति का अनुसरण करके प्रतिष्ठा का अधिकारी न हो सकने के कारण कोई नया और प्रतिरोधी मार्ग अपनाता है। परम्परा ने केवल उच्चकोटि के साधकों को ही प्रतिष्ठा का अधिकारी बनाया है। परम्परा का विघटन छोटे-बड़े सबको महत्त्वशाली बना देता है। कभी-कभी रूढ़ि-जर्जर परम्पराओं का उच्छेदन मानव के लिए वरदान बन जाता है, पर सामान्यतः परम्परा का विनाशन युग की विभूतिमत्ता को विनष्ट करने में ही सहायक होता है। हम परम्पराओं को मानव की युगानुगत साधना के सिद्ध निष्कर्ष मानते हैं, अतः निष्कर्षों का अव्याहत हनन भावी साधना को कभी प्रौढ़ नहीं बनने देता। नित्य नवीन का आराधन और पुरातन का मर्दन सत्य को एक आसन पर नहीं बैठने देता। यह विचार समाज की हर दिशा में सुविधा से घटित हो जाता है। क्या राजनीति, क्या समाज-शास्त्र, क्या दर्शन और क्या साहित्य, सर्वत्र इस विचार की प्रामाणिकता देखने को मिलती है। नये अथवा प्रतिरोधी सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रयत्न कभी केवल प्रतिष्ठा प्राप्त करने के निमित्त, कभी पुराने सिद्धान्त के अनुपयोगी हो जाने के कारण सभी क्षेत्रों में हुए हैं। यह भी ठीक ही है एकदम नई बात कहने वाले की ओर जन-दृष्टि तत्काल आकृष्ट होती है—उसकी चर्चा समाज में अधिक होने लगती है।

हमारे आधुनिक हिन्दी-साहित्य में ठीक यही हुआ, कविता के क्षेत्र में विशेष रूप से। प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, नई कवितावादी बे-सिर-पैर के अनर्गल प्रसंगों की अवतारणा, अप्रचलित शब्दावली, स्वच्छन्द एवं विरस-शैली में करने लगे। पाठक न समझ पाया उनकी कविता को···वह कविता के दुरूह और दुर्ललित होने का उपालम्भ प्रस्तुत करने लगा। इन कवियों ने अपने काव्य की दुरूहता और दुर्लालित्य के निवारण के लिए दो बातें कहीं—जिनमें एक शिकायत थी, दूसरा आश्वासन।

१. पाठक, तुम्हारी समझ में फेर है, अपनी समझ दुरुस्त करो तब नई कविता समझ सकोगे।

२. नई कविता सुनने और समझने का अभ्यास नहीं हुआ, धैर्य धारण करो पाठक, कुछ समय पश्चात् सब समझ में आने लगेगा।

नये कवि की ओर से प्रस्तुत किये गए दोनों तर्क कच्चे एवं गदराए कवियों के पकने में सहायक बन गए। या यों कहिए कि दोनों में नये कवि के लिए पहला तर्क तलवार बन गया और दूसरा ढाल। इसी ढाल और तलवार से यह नई कविता का वीर समर जीता जा रहा है और बड़ा बनता जा रहा है। परन्तु, "कोई लेखक बहुत ही असम्बद्ध रचनाओं को प्रकाशित करके बड़ा नहीं बन सकता—हम हिन्दी के कुछ लेखकों को जानते हैं, जो विदेशी रचनाएँ पढ़ते हुए उनकी प्रतिक्रिया में कविताएँ लिखने बैठ जाते हैं—ऐसी रचनाओं में स्वतः एक प्रकार की नवीनता आ जाती है किन्तु ऐसी बहुत-सी रचनाएँ एक संगठित व्यक्तित्व को प्रतिफलित नहीं कर सकतीं और उनकी नवीनता कम संस्कृत पाठकों को ही रोचक लग सकती है।"[1] नई कविता के शूर सामन्त-महारथियों पर हमें पहले विचार करना चाहिए, अनुचरों पर बाद में; और इससे भी पहले नई कविता के सामान्य लक्षणों का उल्लेख भी कर देना चाहिए।

१. नई कविता के शीर्षस्थ नेता जिस कविता को नई कविता कह दें वही नई कविता है।

२. जहाँ कविता सछन्द न हो, स्वच्छन्द हो; वह नई कविता है।

३. जो कविता नई कविता के किसी संकलन में प्रकाशित हो वह नई कविता है।

४. जिसमें 'शब्द' में लय और तुक न हो प्रत्युत वर्ण-मात्र में ही लय और तुक हो वह नई कविता है अथवा यों कहें कि जिसमें शब्द-संगीत न होकर वर्ण-संगीत हो, वह नई कविता है।

५. जो भक्तिकालीन, रीतिकालीन तथा आधुनिक कालीन (विशेष रूप से छायावादी) काव्य-धारा के प्रतिरोधी स्वरूप में हो वह भी नई कविता है।

६. जिसमें मानव-हृदय के भावों व विचारों का तारतम्यपूर्ण नहीं, वरन् विकल एवं टूटा-टूटा वर्णन हो, आशय यह कि हृद्गत भावों का क्रम से वर्णन न हो, बीच-बीच में भावों को छोड़ दिया गया हो और रिक्त भाव-स्थान की पूर्ति पाठक को स्वयं करनी पड़े वह नई कविता है।

७. जिसमें पुराने शब्दों के नये अर्थ, पुराने अर्थों के लिए नये शब्द तथा नवीन अर्थ के लिए नव-निर्मित शब्दों का प्रयोग हो वह नई कविता है।

८. जिसमें फ्रायड के काम-शास्त्र की सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक और अडलर जुंग के व्यावहारिक नहीं, सैद्धान्तिक विचारों की व्याख्या हो वह नई कविता है।

९. जिसके ९० प्रतिशत आशय को पाठक समझ न पावे, वह १० प्रतिशत ही आशय पकड़ सके तथा जिसका आशय उसका रचयिता कवि ही ठीक-ठीक समझ सके वह नई कविता है।

१०. घिसे पिटे, सौन्दर्य-बोध, संचयन, मुलम्मा, परिवेश, चेतन, अवचेतन, उपचेतन, मनःस्थित, पूर्वग्रह, बिम्ब, संवेदन, शिल्प, रूढ़ि, अर्थ-लय, प्रयोग, युगसत्य, कुण्ठा,

१. 'युग चेतना' पत्रिका जून १९५६ का सम्पादकीय, ले० श्री देवराज।

कथ्य, प्रक्रिया, संवेग, अरौंदी राह, अनगढ़ आदि शब्द नई कविता के शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। ये शब्द जहाँ आवें वहाँ नई कविता का कुछ-न-कुछ संसर्ग अवश्य होता है।

११. जिसमें उक्ति-वैचित्र्य के स्थान पर शब्द का प्रयोग-वैचित्र्य हो, बौद्धिक जटिलता हो, भाव का हृदय से कुछ भी सम्बन्ध न हो, बुद्धि ही सारा काम कर रही हो, वह नई कविता है।

१२. जिसमें प्राचीन रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण के सारे सिद्धान्त असिद्ध ठहरते हो अथवा वर्णन ऐसा हो कि रस-सिद्धान्त की सारी शास्त्रीयता असंगत प्रतीत होने लगे वह नई कविता है।

१३. अंग्रेज़ी की नई कविता के कवियों—जैसे टी० एस० इलियट, एजरापाउण्ड, ह्विटमैन प्रभृति कवियों की परम्परा और शैली की छाया जहाँ हों वह नई कविता है।

१४. नयी कविता के प्रचार तथा प्राचीन काव्य के धिक्कार में जहाँ कहीं कुछ मिल जाय वह नयी कविता है।

१५. युग का नहीं, सम्पूर्ण जीवन का नहीं, जीवन-खण्ड का नहीं, जहाँ केवल किसी 'क्षण' की या क्षणिक 'मूड' की अवतारणा हो वह भी नई कविता है।

इस प्रकार इन १५ सूत्रों को कण्ठस्थ कर लेने से पाठक यह जान लेगा कि यह नई कविता है अथवा नहीं, नई कविता समझते ही उसे अर्थ जानने की चेष्टा न करनी होगी। क्योंकि वह सहज ही में समझ लेगा कि नई कविता का अर्थ पाठक के लिए कुछ होता ही नहीं या वह उसे समझ में नहीं आ सकता, लिखने वाले कवि के लिए कुछ भले ही होता हो। उपर्युक्त 'पंचदशी' पाठक के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध होगी।

नई कविता की एक विशेषता और है जिसका उद्घाटन अब तक हमने नहीं किया। नई कविता का कवि काव्य-प्रणेता और अपनी कविता का स्वयं आलोचक भी होता है। नई कविता के कवियों में शायद ही कोई ऐसा कवि हो जो स्वयं अपना आलोचक न हो; अंग्रेजी नई कविता के कवि बचते-बचते भी कहीं-कहीं नई कविता का सिद्धान्त-निरूपण करने में खुल गए हैं। उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि अन्य कोई माने या न माने, मैं तो ऐसी ही कविता चाहता हूँ मुझे यही पसन्द है।[1] उन्होंने अपनी पसन्दगी को पाठकों की रुचि पर लाद दिया। पाठकों में नई रुचियाँ उत्पन्न करने की साध जो इन कवियों की थी। हिन्दी

१. The Background of Modern Poetry, J. Isaac, P. 33

फरवरी १९१२ में प्रकाशित श्री हेराल्ड मुनरो के Poetry Review में Ezra Pound ने लिखा—

"As to twentieth century, the poetry which I expect to see written during the next decade or so, it will, I think move against poppy cock, it will be as·········"nearer the bone". It will be as much like granite as it can be; its force will be in its truth······it will not try to seem forcible by rhetorical din and luxurious riot. We will have fewer painted adjectives impeding the stroke and shock of it. Atleast for myself, *I want it* so austere, direct, free from emotional slither."

नई कविता की भी यही कहानी है। हिन्दी के नये कवि भी अपनी रुचि को, अपने ज्ञान को, सर्वोपरि रखते हैं।

नये कवि अर्थ की सम्यक् निष्पत्ति में व्यर्थ की तुकबन्दी को कुछ भी स्थान नहीं देना चाहते। यदि मैथिलीशरण गुप्त की यह रचना नये कवि अथवा नई कविता के किसी समीक्षक के समक्ष रख दी जाय तो निश्चय ही वह उसे सौ बार धिक्कारेगा :

आ मित्र चक्षु के वृष्टि लाभ
ला हृदय-विजय रस-वृष्टि लाभ
पा हे, स्वराज्य बढ़ सृष्टि लाभ
जा दण्ड-भेद जा साम-दाम
ओ क्षण भंगुर भव राम राम[1]

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इन पंक्तियों में कवि ने तुकबन्दी की सीमा का अतिक्रमण कर दिया है। प्रत्येक पंक्ति के प्रारम्भ में तुकबद्ध शब्दों की योजना है, जैसे आ, ला, पा, और जा; प्रत्येक पंक्ति के अन्त में लाभ तथा अन्तिम शब्दों से पहले भी अनुप्रास की विचित्र योजना की गई है, उदाहरणार्थ दृष्टि, वृष्टि, सृष्टि। यह तो थी पुरानी घिसे-पिटे शब्दों वाली रूढ़िजर्जर कविता, किन्तु नई कविता की ओर भी आइए, इसी के संसर्ग में उसकी भी एक झलक देखिए। नई कविता के आद्याचार्य श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन के एक रचना-खण्ड पर दृष्टि डालिए :

कुछ नये कुछ पुराने मिले,
कुछ अपने कुछ बिराने मिले,
कुछ दिखावे कुछ बहाने मिले,
कुछ अकड़ कुछ मुँह चुराने मिले।[2]

इन पंक्तियों में तुकबन्दी, पाद-पूर्ति में श्री अज्ञेय ने गुप्तजी से सफल होड़ ले ली। कुछ-कुछ-कुछ-कुछ के साथ पुराने मिले, बिराने मिले, बहाने मिले, चुराने मिले शब्दावली में कितना नाद-सौन्दर्य है। नाद-सौन्दर्य ने अर्थ-सौन्दर्य का कठोरता पूर्वक ग्रीवा-मर्दन किया है। गुप्तजी की कविता में हमने किसी प्रकार के सौन्दर्य की खोज नहीं की, क्योंकि वह पुरानी थी। परन्तु अज्ञेय जी की इन पंक्तियों में कोई-न-कोई सौन्दर्य तो खोजना ही पड़ेगा; क्योंकि नई हैं! तुकबन्दी में श्री अज्ञेय ने गुप्तजी को इसी रचना के अन्त में मत दे दी। उन्होंने लिखा :

कुछ पड़े मिले
कुछ खड़े मिले
कुछ झड़े मिले
कुछ सड़े मिले[3]

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' कृति से।
२. 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' श्री अज्ञेय की कविताओं के संकलन की 'सत्य तो बहुत मिले' शीर्षक रचना से।
३. वही पुस्तक।

इन पंक्तियों में एक शब्द तुक से पृथक् नहीं है। अब पाठक स्वयं विचार करें कि कविता का वास्तविक मापदण्ड क्या है या फिर नई कविता अप्रमेय है? जिस तुकबन्दी के कारण हम गुप्तजी की कविता को लांछित करते हैं तुकबन्दी का उससे गुरुतर भार अज्ञेय की इन पंक्तियों में है। फिर इसमें नवीन क्या है, नया क्या है, यह समझ में नहीं आता। अंग्रेजी के कवियों के समानान्तर श्री अज्ञेय ने अपने कवि का परिचय देते हुए 'मैं वहाँ हूँ' शीर्षक रचना में लिखा है :

यह जो गदहे हाँकता हूँ
यह जो तन्दूर झोंकता हूँ
यह जो कीचड़ उलीचती है
यह जो मनियार सजाती है
यह जो कन्धे पर चूड़ियों की पोटली लिये गली-गली झाँकती है
यह जो दूसरों का उतारन फींचती है
यह जो रद्दी बटोरता है।
यह जो पापड़ बेलता है बीड़ी लपेटता है वर्क कूटता है
धोंकनी फूँकता है कलई गलाता है रेड़ी ठेलता है
चौके लीपता है बासन माँजता है ईंटें उछालता है
रुई धुनता है गारा सानता है खटिया बुनता है
मशक से सड़क सींचता है
रिक्शा में अपना प्रतिरूप लादे खींचता है
जो भी वहाँ पिसता है
पर हारता है नहीं न मरता है[1]

इस कविता की एक विशेषता हम मान सकते हैं कि कवि समाज के जिन पद्दलित अंगों को अपनी कविता का विषय बनाना चाहता है उन अंगों की पूरी तालिका ही कवि ने प्रस्तुत कर दी है, कुछ अंग फिर भी रह गए। जैसे 'जो छज्जे पर बैठती है, जो टट्टी साफ करती है, जो सन्ध्या में तेल मालिश करता है' आदि। हम प्रश्न करेंगे यह कविता है। श्री अज्ञेय की 'रेंक' शीर्षक एक दूसरी रचना है, एक नमूना उसका भी देखिए :

रेंक रे रेंक गधे
कुटिया के पीछे का
आँगन डेढ़ बित्ते का
छेंक ले छेंक गधे
फेंक रे फेंक गधे[2]

इन पंक्तियों में गधे से रेंकने के लिए जो विनय कवि ने की है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को ध्यान आया। प्रायः हम कोयल को कूकने को प्रेरित करने के लिए स्वयं कूकने लगते हैं, कुत्ते को भुँकवाने के लिए स्वयं भूँकने लगते हैं, कदाचित् उसी

१. 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' श्री अज्ञेय-कृत संकलन की 'मैं वहाँ हूँ' शीर्षक रचना।
२. वही संकलन।

भाव-प्रवणता में हो सकता है श्री अज्ञेय का कवि भी गधे को रेंकवाने के लिए स्वयं ही पहले रेंकने लगता है।

नई कविता का प्रत्येक कवि रीतिकालीन कवि की भाँति नई कविता के सम्बन्ध में एक लक्षण रचना प्रचारार्थ अवश्य लिखता है।

श्री अज्ञेय भी इस दृष्टि से पुण्य-भाजन बने। उनकी एक रचना का शीर्षक 'नई कविता : एक सामान्य भूमिका' है, उसका खण्ड है :

आपका जो गांधियन सत्य है
उसको क्या यही साठ-आठ वर्ष पहले
गांधी पहचानते थे ?
तुलना नहीं है। हमको चर्राया नहीं
शौक मसीहाई का
आज के निखिल अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें आत्मसात कर लें

नया कवि अतीत के आश्वासनों पर जी रहा है, उसका वर्तमान जब अतीत बन जायगा तो उसकी भी पूजा होगी—इस विचार में उसकी निष्ठा है। पाठकों को एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम यहाँ पर उस कवि की निदर्शना प्रस्तुत कर रहे हैं जिसने साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'कैंटेम्पोररी इण्डियन लिटिरेचर' नामक ग्रन्थ में, जिसमें १५ भाषाओं के साहित्यिक विकास की गतिविधि पर पृथक्-पृथक् एक स्वतन्त्र निबन्ध दिया गया है, संयोग से हिन्दी के सम्बन्ध में स्वयं ही निबन्ध लिखा है। उस निबन्ध का लेखक एस० एच० वात्स्यायन नाम के प्रच्छन्न 'अज्ञेय' हैं उसमें उन्होंने हिन्दी के कई अधिकारी कवियों को तोड़ा है, कई अनधिकारी कवियों को जोड़ा है और अपने सम्बन्ध में आत्मस्तवन के लिए विचारों को दूर तक मोड़ा है। हम श्री अज्ञेय की 'हमने पौधों से कहा' शीर्षक एक रचना के इस खण्ड को पूरी तरह नहीं समझ सके :

बन्धु हमें काव्य दो
सुन्दर दो शिव दो सार सत्य दो
किन्तु किन्तु किन्तु
किन्तु किन्तु किन्तु
किन्तु किन्तु किन्तु
किन्तु किन्तु किन्तु

हमने कवि से कहा

यहाँ पर १२ बार प्रयुक्त 'किन्तु' का अर्थ हम नहीं समझ सके हम पुनः प्रश्न करते हैं—यही नई कविता है ?

दूसरे कवि श्री दुष्यन्त कुमार हैं जिनका 'सूर्य का स्वागत' संकलन प्रकाशित हुआ है। इस संकलन में हम श्री दुष्यन्त कुमार को बिम्बवादी की अपेक्षा प्रतीकवादी ही अधिक पाते हैं। प्रतीकों का प्रयोग नई कविता की चित्रण-भूमि से बाहर की वस्तु है। यहाँ तो बिम्ब और अभिनव उपमान ही अपेक्षित हैं। कवि ने 'सूर्य के स्वागत' में प्रतीकों के माध्यम

से नई कविता और नये कवि का पर्याप्त उद्बोधन किया है। कहना चाहिए इन्होंने भी नई कविता पर प्रचारोक्तियाँ लिखी हैं।

इन्होंने भी नई कविता पर प्रचारोक्तियाँ लिखी हैं :

मुझ पर हर ओर से चोटें पड़ रही हैं
कोपलें उग रही हैं
पत्तियाँ झड़ रही हैं

यहाँ कोंपलें नवोदित नये कवियों का प्रतीक हैं। पत्तियाँ प्राचीन परम्परा के कवियों का प्रतीक हैं। इतना ही नहीं कवि ने प्रतीकों की झड़ी लगा दी है।

अगर इस लड़ाई में मेरी साँसें उखड़ गईं,
मेरे बाजू टूट गए,
मेरे चरणों में आँधियों के समूह ठहर गए
मेरे अधरों पर तरंगाकुल संगीत जम गया
या मेरे माथे पर शर्म की लकीरें खिच गईं
तो मुझे पराजित मत मानना
मेरी प्रगति या अगति का
यह मापदण्ड बदलो तुम
मैं अभी अनिश्चित हूँ[1]

इस कविता में नये कवि का संघर्ष-मग्न स्वरूप चित्रित किया गया है और यह बताया गया है कि नई कविता अभी अपनी निर्माण अवस्था में है, उसके सम्बन्ध में अभी कुछ निश्चयात्मक रूप से कहना उचित नहीं। उक्त खण्ड में आये हुए उपमानों को हम प्रतीक की ही कोटि में रखेंगे। हो सकता है कि भ्रमवश नये कवि इन्हें बिम्ब मानें। इस कविता में कवित्व है इसलिए कि भाव-धारा परम्परा-ग्रस्त है परम्परा-मुक्त नहीं; इसलिए कि यह कविता है इसलिए नहीं कि यह नई है। इसी प्रकार :

प्रसव काल है
सघन वेदना
मनकी चट्टानो कुछ खिसको[2]

में प्रसव को नई कविता की संघर्ष-प्रसूत आविर्भावकालीन वेदना का प्रतीक बनाया गया है परन्तु इन सभी रचनाओं को नई कविता का प्रचार-विज्ञापन ही मानना पड़ेगा। आगे देखिए :

हाँ जिस दिन पिंजड़े की
सलाखें मोड़ लूँगा मैं
उस दिन सहर्ष
जीर्ण देह छोड़ दूँगा मैं[3]

---

१. 'सूर्य का स्वागत' की 'मापदण्ड' शीर्षक रचना से।
२. वही, ले० दुष्यन्त कुमार, 'कुंठा' नामक रचना से।
३. वही, 'पुस्तक', 'कैदी परिन्दे का बयान' शीर्षक रचना से।

इन पंक्तियों में भी कैदी परिन्दे को परम्परा-ग्रस्त कविता का प्रतीक मानकर तथा सम्भाव्य-मुक्त परिन्दे को नई कविता का संकेतात्मक प्रतीक माना गया है। दुष्यन्तकुमार के शब्द बेचारे इन शब्दों में रो रहे हैं :

थके हुए हम
बिखरे-बिखरे क्षीण हो गए हम
कई परत आ गई धूलि की
धुँधला-सा अस्तित्व पड़ गया
संज्ञाएँ खो चुके

एक तीसरे कवि श्री कुँवर नारायण हैं जिनका 'चक्रव्यूह' नामक रचना-संकलन प्रकाशित हुआ है। स्थानाभाव-वश हम इनकी रचनाओं की समीक्षा तो न कर सकेंगे, पर संक्षेप में इतना अवश्य कहेंगे कि इनकी रचनाओं के शीर्षकों और रचना में प्रस्तुत भाव में कोई संगति या अनुरूपता नहीं है, शब्द के साथ 'अन' जोड़कर विलोमार्थक शब्द गढ़ देने के ये अच्छे अभ्यासी हैं उदाहरणार्थ 'अनभूला', 'अनमना', 'अनपूरा', 'अनथही' इस कवि की रचनाओं में कोई सार्थकता हो या न हो, पुस्तक के नाम 'चक्रव्यूह' में अवश्य सार्थकता है, साहित्य के और भाषा के बड़े-बड़े अभिमन्यु, कवि के इस 'चक्रव्यूह' से लौटने की बात तो दूर रही उसमें प्रवेश भी न पा सकेंगे, श्री कुँवरनारायण अपनी प्रत्येक रचना के शीर्षक सजाने में अतिशय सावधान रहते हैं, प्रत्येक शीर्षक में वे भाव-वैचित्र्य का संयोजन करने लगते हैं चाहे रचना के मूल भाव से उसका कोई सम्बन्ध हो या न हो।

हमें यह मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार रीतिकालीन काव्य-धारा की प्रतिक्रिया में छायावाद और स्वच्छन्दतावाद आया ठीक उसी प्रकार छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रयोगवाद और नई कविता आई, प्रतिक्रिया का दर्शन सदैव अस्वस्थ और अपूर्ण होता है। प्रयोगवादी कविता ने छायावादी काव्य की शैली का बहिष्कार किया, सौन्दर्य-चेतना, वर्ण्य-विषय आदि सभी का विरोध किया, प्रयोगवादी काव्य के यथार्थ ने आदर्श को आपादमस्तक रौंद डाला, कहाँ तक कहें सौंदर्य के मानदण्डों का आमूलपरिवर्तन कर डालने की ठान ली, सन्देह नहीं प्रतिक्रियाओं की शृंखला में बँधकर कविता का मार्दव नष्ट हो गया, वह रूखी-रूखी कठोर-काय होकर हमारे समक्ष आने लगी, रसों में वीभत्स और अद्भुत को अधिक प्रश्रय मिला, करुणा और विप्रलम्भ शृंगार यदि आए भी तो विकृत होकर ।

कविता की ऐसी ही दुर्गति देखकर दुःख-दग्ध होकर एक बार फ्लेचर महोदय ने गुप्त रूप से 'मिस अभी लावेल' को लिखा था : मैं नहीं चाहता कि कविता में बिम्ब प्रस्तुत किये जाँय, मेरा विचार है कि उसमें भावना प्रस्तुत की जाय। मैं स्पष्ट कठोर और निश्चयात्मक चित्रण पर विश्वास नहीं करता, मैं संश्लिष्ट अथवा सरस चित्रण में विश्वास करता हूँ मैं वर्ण्य-विषय के निर्वाचन में भी स्वच्छन्दता का पक्षपाती नहीं हूँ, मेरा विश्वास है कि (चुनाव) शब्द का अर्थ ही है स्वतन्त्रता का अभाव।

मेरा लय में नहीं तुक में विश्वास है, मेरी वाह्य में अनुरक्ति नहीं अतः मैं बिम्ब को नहीं स्वीकार कर सकता, मैं तुकवादी हूँ, प्रतीकवादी हूँ, बिम्बविधानवादी नहीं।[1] नई कविता

१. 'Imagism' P. 180, Stanley K. Coffman. Jr.

के प्राण और कलेवर देखकर कविता-प्रेमियों को मि० फ्लेचर[1] की भाँति निराशा होती है। इसी तथ्य के प्रसंग में एक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी की आधुनिक काव्य-धारा पर अंग्रेजी कविता की आधुनिक प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव है, शैली में विशेष रूप से। अंग्रेजी कविता के 'वाद' हिन्दी कविता के 'विवाद' बनते गए। वहाँ का रोमांटिसिज़्म यहाँ का स्वच्छन्दतावाद, वहाँ का सिम्बालिज़्म यहाँ का प्रतीकवाद, वहाँ का इमेजिज़्म यहाँ का बिम्बविधानवाद, वहाँ का आइडियलिज़्म यहाँ का आदर्शवाद, वहाँ का रियलिज़्म यहाँ का यथार्थवाद, वहाँ का सररियलिज्म यहाँ का अति-यथार्थवाद बन गया। आधुनिक हिन्दी-काव्य के मूल में अनुकरणवाद की प्रधानता ही लक्षित होती है, यह किसी भी स्वतन्त्र जाति के साहित्य के लिए नितान्त घातक है। यहाँ के संस्कृत-काव्य में दूसरे साहित्यों का प्रभाव भले ही दृष्टिगोचर होता हो अनुकरण वहाँ लेश-मात्र भी नहीं है, प्रभाव और अनुकरण दो पृथक् वस्तुएँ हैं, एक के द्वारा जीवन मिलता है दूसरे द्वारा जीवनापहरण होता है। प्रभाव तो गति और दिशा देता है अनुकरण जड़ और पंगु बना देता है। नई कविता को क्या हम कुछ भाषा-बुद्ध जनों की शब्द-क्रीड़ा और बुद्धि-विलास-मात्र न मानें? हमारे जीवन से इस नई कविता का क्या सम्बन्ध है। भाषा को यह नई कविता क्या कुछ भी समृद्ध बना रही है। क्या हमारी भाषा की समृद्धि को दैन्य और दरिद्रता में यह नहीं बदल रही? क्या यह नई कविता आलोचक 'टले' के शब्दों में किसी प्रकार भी हमारी जीवन-सहचरी बन रही है। क्या उसमें कुछ भी प्राणदायिनी प्रेरणोत्पादक शक्ति है?[2] अंग्रेजी के कवि श्री टी० एस० इलियट की कविता का मूल्य है। परन्तु वे भी कविता के जिस साधारणीकरण की बात कहते हैं, हिन्दी की नई कविता उससे भी हीन एवं असंपृक्त है। इलियट द्वारा प्रतिपादित वह शाश्वत, सार्वत्रिक एवं सार्वजनीन तत्त्व हिन्दी की नई कविता में कहाँ प्राप्त हो पाता है?[3] इलियट महोदय ने अंग्रेज़ी नई कविता

---

१. A private letter to Miss Amy Lowell by John Gould Fletcher : "I do not believe that a poem should present an 'Image'. I believe it should present an emotion. I do not believe in 'clear hard and definite presentation.' I believe in a complete that is to say shifting and fluid presentation. I do not believe in 'absolute freedom in choice of subject'. I believe that the very word 'choice' means lack of freedom. If one chooses, one had certain standards whereby one chooses. I do not believe that the exact word is possible. I do not believe in cadence but in rhythm (a different thing altogether). I do not believe in externality. Therefore I do not accept imagism. I am a rhythmist or a symbolist but not the imagist."

२. The use of Poetry and the use of Criticism, P. 54, T. S. Eliot.

Tully says that poetry, "nourisheth, instructeth our youth; delights our age ; adorns our prosperity; comforts our adversity ; travails with us; watches; divides the time of our earnest and sports shares; in our country; recesses and recreations in so much as the wisest and best learned have thought her the absolute mistress of manners and nearest of kin to virtue."

३. From the same book, P. 141.

"No two readers perhaps will go to poetry with quite the same demands. Amongst all these demands from poetry and responses to it, there is always some permanent element in common."

के भाव क्लिष्ट होने तथा दुरूह होने के चार कारण प्रस्तुत किये हैं :

१. वैयक्तिक कारण जो कवि की आत्मानुभूति को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करने में बाधक होते हैं यद्यपि यह दुःख का कारण है।

२. कविता के नव्य होने के कारण।

३. पाठक के मन में अकस्मात् यह भाव उपस्थित होने के कारण कि कविता अब दुरूह सिद्ध होने जा रही है।

४. कवि या लेखक द्वारा, वर्णन में उस वस्तु के दौड़ जाने के कारण जिस पर पाठक की आस्था होती है तथा जिसकी खोज करने के बाद भी वस्तु के न मिलने पर पाठक को निराशा होती है।

इलियट द्वारा दिये गए चारों कारण उचित हैं परन्तु इन कारणों में पाठक को ही अधिक उत्तरदायी बनाया गया है कवि को कम। हमारे विचार से इन कारणों में कुछ संशोधन की गुञ्जायश है। जहाँ हिन्दी के नये कवियों का प्रश्न है उनके लिए कुछ नये कारणों की उद्भावना भी करनी पड़ेगी इनके लिए तो प्रारम्भ में दिया गया कारण 'महत्त्व-लोलुपता' के लिए अतिशय नवीन बात कहना जिसे पाठक समझे या न समझे भी एक प्रमुख कारण हो जाता है, परन्तु पाठकों को श्री प्रभाकर माचवे की यह सूचना अतीव आश्वासनदायिनी सिद्ध होगी, "मगर हिन्दी के समझदार पाठक अब धीरे-धीरे सुबुद्ध और विवेकवान हो रहे हैं। वे इस तरह के डण्डे के बल से हाँके जाने लायक अपने-आपको भेड़ या गरीब गउवें नहीं समझते।"[1] इसका अर्थ क्या हम यह समझें कि पाठक अब प्रमत्त कवि-गजों को मनचाही दिशा में मोड़ने वाले और क्षण-मात्र में धराशायी कर देने वाले पराक्रमी शार्दूल बन गए हैं? नई कविता के एक-दूसरे हिमायती-कवि और आलोचक दोनों—डॉ० धर्मवीर भारती का कथन है कि "जब कलाकार अपनी अन्तःप्रेरणा का सामना नहीं कर पाता, जो कृति उसमें से उद्भूत होना चाहती है उससे वह बाहर की ओर भागता है। कुछ आरोपित धारणाएँ स्वीकार करता है चाहे वह आर्थिक प्रलोभन के कारण हो या राजनीतिक दबाव के कारण या सस्ती लोकप्रियता के लोभ के कारण—उस समय वह अपनी अन्तःप्रेरणा से पलायन करता है। उससे विच्छिन्न हो जाता है। फलस्वरूप उसकी कृतियाँ झूठी पड़ने लगती हैं और उनका कलात्मक स्तर समाप्त हो जाता है।"[2] श्री भारती की यह धारणा शत प्रतिशत नई कविता के साथ लागू हो जाती है। हाँ, यहाँ एक बात छूट गई है कि किशोर नये कवि समाज में कवि रूप में प्रतिष्ठित होने के लोभ से भी बे-सिर-पैर की कविता लिखने लगते हैं। डॉ० जगदीश नई कविता का पक्ष-पोषण करने में नई कविता के विरोधियों को अत्यन्त कवित्वपूर्ण शैली में फटकारते हैं, वे कहते हैं "वस्तुतः विरोधी पक्ष को जब अपने सारे तर्क झूठे पड़ते दिखाई दे रहे हैं तो वह इसी 'सींक के बाण को' मन्त्र पढ़कर ब्रह्मास्त्र बनाने के लिए कटिबद्ध हो रहा

१. 'नई कविता' अंक ३ सन् १९५६ में प्रकाशित 'भारतीय भाषाओं में नयी कविता : कुछ नोट्स' शीर्षक निबंध, ले० श्री प्रभाकर माचवे।

२. 'आधार' पत्रिका 'नयी कविता विशेषांक, पृष्ठ ७४; 'काव्य सृजन' निबन्ध ले० धर्मवीर भारती।

है।"[1] हमें दुःख है कि हमें डॉ० जगदीश को यह भी बताना पड़ रहा है कि ब्रह्मास्त्र सींक के बाण से भी छोटा था, उसकी विशेषता आकार की विशालता नहीं थी। अमोघ शक्ति ही उसका प्राण थी। हम यहाँ यह सम्मति देंगे कि सींक या सींक से भी छोटे आयुधों से सदैव बचना चाहिए। नई कविता का विरोधी कोई नहीं है। इन तथाकथित नये कवियों के बुद्धि-विक्षेप का विरोधी प्रत्येक साहित्यिक मर्मज्ञ होगा। नये कवि और जो आलोचक भी हैं प्रायः इन दिनों संस्कृत के उद्धरणों का बड़ा आश्रय लेते हैं।[2] अपने मतों की पुष्टि में काव्य-मीमांसाकार राजशेखर, काव्य-प्रकाशकार मम्मट, ध्वन्यालोक-प्रणेता आनन्दवर्द्धन तक के निष्कर्षों और मान्यताओं को जुटाने में नहीं हिचकिचाते। हमें आश्चर्य होता है यह देखकर कि एक ओर तो इन नये कवियों की दृष्टि में जो भी परम्परागत है, वह रूढ़ है, जर्जर है फिर इन आचार्यों के विचार उन्हें क्योंकर नये ताज़े प्रतीत होते हैं और मन भा जाते हैं।

अब हम अपने उसी भाव-केन्द्र को लौटेंगे जहाँ से हमने नई कविता पर अपनी विचार-यात्रा प्रारम्भ की थी, हमने प्रारम्भ में कहा था मिथ्या प्रतिष्ठा और सम्मान का मोह इन नौसिखिए तरुण कवियों को रचना प्रतियोगिता में असंयत और चंचल बना रहा है, हम तो नये कवि से कहेंगे कि मानव की मूल सौंदर्य-बोध-वृत्तियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें बदलने का प्रयास व्यर्थ रहेगा, मानव-हृदय की चेतना को ऊर्ध्वस्थित करने वाले तत्त्वों का कविता में समावेश होता रहे तो कविता रहेगी अन्यथा एक बुद्धिविलास-मात्र होकर वह अपना स्वाभाविक स्वरूप खो बैठेगी। हम कविता के स्वरूप-निर्माण के लिए एक खण्ड वह प्रस्तुत करेंगे जिसे नये कवि रूढ़ तथा जर्जर मानते हैं और दूसरा खण्ड नई कविता से देंगे जिसे नये कवि वस्तुतः कविता मानते हैं। पाठक दोनों रचना-सौन्दर्य में स्वयं अन्तर आँकें और निष्कर्ष प्राप्त करें :

> गतेऽर्द्धं रात्रे परिमन्द मन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषिकाल मेघाः।
> अपश्यती वत्समिवेन्दु बिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुंकरोति ॥[3]

अर्द्धरात्रि के बीत जाने पर वर्षाकाल में जो मेघ गरज रहे हैं वे मेघ नहीं हैं प्रत्युत वह रात्रि-रूपी गऊ है जो अपने इन्दु-वत्स को न देखकर हुंकड़ रही है, हेतूत्प्रेक्षा का कैसा प्रभावोत्पादक एवं रोचक उदाहरण है। साथ-ही-साथ वस्तु-विषय भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो गया है। आधी रात है, वर्षा काल है, अन्धकार है, बादल गरज रहे हैं, आकाश मेघाच्छन्न है। चन्द्रमा अदृश्य हो गया है।

नई कविता देखिए :

> माना इस बस्ती में धुआँ है,
> खाई है,
> खन्दक है,

---

१. नई कविता, अंक ३, १९५६ 'अर्थ की लय' नामक निबन्ध, ले० डॉ० जगदीश गुप्त।
२. नई कविता, अंक १, सन् १९५४ में 'नई कविता नई अभिरुचि' शीर्षक निबन्ध "राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में ऐसे अपवादी 'निरंकुश' लोगों की ओर तीव्र कटाक्ष किया है।" ले० डॉ० जगदीश गुप्त।
३. वैयाकरण महर्षि पाणिनि विरचित अप्राप्य कृति 'जाम्बवती विजय नाटक' से।

कुआ है,
पर जाने क्यों ?[1]

होइए रसमग्न इन पंक्तियों में ! कवि ने मानो अपने और पाठक के डूब मरने के लिए खाई, खन्दक और कुआँ सभी-कुछ खोद डाला है। गीतकार से हमारा निवेदन है कि अपने मधुर स्वर एवं गीतों द्वारा इन खाई-खन्दकों को पाट दें और नये कवियों की रचनाओं में यदि हृदय को कुछ भी न मिल रहा हो तो पण्डितराज जगन्नाथ के स्वर में साहस के साथ कह दें :

निर्माणे यदि मार्मिकोसि नितरामत्यन्त पाकद्रव—
न्मृंद्वीकामधुमाधुरी मद परि हारो क्षुराणां गिराम्,
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशाम्
नोचेद् दुष्कृत मात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः

हे सखे, यदि तुम्हारे काव्य में कुछ भी मार्मिकता है तो उसे मेरे समक्ष आनन्दपूर्वक कहो अन्यथा अपने पापों की भाँति ही इसे अन्तःकरण में ही रहने दो बाहर मत करो, किन्तु "हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, बृहत-से-बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिए खुलते जाते हैं उनके भीतर के नाना रमणीय और अद्भुत रूपों और व्यापारों का जो सर्व साधारण को प्रत्यक्ष नहीं है, काव्य में उपयोग करके उसके क्षेत्र का विस्तार न किया जाय।"[2]

१. नई कविता।
२. 'भ्रमर गीत सार', आ० रामचन्द्र शुक्ल।

डॉ० रामानन्द तिवारी

सौन्दर्य का रूप, भाव और तत्त्व

सामान्य व्यवहार और साहित्य दोनों में सौन्दर्य का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में होता है। सौन्दर्य को हम वस्तुओं का गुण मानते हैं और उन्हें सुन्दर कहते हैं। वस्तुओं को ही नहीं, हम व्यापार और व्यञ्जना के रूपों को भी सुन्दर कहते हैं। भावों के लिए भी सुन्दर का प्रयोग होता है। कला और काव्यों की कृतियों को तो सुन्दर कहा ही जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सौन्दर्य वस्तु का गुण है, मन का भाव है अथवा व्यञ्जना का रूप है ? यदि तीनों के ही सम्बन्ध में सौन्दर्य का प्रयोग उचित है तो यह विचार करना होगा कि सौन्दर्य की कल्पना में इनका क्या स्थान है ? वस्तुओं का सौन्दर्य इतना प्रसिद्ध तथ्य है कि उसका खण्डन करना मनुष्य की सामान्य धारणा के विपरीत चलना है। मनुष्य की सामान्य धारणाएँ होने के कारण ही सत्य वे नहीं है। सामान्य होते हुए भी वे ग़लत हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में इस तथ्य की व्याख्या करनी होगी कि गलत होते हुए भी वे धारणाएँ इतनी मान्य और प्रसिद्ध कैसे हो जाती हैं ? एक प्रचलित भ्रान्ति की व्याख्या उतनी ही आवश्यक है जितनी कि एक सत्य की स्थापना।

सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास में भाव, रूप और तत्त्व तीनों में ही सौन्दर्य का अनुसन्धान हुआ है। ग्रीक विचारकों ने वस्तुओं के बाह्य रूपों में सौन्दर्य का अन्वेषण किया। सामान्यतः वे अनेकता में एकता को सौन्दर्य का मूल सूत्र मानते रहे। अनेकता में एकता की व्यवस्था सामञ्जस्य, सन्तुलन, लय आदि के अनुसार होती है। अतः ये सौन्दर्य के वस्तुगत लक्षण हैं। कला के सम्बन्ध में इन रूपों की चर्चा प्रायः की जाती है और इन्हें महत्त्व दिया जाता है। चित्र-कला, मूर्ति-कला, संगीत आदि के शिक्षण और आलोचन में इन रूपों का प्रयोग सौन्दर्य के मानदण्ड के रूपों में होता है। चित्र-कला में रेखाओं और रंगों की योजना में तथा संगीत में स्वरों की योजना में सामञ्जस्य, सन्तुलन, लय आदि विशेषताओं का निदर्शन करके सौन्दर्य की व्याख्या की जाती है। यदि इन सब लक्षणों से सौन्दर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है तब तो कला के अधिकांश आलोचक भ्रान्ति में हैं। ऐसा कहना दुस्साहस प्रतीत होता है, यद्यपि कुछ विद्वानों के मत में ऐसी धारणाएँ भ्रान्त ही हैं। अनुभूतिवादी मत सौन्दर्य को चेतना का भाव मानते हैं। कोई भी वस्तुगत रूप उसका विधायक नहीं है। चेतना का सौन्दर्य-भाव किसी भी वस्तु को सुन्दर बना देता है। उनके मत में सौन्दर्य चेतना का भाव है, वस्तुओं का गुण नहीं। इस अनुभूतिवादी मत में भी कुछ सत्य हो सकता है, किन्तु वस्तुओं के रूप में सौन्दर्य की सामान्य धारणा पूर्णतः भ्रान्तिमय हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। वस्तुओं के कुछ गुणों में, रेखाओं, रंगों और स्वर की कुछ योजनाओं में कुछ विशेषताएँ

अवश्य होती हैं जिनके कारण वे सामान्यतः सभी को सुन्दर प्रतीत होती हैं। चन्द्रमा, पुष्प, सूर्योदय, इन्द्रधनुष आदि सभी को सुन्दर लगते हैं। संगीत की राग-रागिनियाँ, स्वरों की वस्तुगत और सामान्य योजना के आधार पर बनी हैं। वस्तुओं के दृश्य गुणों के कान्ति, रंग, समानुपात आदि प्रायः सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। स्वरों के आरोह और अवरोह की लय संगीत में सौन्दर्य का विधान करती हैं। प्राचीन ग्रीक विचारकों की भाँति आधुनिक युग में फेकनर ने सौन्दर्य के वस्तुगत गुणों और नियमों का अनुसन्धान किया है।

सौन्दर्य के वस्तुगत आधार के सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि सौन्दर्य केवल आत्मगत और आन्तरिक भाव है अथवा बाह्य विषयों का अनुषंग उसके लिए आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि क्या इन वस्तुगत आधारों में कुछ ऐसे गुण अथवा विशेषताएँ होती हैं जिनका सौन्दर्य में विशेष सहयोग है। पहली बात का विचारणीय प्रसंग वे अनुभूतिवादी मत हैं जो सौन्दर्य के विषयों को भी चेतना की सृष्टि मानते हैं। अतः जिनकी दृष्टि में ये विषय आन्तरिक हैं। एक समाधि की अवस्था ही ऐसी है जिसमें बाह्य विषयों का विलय हो जाता है। किन्तु वह एक दुर्लभ और असाधारण अवस्था है। स्वप्न के विषय आन्तरिक कहे जाते हैं किन्तु स्वप्न-काल में वे बाह्य और यथार्थ ही प्रतीत होते हैं। दूसरे, स्वप्न की व्यवस्था समाधि के समान ही असाधारण और अल्पस्थायी है। कलाकार की सौंदर्य भावना स्वप्न अथवा समाधि के समान होती है यह मानना कठिन है, क्योंकि समाधि के विपरीत कलाकार को बाह्य वस्तुओं का बोध रहता है। सभी कलाकृतियों में बाह्य विषयों का प्रसंग है। कला की बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभति को पूर्णतः व्यक्त न करती हो यह सम्भव है, किन्तु दोनों के तत्त्व और रूप पूर्णतः भिन्न हैं, यह मानना कठिन हैं। कलाकृतियों और जीवन के सामान्य व्यवहार में सौन्दर्य का जो प्रयोग होता है उसमें बाह्य विषयों का अनुषंग सदा रहता है। चाहे वस्तुओं के गुण सौन्दर्य की पूर्ण और सन्तोषजनक व्याख्या न हों किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वस्तुओं में सौन्दर्य का व्यवहार भ्रान्ति नहीं है। बाह्य वस्तुओं के प्रसंग में ही सौन्दर्य का अनुभव होता है। सौन्दर्य की आन्तरिक चेतना भी बाह्य विषयों के रूपों में साकार होती है।

बाह्य वस्तुओं और विषयों के कुछ रूप और गुण हमें अधिक प्रभावित करते हैं। सामान्यत; वे सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि वस्तुओं के रूपों और गुणों में कुछ विशेषतः सौन्दर्य के अनुभव में योग देते हैं। क्रान्ति, आलोक तथा रंग और रेखाओं की कुछ व्यवस्था सभी को सुन्दर मालूम होती है। शरीर के सौन्दर्य के विषय में भी हमारी धारणाएँ बहुत-कुछ समान हैं। सौन्दर्य का यह रूप वस्तु-तत्त्व का आकार है। इस आकार में तत्त्व के अंगों की योजना-रूप का निर्माण करती है। वस्तु का आकार बाह्य और सामान्य होने के नाते सौन्दर्य का रूप भी बाह्य और वस्तुगत है। चित्र-कला और संगीत में यह रूप पूर्णतः एक बाह्य व्यवस्था है। तत्त्व और रूप के अभिन्न होने के कारण हम रूप को भी वस्तु के समान ही सौन्दर्य का आधार मान सकते हैं किन्तु प्रश्न यह है कि ये सौन्दर्य के विधायक हैं अथवा केवल उसके उपकरण हैं। जहाँ तक वस्तु-तत्त्व का सम्बन्ध है उसके सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि वह सौन्दर्य का उपादान-मात्र है। बाह्य तत्त्व के उपादान के बिना सौन्दर्य की कल्पना कठिन है। सामान्यतः बाह्य तत्त्व के रूप में अथवा उसके निमित्त से भाव

में सौन्दर्य साकार होता है। जीवन के व्यवहार और विज्ञान के अन्य रूपों में इन्हीं वस्तु-तत्त्वों का उपयोग होता है और इस उपयोग में सौन्दर्य का कोई प्रसंग नहीं है। रूप का सौन्दर्य से अधिक निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। रूप तत्त्व के आकार की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। अत: रूप में सौन्दर्य की भावना स्वाभाविक है। किन्तु कलाकृतियों के रूपों में वस्तु-रूपों से कुछ अन्तर है। वस्तु-रूप बाह्य तत्त्व के आकार होते हैं। कलाकृतियाँ कलाकारों की सृष्टि हैं। उनका रूप वस्तु-तत्त्वों का आकार ही नहीं, चिन्मय भावों की अभिव्यक्ति भी है। भावों की अभिव्यक्ति होने पर रूप केवल बाह्य सत्ता का आकार नहीं रह जाता, वह आन्तरिक चेतनाओं के भावों की अभिव्यक्ति का प्रकार भी बन जाता है। बाह्य वस्तुओं का रूप उनके आकार की अभिव्यक्ति है किन्तु काव्य अथवा कला का उपादान बनकर वह रूप भी तत्त्व बन जाता है। काव्य और कला में वस्तु-तत्त्व के सन्निधान के साथ-साथ उसके रूप का सौन्दर्य भी सन्निहित होता है, किन्तु केवल तत्त्व के रूप में सन्निहित होने पर यह रूप आवश्यक रूप से कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। सुन्दर वस्तुओं और रूपों का चित्रण अथवा वर्णन भी सुन्दर हो यह आवश्यक नहीं। उपादानों का सौन्दर्य आवश्यक रूप से कला के सौन्दर्य का विधायक नहीं होता। कला उस रूप की अभिव्यक्ति अथवा व्यञ्जना है। अत: कला का सौन्दर्य मुख्यतः अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। कला सृष्टि है इसलिए कला का सौन्दर्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। दृश्य रूपों और उनके चित्रण में रूप के सौन्दर्य का महत्त्व अधिक है किन्तु कला के अन्य रूपों में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य प्रधान है। संगीत और काव्य में इस अभिव्यक्ति का रूप सूक्ष्म होता है और यह अभिव्यक्ति व्यक्त होने वाले भावतत्त्व से एकाकार होती है। जीवन के बाह्य तथ्य और तत्त्व भाव की अभिव्यक्ति के उपकरण और माध्यम ही होते हैं। कलाओं का आन्तरिक तत्त्व मुख्यतः चिन्मय भाव होता है इसे हम आकृति कह सकते हैं। अभिव्यक्ति बाह्य उपकरणों और शब्द आदि के माध्यम से इस आकृति की व्यापक व्यञ्जना है। आकृति के भाव और रूप एक-दूसरे से अभिन्न हैं। इसीलिए आनन्दवर्द्धन ने दोनों के लिए समान पद का प्रयोग किया है। उनके मत में ध्वनि व्यञ्जित होने वाला भाव-तत्त्व, व्यञ्जना की शक्ति और व्यञ्जना का रूप तीनों ही हैं। कुछ विद्वानों के मत में सौन्दर्य, रूप और तत्त्व का समन्वय है। बोसनक्वेट के अनुसार शेक्सपियर और दाँते की महिमा का रहस्य यही समन्वय है। कालिदास और तुलसीदास की महिमा का रहस्य भी सम्भवतः यही समन्वय है। सफल कला का रूप एक आरोपण नहीं है वह भाव-तत्त्वों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। इसी सृजनात्मक अभिव्यक्ति में रूप और तत्त्व के समन्वय को मौरिस ने सौन्दर्य का स्वरूप माना है।

किन्तु रूप की जिस सृजनात्मक अभिव्यक्ति को कुछ विद्वानों ने सौन्दर्य का स्वरूप माना है, वह कलात्मक सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का स्वरूप सूक्ष्म और आन्तरिक है। किन्तु वह बाह्य उपकरणों में ही साकार होती है अतः अभिव्यक्ति का यह रूप क्रोचे की आन्तरिक अभिव्यक्ति से भिन्न है जिसका बाह्य उपकरणों और माध्यमों से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। क्रोचे की अभिव्यक्ति कलात्मक सौन्दर्य की आन्तरिक अनुभूति का आन्तरिक प्रकाशन ही है। इसीलिए क्रोचे ने कलात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति को एकाकी माना है। क्रोचे ने अभिव्यक्तिवाद के नाम से कलात्मक सौन्दर्य को पूर्णतः आन्तरिक और

अनुभवात्मक धारणा को आधुनिक युग में प्रतिष्ठित किया। क्रोचे और उनके अनुयायी कलात्मक सौन्दर्य को पूर्णतः आंतरिक, आत्मगत व्यक्तिगत मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य का मूल स्वरूप चिन्मय भाव ही है। उस चिन्मय भाव की स्थिति और अभिव्यक्ति दोनों व्यक्तियों में होती हैं। इस आधार पर, जैसा कि लिस्टोवेल का विश्वास है, सौंदर्य की व्यक्तिमूलक तथा अनुभूतिमूलक व्याख्याएँ समीचीन ही हैं। चेतना में सौन्दर्य की यह अनुभूति दृष्टि और सृष्टि दोनों ही हैं। एक ओर इसमें दर्शन की तटस्थता और निरीहता है। क्रैरिट का विश्वास है कि सौन्दर्य केवल दर्शन अथवा ध्यान से ही आह्लादित करता है। एटेस ने सौन्दर्य की इस तटस्थ दृष्टि को स्पष्ट किया है इसके लिए लिस्टोवेल ने एटेस के मत का विशेष महत्त्व माना है। किन्तु दृष्टि होने के साथ-साथ सौन्दर्य की अनुभूति सृजनात्मक भी है। आधुनिक युग में सौन्दर्य का यह सृजनात्मक रूप विशेष गौरव के साथ स्पष्ट हुआ है। अनेक विद्वानों ने सौंदर्य की चेतना की क्रियात्मकता पर जोर दिया है। क्रोचे तो सौन्दर्य की चेतना को पूर्णतः सृजनात्मक और क्रियात्मक मानते हैं। वह अपनी अभिव्यक्ति के रूप और तत्त्व दोनों की रचना अपनी एकतन्त्र क्रिया के द्वारा करती है। क्रोचे के अनुयायियों ने सौंदर्य की चेतना की सृजनात्मक सक्रियता का अधिक विवरण किया है। अर्वाचीन विद्वानों में इस के समर्थकों में फोल्डर का नाम उल्लेखनीय है।

इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य का वास्तविक और मूल स्वरूप चिन्मय भाव ही है, इस भाव को अनुभूति भी कह सकते हैं, क्योंकि यह आत्मा की सचेतन वृत्ति है। कलात्मक सौन्दर्य इस भाव की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति भाव में आकृति की व्यञ्जना है। इस अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का चिन्मय-भाव-साकार होता है किन्तु क्रोचे का यह मत यथार्थ नहीं कि सौन्दर्य की अनुभूति पूर्णतः एकान्त और आत्मगत है तथा उसकी अभिव्यक्ति पूर्णतः आन्तरिक है। एकान्त चेतना पूर्णतः उदासीन होती है इसीलिए सांख्य ने कैवल्य की चेतना को आनन्द-रहित माना है। आत्मानुभाव की जिस अवस्था को वेदान्त में आनन्द-मय माना गया है वह व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है। वेदान्त की आनन्दमय मुक्ति सर्वात्मभाव की स्थिति है। वह आत्मा और अनुभूति का व्यापक रूप है, जिसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। इस समात्मभाव में ही आकृति की व्यञ्जना सौन्दर्य का स्वरूप है। आकृति का चिन्मय भाव सौन्दर्य का तत्त्व है। व्यञ्जना का आकार उसका रूप है। वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं किन्तु उनकी घनिष्ठ आत्मीयता कला और काव्य के व्यक्त रूप में ही स्पष्ट होती है। वस्तुओं के बाह्य रूप और तत्त्व सौन्दर्य के अन्तरंग ही नहीं, किन्तु उसके आवश्यक उपकरण हैं जिनमें सौन्दर्य का चिन्मय-भाव और व्यञ्जना का सूक्ष्म रूप साकार होता है। जिन सामान्य भाव-तत्त्वों में हम सौन्दर्य मानते हैं वह समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यञ्जना के कारण ही है। प्रेम, करुण, शौर्य, ओज, साहस और सहानुभूति के सौन्दर्य का यही रूप है। बाह्य वस्तुओं के जिन विशेष रूपों में सामान्यतः सौन्दर्य की सत्ता मानी जाती है उनका सौन्दर्य अधिक वस्तुगत प्रतीत होता है। किन्तु इस सौन्दर्य की भावना कुछ वस्तुगत गुणों और व्यवस्थाओं के अनुरूप इन रूपों की प्रियता के कारण भी है। बाह्य वस्तु-तत्त्वों में कोई स्वरूपगत सौन्दर्य नहीं है। वे अपने वस्तुगत रूप तथा चिन्मय भाव के संयोग से ही सौन्दर्य के अधिकारी बनते हैं। चिन्मय भाव ही सौन्दर्य मूल स्रोत है। इसका कारण यह है कि

उसके संयोग से बाह्य तत्त्वों के सुन्दर रूप और अधिक सुन्दर बन जाते हैं। भाव का सौन्दर्य अपनी विभूति से ही रूप के सौन्दर्य को समृद्ध बनाता है। किन्तु भाव का यह सौन्दर्य एकान्त और आन्तरिक अनुभूति में ही पूर्ण नहीं है। बाह्य रूपों और तत्त्वों के उपकरणों और माध्यमों में ही वह साकार होता है।

सभी कलाओं में सौन्दर्य का यह समृद्ध, सम्पन्न और मूर्त रूप मिलता है किन्तु काव्य में सौन्दर्य के इन विभिन्न अंगों का समन्वय सबसे अधिक स्पष्ट है। केवल तत्त्व की सत्ता तो एक प्रत्याहार-मात्र है। तत्त्व सदा रूप से अभिन्न होता है। तत्त्व के आकार में ही रूप की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुओं के सभी रूप अपने-आपमें सुन्दर होते हैं। ऐसा कहना तो कठिन है, क्योंकि सभी वस्तु-रूप हमें अपनी सुन्दरता स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं करते। जिन वस्तु-रूपों को सामान्यतः सुन्दर माना जाता है उनमें अन्य रूपों की अपेक्षा कुछ विशेषताएँ होती हैं। कला और काव्य में वस्तु और वस्तु-रूप उपादान के रूप में ग्रहण किये जाते हैं। कला का रूप उसकी अभिव्यक्ति अथवा व्यञ्जना में है। इस व्यञ्जना में ही उसका सौन्दर्य है। इसीलिए यह व्यञ्जना असुन्दर उपादानों को सुन्दर और सुन्दर को सुन्दरतर बना देती है। चित्र-कला और संगीत में जीवन के भाव-तत्त्व से रहित केवल रूपात्मक योजना सम्भव है। यदि वर्ण (रंग) और शब्द को भी हम भौतिक वस्तु-तत्त्व मानें तो दूसरी बात है अन्यथा इन कलाओं के शुद्ध रूपों में स्थूल भौतिक तत्त्व का आधान आवश्यक नहीं है। इन कलाओं के ये शुद्ध रूप संवेदना की प्रियता, और अभिव्यक्ति (जिसका रूप यहाँ केवल रूप-रचना है।) के कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं। इन कलाओं के शुद्ध रूपों में जगत् के वस्तु-तत्त्व और जीवन के भाव-तत्त्व का आधान आवश्यक नहीं है। चित्र-कला की कल्पनाओं (डिज़ाइनों) और वाद्य संगीत में इन कलाओं का शुद्ध रूप मिलता है। किन्तु इसके अतिरिक्त इन कलाओं का अधिक प्रचलित और लोकप्रिय रूप वह है जिसमें जगत् के वस्तु-तत्त्व और जीवन के भावात्मक दोनों का समाहार होता है। कलाओं के इतिहास में कला का ही समन्वित रूप अधिक प्रसिद्ध और मान्य है। आधुनिक युग में पिकासो की चित्र-कला और प्रयोगवादी काव्य में वस्तु और वस्तु-रूप दोनों की उपेक्षा करके अभिव्यक्ति का एकांगी महत्त्व एक अद्‌भुत रूप में व्यक्त हुआ है। इसके पूर्व भी संगीत और आलंकारिक काव्य में अभिव्यक्ति की महिमा अधिक बढ़ी थी। किन्तु उसमें वस्तु और वस्तु-रूप की ऐसी उपेक्षा नहीं थी।

अस्तु, (सामान्यतः) कला और काव्य में वस्तु-तत्त्व, वस्तु-रूप और भाव का समन्वय मिलता है। चित्र-कला और संगीत में भी यह समन्वय बहुत समृद्ध रूप में मिलता है। किन्तु इसका सबसे अधिक सम्पन्न रूप काव्य में मिलता है। इसका कारण काव्य के माध्यम शब्द की विशेषता है। शब्द एक ओर वस्तु-तत्त्वों और वस्तु-रूपों के प्रतीक हैं। दूसरी ओर वे जीवन के भाव-तत्त्वों के व्यञ्जक हैं। चित्र-कला और संगीत की अभिव्यक्ति में भी अपनी विशेष मार्मिकताएँ हैं। भाव और रूप के क्षणों को जितने तीव्र रूप में व्यक्त करने की क्षमता चित्र-कला और संगीत में है उतनी काव्य में नहीं है। रूप के साक्षात् माध्यम में ये भाव सबसे अधिक तीव्र रूपों में चित्र-कला में व्यक्त होते हैं। चित्र-कला के दृश्य रूप पर आश्रित होने के कारण कला की अभिव्यक्ति के रूप में ही भाव-सम्पत्ति का अपार सन्निधान

होता है। शब्द के भाव-तत्त्व के मानसिक होने के कारण भाव-व्यञ्जना का चेतना में अपार विस्तार होता है। इस दृष्टि से जहाँ चित्र-कला की रूपगत अभिव्यक्ति में भाव का आधान अधिक है वहाँ संगीत की सार्थक स्वर-योजना में भाव-व्यञ्जना की शक्ति अधिक है। इसी कारण चित्र-कला अधिक कठिन है और कठिन होने के कारण वह कम प्रचलित है। चित्र-कला सृजन और अवलोकन दोनों की दृष्टि से अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक एकांगी है। दूसरे उसके सृजन और प्रदर्शन की क्रियाएँ अलग-अलग हैं। उनमें संगीत की भांति योगपद्य नहीं है। वैसे तो वास्तविक अथवा काल्पनिक किसी-न-किसी रूप में समात्मभाव सभी कलात्मक सौन्दर्य के मूल में निहित है। किन्तु संगीत में सृजन और प्रदर्शन के योगपद्य के कारण यह सबसे अधिक साक्षात् रूप में वर्तमान रहता है। साक्षात् समात्मभाव में आकृति की व्यञ्जना सबसे अधिक समर्थ होती है। व्यञ्जना के ग्राहकों का सहयोग इसे अधिक समृद्ध बनाता है। इस साक्षात् समात्मभाव के कारण ही क्षण-क्षण के जीवन में सौन्दर्य की इतनी सम्भावना है कि उसे कोई कला पर्याप्त रूप में व्यक्त नहीं कर सकती। इस साक्षात् समात्मभाव के कारण ही संगीत के साधारण शब्दों में व्यक्त साधारण भाव भी बड़े मर्मस्पर्शी बन जाते हैं। काव्य में यह समात्भाव साक्षात् न होने के कारण यह सहयोग कम मात्रा में मिलता है। यद्यपि इस सहयोग के बिना कोई कलात्मक अभिव्यक्ति सफल नहीं हो सकती। अतः चित्र-कला की भाँति काव्य में भी अभिव्यक्ति का रूप अपने स्वरूप में ही अधिक सम्पन्न और समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त काव्य में जीवन का भाव-तत्त्व एक व्यापक परम्परा के रूप में सन्निहित होता है। आकृति का विस्तार-व्यञ्जना की महिमा को बढ़ा देता है। आकृति के इस विस्तार और व्यञ्जना की इस व्यापकता के कारण काव्य में जगत् के वस्तु-तत्त्वों और वस्तु-रूपों तथा जीवन के भाव-तत्त्वों के सन्निधान की सम्भावना सबसे अधिक है। कलात्मक समन्वय से युक्त होकर यह सन्निधान काव्य को कला का सबसे अधिक सम्पन्न रूप बनाता है।

इस समन्वय की सर्वाधिक व्यापकता के कारण 'महाभारत' पंचम वेद माना जाता है। वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास की महिमा का भी यही रहस्य है। इनमें जीवन के भाव-तत्त्व और उनकी अभिव्यक्ति के रूप का ही समन्वय नहीं है। इसके साथ-साथ एक विशाल परिमाण में जगत् के वस्तु-तत्त्वों और वस्तु-रूपों का भी सन्निधान है। जीवन का भाव-तत्त्व काव्य को मर्मस्पर्शी बनाता है। अभिव्यक्ति उसे सुन्दर बनाती है। किन्तु जगत् के वस्तु-तत्त्व और वस्तु-रूपों का सन्निधान उसे यथार्थ का बल देता है। इस यथार्थ की भूमिका में ही अभिव्यक्ति का सौन्दर्य सत्य बनता है और भाव की गरिमा शिव बनती है। हिन्दी के भक्ति-काव्य में भाव अधिक है किन्तु जीवन के यथार्थ का सम्बल कम है। रीति-काव्य में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक है। किन्तु उसकी भाव-सम्पत्ति सीमित है। जगत् के रूप और तत्त्व का सन्निधान और भी कम है। इसीलिए जीवन और जगत् के यथार्थ के प्रति अधिक चेतना उत्पन्न होने के साथ-साथ भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की लोकप्रियता कम हो रही है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक और भाव-तत्त्व सीमित तथा जगत् के यथार्थ का सन्निधान स्वल्प होने के कारण हिन्दी का छायावादी काव्य भी लोक-मन को स्पर्श न कर सका। रवीन्द्रनाथ के काव्य में भी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक है। उसकी भाव-सम्पत्ति सीमित न होते हुए भी एकांगी नहीं तो उतनी व्यापक नहीं है जितनी कि ऐसे विशाल काव्य

के लिए होनी चाहिए। जीवन और जगत् के यथार्थ का सन्निधान भी उसमें आकार के अनुरूप नहीं है इसका कारण यही है कि रवीन्द्रनाथ को राजसी जीवन और जगत् की व्यापक यथार्थता का पर्याप्त स्पर्श सम्भव न था। यथार्थ की अनुभूति ही हो सकती है उसकी कल्पना कल्पना ही है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ और छायावादी कवियों का काव्य कल्पनाशील किशोर-किशोरियों को ही अधिक अनुरंजित कर सका। आज जब कि लोक की चेतना जीवन की भाव-सम्पत्ति की विशालता तथा जीवन और जगत् की यथार्थताओं के प्रति अधिक जागरूक हो रही है भक्ति-काव्य की भाँति ही रवीन्द्र के रहस्यवादी और हिन्दी के छायावादी काव्य की लोकप्रियता भी कम हो रही है। कल्पना के व्योम कुञ्जों का विहार जीवन की विषम यथार्थताओं का समाधान नहीं बन सकता। इसीलिए वर्तमान युग के मानव को जीवन और जगत् की यथार्थताओं तथा जीवन की विशाल भाव सम्पत्ति की महिमा से पूर्ण सुन्दर और ओजमयी अभिव्यक्ति से युक्त काव्य की अपेक्षा है। सन्तोष की बात है कि छायावादी युग के बाद के काव्य में इस यथार्थ और भाव-सम्पत्ति के प्रति अधिक जागरूकता दिखाई दी। इस परिवर्तन का सबसे अधिक श्रेय दिनकर को है। इस दृष्टि से दिनकर आधुनिक हिन्दी-काव्य के नव प्रभात के तेजस्वी सूर्य हैं। इस नव प्रभात में अभिनव हिन्दी-काव्य के अनेक आभामय नीरज खिल रहे हैं।

कृष्णानन्दन दीक्षित 'पीयूष'

उमापति-कृत 'पारिजात हरण' के गीत

यह बात निश्चय ही गौरवपूर्ण है कि जिस समय हिन्दी-साहित्य का प्रादुर्भाव हो रहा था, उस समय मैथिली भाषा उमापति और विद्यापति-जैसे मूर्धन्य कवियों की प्रसव-भूमि के रूप में महनीय हो चुकी थी। उमापति और विद्यापति एक ही मैथिली भाषा के दो प्रखर मणि-खण्ड हैं, जिनकी प्रसिद्धि ने हिन्दी साहित्य को बल प्रदान किया है। विद्यापति और उमापति दोनों ने मुख्यत: गीतों की ही रचना की है, जो उनकी प्रतिभा की यशस्वी परम्परा के पोषक सिद्ध हुए हैं। कहीं-कहीं विद्यापति और उमापति दोनों के गीतों में ऐसी समता मिलती है कि उन्हें पृथक् करना भी कठिन होता है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य के दो मनीषी कवियों—अश्वघोष और कालिदास के बीच कुछ श्लोकों को लेकर समता स्थापित की जाती है, उसी प्रकार उमापति और विद्यापति के मध्य भी समता की स्थापना सम्भव है। कहीं-कहीं तो एक ही पद दोनों कवियों के नाम के साथ चल पड़े हैं। इस असंबद्धता का कारण इनकी प्रामाणिक पाण्डुलिपियों का अभाव और लोक-कण्ठ में गाया जाना ही है। जहाँ तक इन दोनों कवियों के काल-निर्धारण का प्रश्न है, मैं ग्रियर्सन के साथ हूँ, अत: मैं उमापति के बाद ही विद्यापति को स्थापित करने के पक्ष में रहूँगा। ग्रियर्सन ने उमापति के काल-विचार पर विचार किया है, और उनका मत है—I have been unable to gather any paticulars regarding Umapati. If his patron was Harisena, then the poet must have preceded Vidyapati, the most famous master singer, who flourished nearly a century later, about the year 1400 A.D. under the later dynasty founded by Kameshwar Thakur.[१]

यह उमापति का दुर्भाग्य ही कहा जायगा कि अभी तक उन्हें विद्यापति के पूर्ववर्ती के रूप में नहीं देखा गया। फलत: उनके गीतों की दीप्ति विद्यापति के समक्ष जाकर अपने महत्त्व को खोती-सी जान पड़ती है। विद्यापति की प्रसिद्धि के समक्ष उमापति को वह स्थान प्राप्त नहीं हो सका जो उनको अपेक्षित था। उमापति के नाटक 'पारिजात हरण' के गीत मैथिली कीर्तनिया नाटकों की गीति-परम्परा के आदि स्वर के रूप में सम्पूज्य हैं। विद्यापति के गीति-काव्य की धारा को जो विस्तृत प्रवाह मिला उसमें जन-जीवन बह-सा गया, फलत: उसने उमापति का गीति-सौन्दर्य (जो इस धारा में अन्त:-सलिला के रूप में विद्यमान था) उपेक्षित करार कर दिया। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उमापति के गीतों का

१. G. Grierson J.B.O.R.S. VOL III, Part I, Page 26. **उमापति के काल-निर्णय पर मैंने स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र अपनी अप्रकाशित पुस्तक 'उमापति का पारिजात हरण' में विचार किया है।**

सौन्दर्य विद्यापति से कम है। जहाँ विद्यापति ने अपनी लम्बी आयु और विशिष्ट रचना-कौशल के बल पर असंख्य गीतों की रचना की है, वहाँ उमापति के गीतों की संख्या कम है। किन्तु कम संख्या में लिखे जाकर भी ये गीत उस प्रथम सान्ध्य-तारे की तरह हैं जो शून्य में अपनी उपस्थिति से नवीन चेतना को जन्म देता है। इस रूपक को प्रस्तुत करते समय मैं यह भी नहीं भूल रहा हूँ कि विद्यापति के गीत चन्द्र-ज्योत्स्ना के प्रतीक हैं, जो अपनी कमनीयता से मन को मोह लेती है। पर इतना होते हुए भी सांध्यतारा प्रथम अवस्थिति को लेकर अपनी विशिष्टता रखता ही है। जिस लोक-वाणी की गंगा को काव्य में उतारने का श्रेय विद्यापति को दिया जाता रहा है उसके वस्तुतः भगीरथ उमापति उपाध्याय ही हुए हैं। 'पारिजात हरण' के बीच जो गीत उमापति ने सजाए हैं, वे लोक-रुचि और उनकी मनोभावना के प्रति अदम्य निष्ठा के प्रतीक हैं। उनकी रचनाओं पर काम-शास्त्र का गर्हित प्रभाव नहीं, दूर को कौड़ी लाने की महनीय उत्कण्ठा भी नहीं है, पर उनमें जो सादगी, सरलता और स्वाभाविक जीवन की झाँकी है, वह विद्यापति में दुर्लभ है। इस सरलता को ही लेकर उमापति का महत्त्व होना चाहिए। महल के ऊपर कंगूरे पर जलने वाले दीपक का महत्त्व इस बात को लेकर है कि वह दूर से ही आते हुए पथिकों का ध्यान आकर्षित करता है, पर निम्न-प्रकोष्ठ में जलने वाला दीपक ही घर का अँधेरा हर लेता है। विद्यापति की तुलना उसी कँगूरे के दीपक से की जा सकती है जो अपनी प्रतिभा से दूरस्थ भू-भागों को आलोकित कर रहे हैं, पर उमापति की काव्य-प्रतिभा की दीप-शिखा निष्कम्प एवं एकाकिनी होकर हमारे घर के निम्न प्रकोष्ठ के तम को हर रही है। अब हम यहाँ उमापति द्वारा विरचित 'पारिजात हरण' नाटिका के गीति-सौन्दर्य की विवेचना उपस्थित करना चाहेंगे। हमारे आलोच्य-परिवेश में 'पारिजात हरण' के ही गीत हैं, जिनकी संख्या २० हैं। नाटिका में संयोजित इन बीस गीतों के भीतर एक समता स्थापित की जा सकती है। यह समता निम्नलिखित चार बिन्दुओं को लेकर सोची जा सकती है—

(क) 'पारिजात हरण' नाटिका के सभी गीत मैथिली भाषा में लिखे गए हैं, जो वाद्य-यन्त्रों की सहायता से गाए जाने वाले हैं। मालवा, ललित, केदार, वसन्त, वैजन्ती आदि राग-रागिनियों में ये बद्ध हैं।

(ख) ये सभी गीत नाटक की कथावस्तु से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। ये कथावस्तु को आगे बढ़ाने में सहायक हैं। नाटक से विच्छिन्न हो जाने पर इसमें के कई गीत तो अपना चमत्कार ही खो देंगे।

(ग) इन गीतों का अन्तिम चरण कवि और उसके आश्रयदाता, एवं उनकी पट्ट महिषी महेश्वरी देवी का उल्लेख करता है।

(घ) ये गीत शुद्ध मैथिली में रचित हैं, और मिथिला में लोक-प्रचलित कीर्तनिया नाटकों की गीति-परम्परा के आदि रूप में सोचे जा सकते हैं।

'पारिजात हरण'-जैसी छोटी-सी नाटिका में ये बीस की संख्या में गीत यद्यपि कुछ अस्वाभाविक एवं अत्यधिक प्रतीत होते हैं, किन्तु नाटिका के पठन के बाद यह बात पुष्ट होती है कि अभिनेयता की सुरक्षा के कारण भी यही गीत रहे होंगे। 'पारिजात हरण' के गीत प्रायः सम्पूर्ण कथा को प्रकट करने में समर्थ हो सके हैं। देवी वन्दना, नटी द्वारा मांगलिक गान,

कृष्ण-रुक्मिणी का रैवत वन-विहार, नारद का सभक्ति परिजात पुष्पसमर्पण, रुक्मिणी की गर्वोक्ति, सत्यभामा का प्रेम पश्चात्ताप, मान, कृष्ण द्वारा मान मोचन, दण्ड याचना, सत्यभामा की सम्पूर्ण पारिजात पुष्प की माँग, कृष्ण-इन्द्र युद्ध, पारिजात-वृक्ष प्राप्ति के बाद सत्यभामा की उसकी वंदना इत्यादि सभी उल्लेख्य प्रसंग इन गीतों के माध्यम से ही व्यक्त किये गए हैं। इन गीतों के माध्यम से जो कथावस्तु का विकास हुआ है, वह यह बतलाता है कि उमापति के काल में जनता की भाषा प्राकृत या अपभ्रंश न रहकर मैथिली ही हो गई थी। शास्त्रीय परम्परा के पालन के कारण ही इस नाटिका की भाषा अपभ्रंश और संस्कृत की गई अन्यथा यह सम्पूर्ण नाटिका विशुद्ध मैथिली में रचित हो सकती थी। 'पारिजात हरण' के इन मैथिली गीतों के माध्यम से नाटककार ने जहाँ पर्याप्त मनोरंजन एवं सरसता को प्रतिवेदित किया है, वहाँ वह समाजिकों (दर्शकों) को अपनी ओर से एक सहूलियत प्रदान करता हुआ भी दिखाई पड़ता है।

'पारिजात हरण' का प्रथम गीत 'जय-जय मधुकैटभ अर्दिनी' शक्ति को निवेदित है। फिर दूसरा गीत 'सुरतरु धन उपवन करु मण्डन बेदि रचल भल हिय अचला' शिव-पार्वती के प्रणय को लक्ष्य करता दिखाई पड़ता है। शेष अठारह गीतों में कृष्ण और सत्यभामा के प्रेम की गाथा चित्रित की गई है। यहाँ पर उमापति में 'अन्त: शाक्ता-बहिः शैवाः' का प्रमाण मिल जाता है। इन गीतों की योजना कथानक को गति देने के लिए की गई है। इनमें गीति-काव्य की संगीतात्मकता तो है (क्योंकि ये राग-रागिनियों में बद्ध हैं) पर इनमें वैयक्तिक चेतना का स्फोट नहीं है। फलत: ये गीत विद्यापति के पदों के लालित्य और आत्मनिष्ठता के सोपान तक नहीं पहुँच पाते। पर विद्यापति के पूर्ववर्ती कवि में जो भी अपेक्षित गुण होने चाहिएँ उनका निर्वाह ये गीत करते दिखाई पड़ते हैं। प्रवेशिकाएँ, भक्ति-वंदना, नर-याचना, कृतज्ञता प्रकाशन से सम्बन्धित गीतों में काव्य का निदर्शन नहीं है। कृष्ण-प्रवेशिका में 'भूमिक भार उतारब गरब हरब सुरराजक' कहकर अवतार के हेतु पर विचार किया गया है। इस नाटिका का उद्देश्य मूल रूप से इन्द्र का गर्वदलन ही प्रतीत होता है। इन गीतों में यत्र-तत्र स्थूल रूप से वर्णन का आभास भी मिलता है, यथा नारद के परि-धान आदि का वर्णन। 'सत्यभामा प्रवेशिका' में जो गीत आये हैं उनमें आलंकारिक ध्वनि पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

देखई यह चांदकला क सन्देह,
वसुधा वस बन, बिजली रेह,
मणिमय-भूषण अंग अलूल।

ये पंक्तियाँ आगे आने वाले विरह की अच्छी पृष्ठभूमि बन जाती हैं। नारद की भक्ति-प्रार्थना, उनका पारिजात समर्पण करना, रुक्मिणी का उत्सव गीत, सत्यभामा का पारि-जात वृक्ष माँगना इत्यादि प्रसंगों के गीत इतने तथ्यात्मक हैं कि इनमें गीत की आत्मा के दर्शन नहीं होते हैं। अन्तिम गीत में जो मंगल-कामना की गई है, वह अपनी लोक-भावना और सरलता दोनों का आकर्षण लिये हुए है।

जगधर समय करय जलदाने

'पारिजात हरण' का गीति-सौन्दर्य उन गीतों को लेकर है जो रति-भाव पर अव-

लम्बित हैं। नारद द्वारा वर्णित इन्द्र-युद्ध वर्णन अपवाद के रूप में रखा जाता है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। इन गीतों की योजना कहीं-कहीं तो अभूतपूर्व है। इन गीतों को लक्ष्य करके जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है—Some of the Umapati lyrics in the present world will be recognised as worthy specimens of his dainty poetical style.[१] इन गीतों में विरह का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया गया है। 'सखि हेरलस रसचलु फुलवारि' वाले गीत में उसका उल्लास विशेष रूप से द्रष्टव्य है। वह कृष्ण के अनन्य रूप पर कितनी ही उत्प्रेक्षाएँ करती हैं। कृष्ण को देखने का यह चाव प्रेम की अनन्यता का ही सूचक है। कृष्ण का मुकुट मेरु शिखर का सूर्य है। सुघर नेत्र-युक्त मुखमण्डल दो कमलों से युक्त एक चन्द्रमा है। हृदय पट की माला अंजनगिरि पर लहराती हुई सुरसरि की माला है।[२] फिर उसी प्रकार रुक्मिणी-हरण का रैवत वर्णन बसंत की सम्पूर्ण मादकता लिये इस मान की अच्छी पृष्ठभूमि बन गया है।[३] उसका तात्कालिक हेतु है रुक्मिणी को पारिजात-पुष्प का उपहार प्रदान करना। सुमुखि द्वारा मानवती हतचेता सत्यभामा के चिन्तन में भ्रांतिमान अलंकार का प्रयोग कवि-कौशल का श्रेष्ठ प्रमाण है। वह आरसी में मुखबिम्ब को चन्द्रमा मानकर कुपित है, छाती पर उसका हाथ कमल के स्पर्श का भाव उत्पन्न करता है। अपनी बोली को पिकरव समझकर विरहिन 'हरि हरि' कह उठती है।[४] सत्यभामा का प्रेम पश्चात्ताप भी कृष्ण को दोषी करार नहीं करता। यह प्रेम की भारतीय मर्यादा का पालन है। निम्नांकित विरोध में उसके विरोध की तीव्रता अवश्य परिलक्षित होती है।

हरि सऊँ प्रेम आस कप खाओल
पामोल परिभव ठाये
जलधर छाहरि तर हम सुतलहुँ
आतप येल परिनामे ॥[५]

किन्तु यहाँ विरोध का लक्ष्य कृष्ण नहीं स्वयं सत्यभामा की अपनी अवस्था है। स्नेह का खण्डन उसकी दृष्टि में स्वभाव है, जैसे सर्प पोष्य नहीं मानता। अमृत में भीगे रहने पर भी पाषाण कोमल नहीं होता। यहाँ दृष्टान्त की ओर हमारा ध्यान जाता है। इसे विरह-प्रलाप के रूप में भी माना जा सकता है। इसके संगठन में उद्दीपनों का भी कम

१. Grierson. J.B.O.R.S. Vol. III. Part I.

२. **सखि हेरलस रस चलु फुलवारी।**
वहाँ मिलत मोहि मदन मुरारी॥
कनक मुकुट मोहें मनि भल भासा।
मेरु सिखिर जनि दिन मनि वासा॥
सुन्दर नयन वदन सानन्दा।
उगल-जुगल कुवलय लव चन्दा॥
(गीत संख्या ८)

३. **द्रष्टव्य गीत संख्या ३ (वसंत वर्णन)—'पारिजात हरण' उमापति उपाध्याय।**

४. **द्रष्टव्य गीत संख्या १०—'पारिजात हरण' : उमापति उपाध्याय।**

५. **द्रष्टव्य गीत संख्या ११—'पारिजात हरण' : उमापति उपाध्याय।**

हाथ नहीं है। पूर्ण चन्द्र, कोकिल, अलिकुल इत्यादि उद्दीपन के तत्त्व विरहिन को ले डूबते हैं। उसे अपना जीवन असह्य हो जाता है। कृष्ण के द्वारा मान-मोचन का प्रसंग विशेष के तल पर आधारित है। मानिनी नायिका का वदन कोमल कमल से, अधर मधुर पुष्प की रक्तिमा से एवं समस्त शरीर ही पुष्प से निर्मित है। पर इस क्रूर विधाता को तो देखिए कि इसने इस पुष्पावली प्रेमिका का हृदय ही पाषाण से निर्मित कर दिया है। हृदय की इस निष्ठुरता का वर्णन कृष्ण द्वार कराकर उमापति ने अपनी काव्य-कला की विदग्धता प्रदर्शित की है।[1] यहाँ गम्भीर वृत्ति का अभाव खटकने वाला है। कृष्ण यह नहीं समझ पाते कि यह मान ईर्ष्याजन्य न होकर स्पर्धाजन्य है। सत्यभामा ने एक शब्द भी रुक्मिणी के विरोध में नहीं कहा है। उसे पारिजात पुष्प नहीं चाहिए। उसे अपने मान की बड़ी चिन्ता है। उसका मान तब जाता है जब कृष्ण-इन्द्र-युद्ध होता है। 'तनि बिनु ओरे नयन बरस इन जल-धार सम' का ही फल है कि वह पारिजात वृक्ष के साथ-साथ कृष्ण को भी पा लेती है और उसके मान का अन्त हो जाता है।

'कीर्तिलता' में युद्ध का जो विशद वर्णन विद्यापति ने किया है, वह स्तुत्य है, पर 'पारिजात हरण' में नारद द्वारा वर्णित कृष्ण और इन्द्र का युद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] इन्द्र और कृष्ण के बीच होने वाला युद्ध अत्यन्त रोमांचकारी है। मैथिली-जैसी कोमल प्राण भाषा से ओज का यह स्वर निकालना उमापति-जैसे समर्थ कवियों से ही सम्भव है। महाकवि पंत की 'गा कोकिल वर्षा पावक कण' की उक्ति यहाँ उमापति ने सहज ही चरितार्थ कर दी है। मैथिली-जैसी कोमलकान्त भाषा से ओजपूर्ण वीरत्व का यह स्वर निकालना कोकिल के स्वर से अंगारों की वर्षा कराना ही है। इस प्रकार 'पारिजात हरण' के गीत में श्रृंगार और वीर दोनों प्रमुख रसों का आलोड़न मिलता है। यहाँ तक तो हमने उमापति के गीतों की विवेचना भाव-भूमि के आधार पर की है। पर यहाँ यह बात भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 'पारिजात हरण' के गीतों का कला पक्ष भी बहुत सधा हुआ है। शब्दालंकारों, अर्थालंकारों के साथ सभी गुणों, वृत्तियों एवं रीतियों का शास्त्रीय रूप में पालन किया गया है। उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष, वक्रोक्ति और वीप्सा तो स्वाभाविक रूप में मिलते हैं। पर कहीं-कहीं तो एक ही गीत में अनेकानेक प्रमुख अलंकारों की योजना की गई है। यहाँ कुछ प्रमुख अलंकारों का उदाहरण 'पारिजात हरण' में से दिया जा रहा है—

(क) जलधर छाहहि हम सुतलहुँ
आतप भेल परिनामे। (परिकरांकुर)

---

१. द्रष्टव्य : गीत संख्या १३ : 'पारिजात हरण' : उमापति उपाध्याय।

२. ऐरावत असबार पुरन्दर घन भूखन घन हाथे।
सहस तुरग रथ चढ़ल धनुर्धर तनय जयन्तक साथे।।
भाई भाईरन मेल भयंकर गजबर गरुड़ डरन्ता।
अचरज देखय देवगन आयल गिरिस गौरिपरगन्ता।।
सारंग सर सुरपति उर वेधल गांडिव पाणि जयन्ता।
ठामहि ठोर ठोकि विनता सुत भाउल दिग्गजदन्ता।।
—पारिजात हरण, गीत संख्या १७।

(ख) पुरुष पिरिति रिति हनिजऊँ विसरल ।
तहश्रो हुनकर दो से ।। (आक्षेप)

(ग) कतेक जतन घटि जऊँ परिचालिश्र ।
सांप न मानय पोले ।। (लोकोक्ति)

(घ) नव मधुर मधुर सुमुगुध मधुकर निकर निकरस श्रावहीं ।
जनि मानिनीजन मान भंजन मदन गुरुगुन गावहीं ।। (उपमा)

इस प्रकार प्रमाण के लिए अनेक उदाहरण रखे जा सकते हैं। ये अलंकार कृत्रिम अलंकरण के रूप में न आकर स्वाभाविकता के साथ आये हैं। सिद्ध रसज्ञ कवि की रचना के ये बंकिम छींटे हैं जिनसे पाठक का हृदय रसार्द्र हो जाता है। उमापति-विरचित 'पारिजात हरण' के गीत भाव, भाषा और शिल्प की दृष्टि से हिंन्दी गीति-कविता के उच्चतम सोपान के साझीदार हो सकते हैं। विद्यापति के गीतों के माधुर्य पर हम मोहित हैं, पर उसके पूर्ववर्ती इस कवि की रचनाओं की दीप्ति कुछ ऐसी है जो मन को झकझोर देती है। ये गीत धूलि के ढेर में छिपे हुए मणि-खण्ड हैं जिनकी दीप्ति और प्रतिभा की परख हमें करनी है।

प्रस्तुत प्रश्न

डॉ० प्रेमशंकर

परती : परिकथा

इधर लगभग दो दशकों के भीतर प्रकाशित अधिकांश नई पुस्तकों की समीक्षा पर हम यदि दृष्टि डालें तो एक आश्चर्यजनक तथ्य हमें प्राप्त होगा। उन कृतियों की समीक्षा का कोई सन्तुलित आधार नहीं रहा है और उनके विषय में कभी-कभी पूर्णतया विरोधी विचार भी मिलते रहे हैं। इसका कारण है साहित्य में वादग्रस्त भावनाओं का आधिक्य! सन्तोष का विषय है कि 'परती : परिकथा' इस प्रकार की विरोधी समीक्षाओं की सीमा से बहुत ऊपर है। सम्भव है किसी प्रबल आकर्षण से बिंधकर आलोचकों ने उसकी आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर दी हो, और उसका अधिक सन्तुलित मूल्यांकन कुछ समय के अनन्तर ही हो। किन्तु इसका कारण यह भी है कि एक लम्बे अन्तराल के बाद एक सुन्दर कृति हमारे समक्ष आई है और उसने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। अभाव की पूर्ति करने वाली कृति को यह लाभ मिल ही जाता है। श्रीपतराय आदि एकाध एकाकी स्वरों को छोड़कर अधिक समीक्षकों, पाठकों ने इस कृति को सराहा है। जहाँ फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' से एक अभाव को भरा है वहीं यह भी ध्यान रखना होगा कि यह उनका आरम्भिक चरण है, जिसमें प्रतिभा है और इसी कारण उनसे आशाएँ हैं.......।

'परती : परिकथा' अपने शीर्षक से ही अपनी कथा-वस्तु का संकेत कर देती है। लेखक ने उपन्यास का आरम्भ करते हुए कहा है—'धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती........। कथा होगी अवश्य इस परती की भी। व्यथा-भरी कथा, वन्ध्या धरती!' इस परती पृथ्वी का केन्द्र उसने परानपुर ग्राम को बनाया है, जिसे हम उपन्यास का प्रमुख रंगमञ्च स्वीकार कर सकते हैं। परानपुर को लेखक ने एक वैशिष्ट्य प्रदान किया है, उसे एक असाधारण गरिमा दी है। काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र आदि अनेक स्थानों का ऐतिहासिक गौरव है, जिसका प्रयोग कोई भी लेखक किंचित् सरलता से कर सकता है। किन्तु रेणु ने देश के एक छोटे-से अचीन्हे अंचल को लिया है और अपनी लेखनी से उसकी पूजा-रचा ली है। परानपुर का परिचय कराते

हुए वे लिखते हैं—'परानपुर की प्रतिष्ठा सारे ज़िले में है। सबसे उन्नत गाँव समझा जाता है। इस इलाके में सबसे उन्नत गाँव है परानपुर। किन्तु, जिस तरह बाँस बढ़ते-बढ़ते अन्त में झुक जाता है, उसी तरह यह गाँव भी झुका है....।' इस परानपुर ग्राम की विशेषताओं की चर्चा करते हुए लेखक कहता है। लोग यहाँ के दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोलकर देख लेते हैं। फारबिसगंज की किसी दुकान में चले जाइये, ज्यों ही मालूम हुआ कि परानपुर का ग्राहक आया है, दुकानदार अपनी बिखरी हुई चीज़ों को समेटना शुरू कर देता है....। हाकिम-हुक्काम भी यहाँ के लोगों से बातें करते समय इस बात का खयाल रखते हैं कि सिर्फ एक गाँव में, एक ही वर्ष के अन्दर सरकार के तीन-तीन विभागों के अधिकारियों की आँखों में धूल झोंकी गई...। ट्रेन के चैकर जानते हैं, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते। चार्ज करने वाले चैकर को रोड़े और पत्थरों से भाड़ा चुकाते हैं ये...।' परानपुर के वर्णन और आगामी पृष्ठों में वहाँ होने वाले अभिनय को देखकर कोई व्यक्ति प्रश्न कर सकता है, कि क्या उस ग्राम में सभी-कुछ वर्तमान था? इसका कारण यही है कि रेणु उस अंचल के माध्यम से सामयिक ग्रामीण जीवन का ही चित्र प्रस्तुत कर देना चाहते थे।

'परती : परिकथा' का कथा-पक्ष समीक्षाओं में सर्वाधिक विवाद का विषय बन सकता है। आरोप लगाया जा सकता है कि इसमें आदि से अन्त तक कोई केन्द्रित कथा नहीं है, जैसे उसका कोई गन्तव्य न हो। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि 'परती : परिकथा' स्थूल दृष्टि से एक कथा-समूह प्रतीत होगा। किन्तु उपन्यासों की कथा-परम्परा से किंचित् अलग हटकर यदि हम विचार करें तो हमें उपन्यासकार की प्रतिमा को सराहना होगा। मैं 'रेणु' को एक सफल कथा-निर्माता मानता हूँ। वे कहानियाँ गढ़ना जानते हैं, सुनाना जानते हैं। यह उनका अपना दुर्लभ गुण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कई प्रकार की कथाएँ हमें देखने को मिलती हैं। परती से सम्बन्धित अनेक लोक-कथाएँ हैं, जो जन-जीवन का एक अविच्छिन्न अंग हैं। 'सुन्नरि नैका', 'रानी डूबी घाट', 'शामा चकेवा', 'कोहबट रांड़ी' आदि से सम्बन्धित कथाएँ ऐसी ही हैं। इन कथाओं में सबसे प्रभावशाली और मार्मिक कथा सुन्नरि नैका की है। 'इस कथा के अन्त में, सभी बाल-बच्चे वाली महिलाओं से रंघू (कथावाचक) ने प्रार्थना की। उसकी सफेद दाढ़ी से झर-झरकर आँसू गिर रहे थे...।' इन लोक-कथाओं के अतिरिक्त अनेक छोटी-छोटी कहानियों का समावेश उपन्यास में है। ऐसा लगता है जैसे उपन्यास के हर महत्त्वपूर्ण पात्र की अपनी एक कथा है। जितेन्द्र को हम 'परती : परिकथा' का प्रमुख पात्र स्वीकार कर सकते हैं। उसकी और ताजमनी की एक कथा है। जितेन्द्र के आरम्भिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है—मिसेज रोजउड अथवा गीता मिश्र की डायरी से। जितेन्द्र के पिता शिवेन्द्र मिश्र का रोमांचकारी जीवन और एक विदेशी महिला का भारत-प्रेम इस डायरी की कथा-वस्तु हैं। डायरी के पृष्ठ जितेन्द्र की कथा से ही सम्बद्ध कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें उसके पिता की ही कथा तो है। इसीमें पंचचक्र का वर्णन है, जिसमें किसी सीमा तक पौराणिक स्पर्श आ गया है। इस प्रमुख कथा के अतिरिक्त दिलबहादुर, कंछीचाचा, सुवंशलाल, मलारी आदि की भी कहानियाँ हैं। इस प्रकार यह उपन्यास एक कथा-सागर है। किन्तु इस कारण क्या उसे एक कथा-

संग्रह मात्र की संज्ञा देनी होगी ? वास्तव में लेखक ने बड़े कौशल से इन सभी छोटी-छोटी कथाओं को जितेन्द्र की प्रमुख कथा से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है। और परती के विशाल रंगमंच पर होने के कारण उनमें एक तारतम्य आ गया है। विच्छिन्न होकर भी वे परस्पर-सम्बद्ध हैं। अनेक कथा-प्रसूनों को जैसे उपन्यासकार ने एक ही अनुभूति-तन्तु से आबद्ध कर लिया है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यदि इनमें से एक-दो कहानियाँ निकाल दी जायँ तो उपन्यास की मुख्य कथा-धारा में अधिक अन्तर न आयगा, किन्तु इतना निर्विवाद है कि उसकी रोचकता कम हो जायगी। इसका कारण यह है कि सभी कथाएँ किसी सीमा तक रोचक हैं; उनकी एक सार्थकता है। कैण्टरबरी टेल्स और अरेबियन नाइट्स-जैसी कथाएँ ये नहीं हैं। ये कहानियाँ एक भूमि-खण्ड की जीवन-गाथा कहती हैं। 'परती : परिकथा' में कथानक की दृष्टि से एक विरलता प्रतीत हो सकती है, किन्तु इसे मैं 'रेणु' के एक प्रयोग-रूप में स्वीकार करता हूँ, जिसकी सफलता-असफलता का निर्णय उनके भावी विकास पर निर्भर करेगा। इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि 'परती : परिकथा' में वे एक अत्यन्त रोचक कथा-वाचक हैं। परती से लेखक का जो एक रागात्मक सम्बन्ध है, वह इन कहानियों में झलक आया है।

उपन्यास की विषय-वस्तु की चर्चा करते हुए फ्लाबर्ट ने लिखा है कि 'उपन्यास के लिए सुन्दर विषय-वस्तु वह है जो एक पूर्ण खण्ड, एक सम्पूर्ण आकार बनकर आए। उसका एक आरम्भिक विचार (mother-idea) होता है जिससे अन्य धाराएँ प्रवाहित होती जाती हैं।' 'परती : परिकथा' में परानपुर की परती धरती और उसके भूमिपति जितेन्द्रनाथ मिश्र दो प्रमुख कथा-स्रोत हैं, जिनसे अन्य कथाएँ सम्बन्ध रखती हैं। कथा का गन्तव्य है—परती की कहानी को प्रस्तुत कर देना। और यह कथा उसके भूमिपति के अभाव में अपूर्ण ही कही जायगी। जितेन्द्र का जो जीवन इसमें अंकित हुआ है उसे हम ढहते हुए सामन्त-वादी युग की कथा कह सकते हैं। और परती की कथा में आशा और विश्वास के स्वर हैं। उपन्यास के अन्त में लेखक ने लिखा है—'सेमलवनी के आकाश में अबीर गुलाल उड़ रहा है। आसन्नप्रसव परती हँसकर करवट लेती है।' परानपुर और उसके इतिहास जितेन्द्रनाथ की कथा उपन्यास का मूल-बिन्दु है, जिसे पूर्ण सावधानी के साथ प्रस्तुत किया गया है। छोटी कहानियाँ संक्षेप से कह दी गई हैं किन्तु उनमें भी मार्मिकता की कमी नहीं है। मलारी की ही कथा को लें। महीचन, (मलारी का पिता) अपनी बेटी के जन्म के बाद से ही दाँत किटकिटाता है···। साली इतनी गोरी कैसे हो गई? सौरघर में ही घुसकर उसने अपनी स्त्री को लात से मारते हुए कहा था—अब बोलो ? यह गोरी मरी छोंड़ी मलारी कहाँ से आई ? इसका मुँह योगेन्दर भुमिहरवा के जैसा क्यों है ? मलारी बढ़ती गई और महीचन का गुस्सा भी उसी अनुपात में बढ़ता गया। मलारी की माँ कम चालाक नहीं। दो वर्ष की उम्र में ही मलारी की शादी करा दी उसने, एक जवान रैदास से।······ दो वर्ष की बेटी अपना धन नहीं। पराये की चीज है, कोई कुछ नहीं कहे! लेकिन वर्ष लौटते-लौटते मलारी बेवा हो गई······।' उपन्यास की प्रमुख धारा से कुछ हटकर बहने वाली कथा-धाराओं में सबसे प्राणवान कथा जितेन्द्रनाथ के पिता शिवेन्द्रनाथ मिश्र की है, जिन्होंने एक अंग्रेज महिला मिसेज रोडउड, (आगे चलकर गीता मिश्र) से विवाह किया था।

'परती : परिकथा' की ये कथाएँ स्वयं में पूर्ण हैं, किन्तु परानपुर की धरती उन्हें एक सामाजिक दिशा देती है; उन्हें एक गन्तव्य तक ले जाती है। कथा में जड़ता नहीं है, उसमें गति है, दिशा है।

कथाएँ गढ़ना और उन्हें अत्यन्त रोचक ढंग से सुना देना जहाँ 'रेणु' की प्रमुख कला है, वहीं उनका दूसरा गुण है चरित्र-सृष्टि! 'परती:परिकथा' के पात्रों की संख्या देखकर आश्चर्य होता है। एक विशाल जन-समूह ही एकत्र हो गया हो मानो! अनेक पात्रों को एक स्थान पर लाकर प्रस्तुत कर देना स्वयं में कोई सिद्धि नहीं है। दाँते की 'डिवाइन कामेडी' में भी उनकी कमी नहीं है। रेणु की चरित्र-सृष्टि की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने सभी का अंकन सबल रेखाओं से करना चाहा है। जहाँ तक रेखांकन का प्रश्न है 'को बड़-छोट कहत अपराधू।' कथा-धारा में पड़कर कुछ पात्रों का चरित्र अधिक उभरकर आया है, किन्तु इस उपन्यास में ऐसे निरर्थक पात्र नहीं हैं जिन्हें केवल गणना के लिए अपनी खानापूरी के लिए रख दिया गया हो। ये सभी चरित्र परती जमीन के जीवन की विभिन्न दिशाओं के प्रतीक हैं। परानपुर के महोत्सव में सम्मिलित होने वाले ये चरित्र अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से पूरित हैं। वे किसी वर्ग के प्रतिनिधि-मात्र नहीं हैं। वे अपना एक जीवन जीते हैं। रेणु ने इनके बाहर-भीतर दोनों पक्षों का अंकन सफलता से किया है। मिसेज़ लीवी ने उपन्यास पर विचार करते हुए लिखा है—'चरित्र पाठक की सृष्टि है; लेखक की नहीं। वस्तुतः उपन्यास को केवल यही करना है कि वह उन्हें सबल रेखाएँ दे दे। पाठक उनसे सहयोग करेगा ताकि उसे निश्चय हो जाय कि वह वास्तविक व्यक्तियों के साथ है।' इस कथन की दृष्टि से 'परती: परिकथा' के सभी पात्रों का अंकन सबल रेखाओं से हुआ है। उनके शारीरिक वर्णन की ओर भी लेखक का ध्यान गया है, पर मुख्यतया उसने उनकी आत्मा को गढ़ने का प्रयास किया है। सभी पात्रों को लेखक ने एक व्यक्तित्व दिया है। इतने सारे चरित्रों को अलग-अलग व्यक्तित्व दे देना, उपन्यासकार की जागरूक प्रतिभा का प्रमाण है। ये सब चरित्र केवल वर्णन-मात्र के लिए ही नहीं रख दिए गए हैं। कथा की धारा में इनका योग भी है। छोटे-से-छोटे पात्र को यदि रंगमंच से हटा दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे उपन्यास का ताप कुछ कम हो गया है। जितेन्द्र और ताजमनी, शिवेन्द्र और गीता आदि प्रमुख पात्रों को कथा-धारा में अधिक स्थान मिला है, किन्तु साधारण-से-साधारण पात्र भी लेखक की सबल रेखाओं का संस्पर्श पाकर अविस्मरणीय बन गया है। यहाँ तक कि जितेन्द्र का कुत्ता मीरा और शिवेन्द्र का घोड़ा मूँगा भी उपन्यास की मार्मिकता में सहायक हैं। पात्रों की चारित्रिक रेखाओं पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगा कि कहीं भी पुनरावृत्ति दोष नहीं है। अपनी विशेषताओं से समन्वित होकर वे आए हैं। शिवेन्द्र मिश्र सामन्ती युग के प्रतीक हैं। उनकी पत्नी मिसेज रोजउड (गीता मिश्र) 'पूरब-पगली' हैं। शिवेन्द्र का पुत्र जितेन्द्र स्पष्ट देखता है कि सामन्ती परम्परा ढल रही है। वह नये आलोक को पहचानकर परिस्थिति से समझौता कर लेता है। ताजमनी 'अद्वितीया सुन्दरी' है। सामबत्ती 'घटघुमनी' है। गरुड़धुडा झा 'आधुनिक नारद' हैं। मुन्शी जलधारी लाल 'कलम के हज़ार करतब' जानते हैं। मिम्मल मामा की अपनी एक अलग ही भाषा है। लुत्तो 'राजानीति' जानता है। प्रेमकुमार दीवान 'कलात्मक प्रेम' के प्रतीक हैं। इतने अधिक पात्रों को लेखक तभी

उभार पाया है, जब कि उसने किसी का पक्ष नहीं लिया। इतने चरित्रों का अंकन एक ओर उसके मानव-अध्ययन का प्रमाण है तो दूसरी ओर हमें लेखक की सामर्थ्य को भी सराहना पड़ता है।

दो-चार चरित्रों पर दृष्टि डाली जाय तो उन सबल रेखाओं का आभास मिल जायगा, जिनसे इनका निर्माण हुआ है। पिता के समय से चले आते हुए जितेन्द्र की स्टेट का काम सँभालने वाले मुन्शी जलधारी लाल, जिन्हें बिना पढ़े-लिखे लोग सरवसोधनलाल दास कहते हैं। जिस कचहरी में रहा, उसका सब-कुछ सोख लिया।···साठ साल से ज्यादा उम्र। लहीय-सहीय देह, साँवला रंग, नाटा कद और खिचड़ी दाड़ी-मूँछ वाली सूरत पर भेद-भरी मुस्कराहट हमेशा खेलती रहती है। दोनों कानों पर सफेद बालों के घुँघराले गुच्छ, गर्दन पर दाद के बड़े-बड़े चकत्ते और ताम्बूल-रंजित काले दाँत।' उनकी कलम की मार अचूक होती है। उन्होंने 'जीत का कागज कभी कमजोर न होने दिया।' सुरपतिराय लोक-साहित्य का प्रेमी है। 'वह सात घाटों का पानी पी चुका है। कर्बला, रानी डूबी, संझा तथा गीत-वास घाट के आस-पास के गाँवों में पिछले छ: महीने से घूम रहा है, वह।' जितेन्द्र के विरोधियों में सबसे प्रबल है लुत्तो। उसके पिता लरैना ने जीत के पिता शिवेन्द्र मिश्र के साथ भारी विश्वास-घात किया था और उसे दण्ड मिला था। लुत्तो अपने पिता के अपमान का बदला जीत से लेना चाहता है। इसीलिए वह कांग्रेस में आया है। 'खवास' सुनते ही उनके मर्म को चोट लगती है। 'बचपन से ही उसे रात-भर आँख खोलकर सपना देखने का रोग है। तीन बजे तक उसे नींद नहीं आती। सुबह, आठ बजे तक सोता है। क्या करे लुत्तो ? वही जो, पाँच या सात वर्ष की उम्र में एक रात को नींद उचटी, सो उचटी ही हुई है।' राजनीति को लेकर चलने वाले पात्रों में हैं मकबूल। नाम से भ्रम होता है कि खाँ साहब हैं। पर हैं वे पीतम्बर झा—नीलाम्बर झा के छोटे भाई। कॉमरेड हैं। दाढ़ी—'मकबूल खुद कैंची और रेजर से तराशते है, लेनिन की फोटो सामने रखकर, उससे एकदम मिलाकर।' और क को क, ख को ख, ग को ग कहने की आदत है, उनकी ! गरुड़धुज झा के पास दिन-रात मवक्किल चक्कर मारते हैं। वे चाहते हैं 'लड्डू लड़े तो बुँदिया झरे।'

प्रमुख पात्रों में शिवेन्द्र मिश्र का वर्णन करते हुए रेणु ने लिखा है—'शिवेन्द्र तो माखन-जैसे मन वाला है ! रक्त चम्पा की तरह शरीर का रंग, लाल ओठ ! छोटी-छोटी किन्तु सँवारी हुई मूँछें ! गाढ़े लाल रंग की धोती, केसरिया रेशमी मिर्जई, ढाकाई झीनी चदरी, जिसके कोर-छोर पर सुनहरी तारों की कारीगरी। उँगलियों में रत्नजटित अँगूठियाँ।' और लोग इससे डरते हैं। बाघ की तरह भय खाते हैं। जितेन्द्र 'परती-पुत्तर' है—इरावती के शब्दों में। वे भली प्रकार जान जाते हैं कि सामन्ती-प्रथा समाप्ति पर है और इसीलिए समय के साथ वे आगे बढ़ते हैं। स्त्री-पात्रों में ताजमनी, मलारी, गीता मिश्र सभी का चरित्रांकन सफलता पूर्वक किया गया है। विशेषता तो यह है कि छोटे-से-छोटा पात्र भी लेखक ने 'यों ही' नहीं छोड़ दिया है। ब्रेटी, उसके पति राजा महीपालसिंह, जितेन्द्र के प्रति स्नेह भाव रखने वाली इरावती, गीता मिश्र का दरबान हीरा, असंख्य पात्र अपनी चारित्रिक विशेषताएँ लेकर हमारे समक्ष आते हैं। चरित्रों की इस राशि को देखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि रेणु ने जीवन की विविधताओं से परिचय प्राप्त किया है और मानव-चरित्र

के अध्ययन में उनकी गहरी रुचि है। सन्तोष का विषय है कि पात्रों की सृष्टि करके उन्होंने उनके निर्वाह का भी सफल प्रयत्न किया है। नहीं तो कुछ उपन्यासकार अपने पात्रों को विचित्र रीति से विलुप्त कर देते हैं। इतने अधिक पात्रों की सृष्टि का उद्देश्य जीवन की विविध दिशाओं की ओर संकेत कर देना है। हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों की चरित्र-सृष्टि से यदि हम रेणु की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि उसमें मानवीय दृष्टि का प्रबल आग्रह है और चरित्रों के निर्माण में लेखक ने किंचित् तटस्थ रहने की कोशिश की है। प्रेमचन्द के पात्र प्रतिनिधि-पात्र हैं। वे 'टाइप' बनकर आते हैं। यशपाल और 'अश्क' के पात्र अपनी सामाजिक पीठिका में बनते-बिगड़ते हैं। वे संस्कारजन्य भी होते हैं कभी-कभी। अज्ञेय और इलाचन्द्र के पात्रों की मानसिक भूमिका है, वे मनोविश्लेषण के अधिक निकट हैं। रेणु के पात्र अपनी व्यक्तिगत सबलता-दुर्बलता, आशा-आकांक्षा से समन्वित हैं। वे अपनी एक पृथक् सत्ता रखते हैं, अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व! कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे 'परती : परिकथा' का लेखक मनुष्य के असंख्य रूपों का ज्ञाता है और उनका चित्रकार भी। और इस दृष्टि से वह टॉलसटाय और गेटे के अधिक समीप है।

अनेक कहानियों से भरे कथानक और विविध प्रकार के चरित्रों की विवेचना के अनन्तर हम यह देखना चाहेंगे कि उपन्यास में कुछ समस्याओं का, प्रश्नों का प्रतिपादन है कि नहीं। यों तो उपन्यासकार का यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसी राजनीतिज्ञ अथवा दार्शनिक की भाँति जीवन के प्रश्नों का उत्तर पेश करे, किन्तु 'जीवन-प्रतिम्बिब' होने के कारण इस साहित्य-रूप में भी कुछ समस्याएँ आ जाती हैं। 'मैला आँचल' को एक आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी जाती है—कुछ-कुछ 'हाऊ ग्रीन वाज़ माई वैली' आदि उपन्यासों की भाँति! इसमें बंगाल-बिहार के सन्धि-स्थल के मैथिल प्रदेश को परानपुर ग्राम के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वातावरण को जीवन्त रूप देने में लेखक ने सिस्सन्देह सफलता पाई है। किन्तु आंचलिक उपन्यास की सृष्टि करने वाला लेखक जहाँ एक भू-भाग विशेष का सघन चित्र प्रस्तुत करता है, वहीं उसके माध्यम से उसे एक व्यापक जीवन का सम्पर्क करना होता है। यदि ऐसा न हो तो उपन्यास में प्रतिपादित समस्याएँ उसी भू-भाग की परिक्रमा करके रह जायँ। वास्तव में आंचलिक उपन्यास का कार्य इस दृष्टि से किंचित् कठिन होता है। अंचल के सघन चित्र को प्रस्तुत करके समस्याओं को एक व्यापक रूप देना पड़ता है। हम कह सकते हैं कि उसे गहराई और व्यापकता दोनों का समन्वय करना पड़ता है। टॉलस्टाय का 'अन्ना केरिनिना', जीद का 'स्ट्रेट इज़ द गेट', जैनेन्द्र का 'त्याग पत्र' जीवन के महत्त्वपूर्ण नैतिक प्रश्नों से जूझते हैं। उनमें गहराई है—एक प्रश्न-विशेष को लेकर। किन्तु उनमें किसी प्रदेश का अंकन नहीं है। और ऐसे तो बहुत-से साधारण उपन्यास गिनाए जा सकते हैं जिनमें एक कथा दिलचस्प ढंग से कह दी गई है, बिना किसी उद्देश्य के! हिन्दी के ही कुछ ख्यातिनामा उपन्यासों से ऐसी निराशा हो सकती है। 'परती : परिकथा' उस रूप में समस्यामूलक उपन्यास नहीं है, जिस रूप में हम इब्सन अथवा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को लेते हैं। किसी सीमा तक प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' एक समस्यामूलक उपन्यास है। 'परती : परिकथा' मुख्यतया कोसी के समीपवर्ती ग्रामीण जीवन की कहानी है। प्रमुख कथावस्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से सम्बन्धित है, यद्यपि गीता

मिश्र की डायरी में भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की भी सांकेतिक चर्चा है। ग्राम से सम्बन्ध रखने वाली कतिपय समस्याएँ विस्तार से उपन्यास में प्रविष्ट हुई हैं। जमींदारी-उन्मूलन के अनन्तर भी भूमिहीनों की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। मुन्शी जलधारीलाल दास और रामपखारन-सिंह सिपाही अपने स्वामी शिवेन्द्र मिश्र की परानपुर इस्टेट को उनके पुत्र जितेन्द्र के लिए बचा ले जाते हैं। 'साबित कर दिया---परानपुर पट्टी पतनी है, ज़मीन खुदकाश्त है, बकाश्त है, रैयती हक है—आदि-आदि।' इसी के अनन्तर लैंड सर्वे सैटलमेण्ट होता है, जिसकी चर्चा बड़े विस्तार से उपन्यास में हुई है। पता नहीं इसमें कितना ऐतिहासिक सत्य है, किन्तु रेणु ने लिखा है—'हिन्दुस्तान में, सम्भवतः सबसे पहले पूर्णियाँ जिले पर ही लैण्ड सर्वे ऑपरेशन किया गया।' नाम के लिए तो ज़मींदारी समाप्त हो गई, किन्तु सभी पुराने ज़गीदार और राजा बड़े-बड़े कृषक बन बैठे, जिनके पास दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह हज़ार बीघे ज़मीन थी। ऐसी अवस्था में पुराने सामन्तों और भूमिहीन कृषकों में संघर्ष होना स्वाभाविक है। भूमि की इस समस्या को हम उपन्यास का मूल आधार कह सकते हैं। जितेन्द्रनाथ सामन्तवादी प्रथा के अन्तिम अवशेष हैं। किसी विशेष समाज-शास्त्रीय अथवा राजनीतिक प्रणाली का आग्रह न होने के कारण लेखक ने उपन्यास को एक दूसरी दिशा दी है—संघर्ष बहुत प्रखर नहीं होने पाया है। भीतर-ही-भीतर अग्नि प्रज्वलित होती रहती है, पर उसका विस्फोट एकाध ही अवसरों पर होता है। लुत्तो उस वर्ग का प्रतिनिधि है जो कृषकों को जितेन्द्र के विरोध में खड़ा करना चाहता है, पर उसके अन्य कारण भी हैं—पिता का प्रतिशोध, उच्च जाति से घृणा। जितेन्द्र नई परिस्थितियों से समझौता कर लेते हैं। वे ज़मीन को नया जीवन देते हैं। उनमें पृथ्वी के प्रति एक गहरी ममता है, वे परती-पुत्तर हैं, इसी कारण संघर्ष उग्र रूप धारण नहीं कर पाता।

भूमि की इसी समस्या से संग्रथित समस्या जातिवाद की है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे गाँव की आत्मा जातीय आधार पर विभक्त है, खण्डित है। सोलकन्ह टोली, भूमिहार टोली, नहिन टोली, मुसलमान टोली और विशिष्ट आभिजात्य का प्रतीक जितेन्द्र की हवेली। इसमें सन्देह नहीं कि जातीयता की समस्या को 'परती : परिकथा' में भली भाँति उभारा गया है। जितेन्द्र में स्वयं अधिक दोष नहीं है किन्तु साधारण वर्ग के व्यक्ति केवल इसीलिए इससे घृणा करते हैं क्योंकि वह आभिजात्य है, सवर्ण टोली का प्रतिनिधि है। उपन्यास में ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जिनका आधार यही जातीयता की भावना है। कायस्थ डॉक्टर के खिलाफ़ दर्ख़ास्त दी जाती है कि पैसा लेकर भी दूसरी जाति वालों को बढ़िया दवा नहीं देता, और कायस्थों को मुफ्त में दवा और सुई देकर इलाज करता है···। एक स्थान पर रेणु ने लिखा है—'पिछले आठ-दस वर्षों से जातिवाद ने काफ़ी जोर पकड़ा है। राजनीतिक पार्टियाँ भी जातिवाद की सहायता से संगठन करना जायज़ समझती हैं।' छोटी और बड़ी जातियों के भी उपभेद हैं। इस जातिवाद के विष का कुप्रभाव अनेक घटनाओं के माध्यम से आया है। जातिवाद के अनन्तर लेखक ने विभिन्न राजनीतिक दलों के दाव-पेंचों की चर्चा की है। वे ईमानदार और सच्चे नहीं हैं। लुत्तो 'मिसिर के बेटे को दागने के लिए' ही कांग्रेस में आया है। राजनीति में जो अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार प्रचलित हैं, जिनकी चर्चा लेखक ने की है। और इस दिशा में उसने विवरण भी दिए हैं, यद्यपि सांकेतिक शैली

में ही। इन समस्याओं के अतिरिक्त ग्रामीण जीवन के अनेक अन्ध-विश्वासों की ओर संकेत है। ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित इन प्रश्नों का उत्तर 'परती : परिकथा' में सीधा-सादा नहीं है। लेखक की दृष्टि में समस्या का समाधान सांस्कृतिक है, जिसके सहारे समस्त ग्रामीण समाज को एक सूत्र में आबद्ध किया जा सकता है। लोकमञ्च का स्थान उस एकता का प्रथम चरण किया है। सम्भव है 'कम्यूनिटी प्रॉजेक्ट' की विचार-धारा ने लेखक को प्रभावित किया हो। कोसी मैया के प्रतीकात्मक चित्रों में रेणु ने बड़ी सफलता प्राप्त की है।

ऊपर के इस किंचित् व्याख्यात्मक विवेचन को इसीलिए प्रस्तुत करना पड़ा ताकि 'परती : परिकथा' की भाव-धारा स्पष्ट हो सके। अब हम उसके शिल्प की चर्चा करना चाहेंगे, जो इस उपन्यास की ख्याति का आधार है। 'परती : परिकथा' के लेखक का अपनी धरती से गहरा परिचय है। उसने अपने चित्रित समाज को निकट, अत्यन्त निकट से देखा है, समझा है। कहा जा सकता है कि उसने अनुभवों को अनुभूति बनाया है। इसी कारण सर्वत्र हमें एक तन्मयता के दर्शन होते हैं। लेखक ने जिस आत्मीयता से जीवन को, वहाँ के चरित्रों को अंकित किया है वह सर्वथा स्तुत्य है। सर्वत्र पूर्णिया की एक सोंधी गन्ध उठती हुई दिखाई देती है। लेखक में वर्णन-क्षमता है। यद्यपि यहाँ पर यह भी कह देना होगा कि उपन्यासकार के लिए यह अपेक्षित है कि वह केवल महत्त्वपूर्ण विवरण ही प्रस्तुत करे, जो वातावरण की सजीवता में सहायक हो। उसे शरीर से अधिक आत्मा का ध्यान रखना पड़ता है। 'परती : परिकथा' में शरीर और आत्मा का सुन्दर समन्वित चित्र है। इस उपन्यास में लोक-उपादान (folk element) की प्रधानता है। लोक-कथाएँ, लोक-गीत, लोकोत्सव सब मिलाकर लोक-जीवन को अभिव्यक्ति देते हैं। कुछ लोक-कथाओं को उपन्यास के प्रमुख कथानक से जोड़ने का भी प्रयास रेणु ने किया है। पंच-चक्र की कथा ऐसी ही है। लोक-गीत उपन्यास को प्रगीत-तत्त्व से भर देते हैं। कार्डी और जार्ज इलियट के उपन्यासों में जो एक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसकी ही एक रूप-रेखा 'परती : परिकथा' में देखी जा सकती है। उपन्यास के शिल्प में, उसके विन्यास में एक प्रगीतात्मकता अवश्य है किन्तु रेणु का सन्देश बौद्धिक है, पर्याप्त व्यावहारिक! वादग्रस्त न होने के कारण कोई 'विशेष फ़ार्मूला' वह हमें नहीं देता, किन्तु सांस्कृतिक-सामाजिक मिलान भूमि की एक पीठिका तैयार कर देता है। भाषा की अपार क्षमता रेणु में है, जिसके कारण ही अनेक वर्णन चित्र बनकर आए हैं। मन के भावों को कई स्थलों पर गीत बना दिया है उन्होंने। एक स्थानिक भाषा को इतनी सामर्थ्य से भर देना लेखक के शब्द-शिल्प का ज्वलन्त प्रमाण है। उपन्यास में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ पर भाषा-सामर्थ्य को देखा जा सकता है। ध्वनि के संयोग से भाषा की व्यञ्जना-शक्ति और भी बढ़ गई है। अनेक देशज शब्दों का प्रयोग वातावरण की सृष्टि में सहायक है। 'सुन्नरि नैका' कथा का एक अंश है—'भोर में नाचती आई सुन्दरि नैका! देखा, एक कुण्ड पानी से लाबेलाब है। कुण्ड के पानी में पूर्णिमा का चाँद, सोने चाँदी को एक साथ घोलाने के लिए रुक गया थोड़ी देर—उस ताड़ की फुनगी के पास! नाची सुन्दरि नैका—छम्म-छम्माँ-आँ! रात-भर के थके राक्षसों को मानो महुए के रस में मधु घोलकर पिला दिया गया। झूम उठे-छम्म-छम्माँ!' हीर-राँझा, सोनी-महीवाल-जैसी प्रेम-कथाओं को उनकी तीव्रता में प्रस्तुत करने की क्षमता भाषा के कारण ही इस उपन्यास

में सम्भव हो सकी है। 'उसने कहा था' कहानी का जो शिल्प है वही इस उपन्यास में लोक-उपादानों से समन्वित होकर चला आया है।

'परती : परिकथा' प्रेमचन्द की परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। रेणु की हिन्दी उपन्यास-साहित्य को यह एक मूल्यवान् देन है। हम संक्षेप में प्रेमचन्द और रेणु पर एक तुलनात्मक दृष्टि भी डाल लेना चाहेंगे। 'परती : परिकथा' के पात्र देव-दानव वर्ग में विभाजित नहीं हैं। वे अपने 'वास्तविक रूप' में सामने हैं। एक विराट् चेतना की अभिव्यक्ति के लिए प्रेमचन्द ने अपने प्रिय पात्रों को बड़ी ऊँचाई पर पहुँचाया है। रेणु में ऐसा पक्षपात कम है। वास्तव में 'परती : परिकथा' ने किसी अंश तक एक बड़ी समस्या हल करने का प्रयत्न किया है—वह है नायक की समस्या। अधिकांश उपन्यास नायक की भूमिका पर चलते हैं। पर 'परती : परिकथा' में शीघ्र निर्णय करना कठिन हो जायगा कि नायकत्व किसे दिया जाय। 'गोदान' के होरी के समक्ष सभी व्यक्तित्व धूमिल पड़ जाते हैं, पर 'परती : परिकथा' के कई पात्र मन में उतर जाते हैं। निम्मल मामा की अपनी भाषा हमारा कम मनोरंजन नहीं करती। गीता मिश्र को आसानी से नहीं भुलाया जा सकता? 'परती : परिकथा' में लोक-उपादान का बाहुल्य है—लोक-कथा, लोक-गीत के माध्यम से। प्रेमचन्द में इतना प्रबल आग्रह नहीं है। प्रेमचन्द के प्रतिनिधि पात्र अपने अन्तर्मन से नहीं जूझते, पर रेणु में यह मानसिक द्वन्द्व भी उभरकर आया है। प्रेमचन्द के चरित्रों की अपेक्षा रेणु के चरित्र अधिक सगतिक भी हैं।

'परती : परिकथा' से आलोचक को कुछ शिकायतें हो सकती हैं। मुझे ऐसा लगता है जैसे इस उपन्यास का लेखक अतिशय तटस्थ हो गया है—एक कमण्टेटर की भाँति। महान् लेखकों से यह आशा की जाती है कि चिन्तन-मनन के परिणामस्वरूप निर्मित होने वाली जीवन-दृष्टि कृति में प्रतिफलित होगी। चरित्र-सृष्टि के समय भले ही लेखक निर्विराग, निर्विकल्प रहे किन्तु यथातथ्यवाद की यह सीमा उसकी कृति को एक मानवीय दार्शनिक भूमिका से विलग कर देती है। बहुत समझदार पाठक ही 'परती : परिकथा' की व्यञ्जनाओं को समझ पायँगे। 'परती : परिकथा' की भाषा को लेकर एक अच्छा खासा विवाद ही उठाया जा सकता है और लोग इसे खड़ी बोली का उपन्यास मानने से इन्कार कर सकते हैं। सम्भव है साधारणीकरण अथवा प्रेषणीयता के नाम पर लेखक शब्दों के साथ आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता बरत गया हो। 'परती : परिकथा' का समाज अपनी विषमताओं से संघर्ष करता हुआ एक नव-निर्माण में संलग्न है। उसमें आस्था और विश्वास के प्रबल स्वर हैं। हम रेणु के उस आगामी चरण की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करेंगे जब वे प्रौढ़ता के चरम बिन्दु पर पहुँचेंगे।

प्रो० गोपीकृष्ण प्रसाद

रेणु और 'परती : परिकथा'

'परती : परिकथा' उपन्यास हिन्दी में विवाद का विषय बन गया है। यह इस उपन्यास की महत्ता साबित करने के लिए अपने में भी काफी प्रमाण है। श्रीपत राय उन व्यक्तियों में से हैं, जिन्होंने 'मैला-आँचल' के प्रकाशन को एक महान् घटना माना था। लेकिन आज अचानक उन्होंने 'मैला आँचल' के लेखक की दूसरी कृति की, जिसमें 'मैला-आँचल' की अनेक विशेषताएँ मौजूद हैं, विध्वंसात्मक आलोचना की है। हमें यह सब रहस्यात्मक प्रतीत होता है। स्पष्टतः यह आलोचना असंतुलित प्रणाली की द्योतक है।

श्रीपत राय जी की आलोचना का सारांश यह है कि 'परती-परिकथा' में (१) कहीं कोई चालक मस्तिष्क नहीं है उसमें कोई केन्द्रीय सूत्र, कोई केन्द्रीय मेधा नहीं जो उसके सारे अन्तरंग को सुव्यवस्थित, सुनिश्चित गति प्रदान करे; (२) उसमें कोई जीवन-दृष्टि या जीवन दर्शन प्राप्त करना असम्भव है; (३) न तो उसमें घटनाओं की मांसलता है न विचारों की; (४) उपन्यास का निर्बल कथा-पक्ष इसकी विशृंखलता में बहुत बड़ी सीमा तक सहायक हुआ है; (५) इस प्रकार 'परती : परिकथा' अव्यवस्थित, अराजक, लक्ष्य-च्युत और इसलिए श्रीहीन लेखक का असुन्दर उदाहरण है। इन शब्दों में श्री श्रीपत राय जी ने 'परती : परिकथा' को निम्न कृति करार दिया है।

लेकिन मेरा मत यह है कि 'परती : परिकथा' उसी परम्परा की दूसरी कड़ी है जिसका आरम्भ 'मैला-आँचल' से होता है। इस उपन्यास में एक समन्वित दृष्टि (unified vision) है, प्रौढ़ चरित्र चित्रण है, प्रचुर मानवीय वेदनाएँ (इम्प्रेशन्स) हैं और इन सबके मूल में एक प्रौढ़ मस्तिष्क का संचालन है।

विशाल परती जमीन, वन्ध्या धरती की चौहद्दी पर परानपुर गाँव; पीड़ित भारतीय ग्रामीणों की शाश्वत-भूमि-लालसा नैतिक-अनैतिक सभी रूप धारण करती रहती है। लैण्ड सैटलमेंट तथा इस तरह की भूमि-सम्बन्धी सामयिक घटनाएँ ग्रामीणों के जीवन में उथल-पुथल मचाती हैं, किन्तु भारतीय गाँव और ग्रामीण बेजान होकर एक लीक पर स्थिर हैं। उपन्यास की विषय-वस्तु का यह एक पहलू है। दूसरा पहलू है, ग्रामीणों के जीवन में नवीन विज्ञान के माध्यम से आमूल परिवर्तन की कल्पना। कोशी डैम नाटिका का प्रदर्शन इस पहलू पर प्रकाश डालता है। दूसरी ओर जितेन्द्र मिश्र द्वारा वन्ध्या जमीन पर गुलाब की खेती एक रोमाण्टिक कल्पना होते हुए भी ग्रामीणों की दमित लालसा की अभिव्यक्ति है।

भारतीय ग्रामीणों की सामाजिक और नैतिक समस्याएँ भूमि की धुरी पर घूमती रहती हैं। और 'परती : परिकथा' के लेखक ने इसीलिए भूमि को अपनी दृष्टि का अवलम्बन

माना है। लैंड सेटलमेंट के प्रसंग में प्रदर्शित ग्रामीणों की मनोवृत्तियाँ उस आलम्बन को पुष्ट करती हैं। जितेन्द्र और उसके विरोधियों का संघर्ष सभी उसी धुरी 'भूमि' पर आधारित हैं। इस प्रकार उपन्यासकार ने दिखाया है कि भूमि भारतीय ग्रामीणों के जीवन का केन्द्र है जिसके द्वारा उनकी सामाजिक और नैतिक समस्याएँ निर्मित और विघटित होती रहती हैं। जितेन्द्र, लुत्तो, वीरभद्दर, समसुद्दीन, रामनिहोरासिंह आदि पात्र पृथक् जीवनप्रद टुकड़े नहीं बल्कि लेखक के दृष्टि-विस्तार के सांकेतिक स्तम्भ हैं।

इस भूमि की धुरी ने गाँव में सूक्ष्म व्यक्तिगत मनोविज्ञान की सम्भावनाओं को ही प्रायः शेष कर दिया है। फिर इस प्रसंग में उसकी अपेक्षा करना अन्याय है। लुत्तो, वीरभद्र आदि की जो सामाजिक-नैतिक समस्या है वह जमीन को ही लेकर। लेखक ने बस उसीका उद्घाटन किया है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि नैतिक मूल्यों का विघटन हो चुका है इसलिए गाँव आज श्रीहीन हो गया है। पारस्परिक संघर्ष, प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र है, वह स्थिर है वहाँ का जीवन इस तरह 'परती : परिकथा' में रेणु ने श्री-हीन, प्यार-विहीन, प्राण-विहीन मूर्तियों का दिव्य दर्शन कराया है। यह है उपन्यास में अभिव्यक्त मानवीय समवेदना। और लेखक का विश्वास यह है कि विज्ञान गाँव के स्वरूप को बदल सकता है। ये समवेदनाएँ और दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण से ही रेणु की जीवन-दृष्टि अभिव्यक्त होती है जो समन्वित और व्यापक है।

कहा जाता है कि युग-युग से सभी देशों के लेखकों द्वारा वर्णित विषयों का वर्गीकरण तीन तरह से किया जा सकता है—(क) प्रेम, (ख) धन, (ग) ईश्वर। लॉरेन्स, वर्जिनिया उल्फ-जैसे उपन्यासकारों ने प्रेम से सम्बद्ध मनोवैज्ञानिक, नैतिक और सामाजिक सम्भावनाओं का आविष्कार किया है। इसी तरह गोर्की, प्रेमचन्द और टैनसी विलियम्स (आधुनिक अमेरिकी नाटककार) द्वितीय वर्ग में आते हैं। जहाँ गोर्की और प्रेमचन्द में धनाभाव से उत्पन्न सामाजिक स्थितियों और तज्जनित मानवीय रूपों की अभिव्यक्ति है वहाँ टैनसी विलियम्स में अति विकसित औद्योगिक सभ्यता में रहने वाले अति सम्पन्न अमेरिकन व्यक्तियों के भौतिक और मनोवैज्ञानिक संघर्षों का उद्घाटन है। तीसरी ओर एलियट, जॉयस, ग्राहम ग्रीन धर्म और प्रेम से जनित विषयों का उद्घाटन करते हैं।

रेणु ने 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' में धन, भूमि ही जिसका हमारे गाँव में प्रतीक है, से जनित भौतिक और भावात्मक संघर्षों का प्रत्यक्षीकरण कराया है। यहाँ 'भौतिक' शब्द पर ध्यान दिया जाय। मेरे विचार से रेणु मूलतः वर्जिनिया उल्फ के शब्दों में भौतिक जगत् के उपन्यासकार हैं, आध्यात्मिक नहीं। यह भी स्मरण रहे, भूमि-प्रधान समाज में व्यक्ति का भूमि के साथ आर्थिक ही नहीं, भावात्मक सम्बन्ध भी रहता है। रेणु के उपन्यासों में यही भौतिक और भावात्मक सम्बन्धों का उद्घाटन है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में मुख्यतः सामाजिक अन्याय के चित्र हैं, रेणु के उपन्यासों में वह तो है ही, साथ ही उक्त भावात्मक और सामाजिक सम्बन्ध के विविध रूप भी।

परती जमीन—उपन्यास में एक व्यापक अर्थगर्भित और बुनियादी प्रतीक के रूप में आया है। और यह प्रतीक या केन्द्रीय आलम्बन मूल विषय-वस्तु को उभारता है, उसे स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। काव्य में जिस प्रकार विशेष आलम्बन चिन्ता या प्रतीक मूल भाव-

धारा को संग्रथित करता है, उसी तरह वन्ध्या धरती का चित्र ठीक Moby Dick के सफेद white की तरह उपन्यास के तत्त्वों को संयोजित करता है। परती की परिकथा, एक आँचल की विशेष घटना-मात्र नहीं, बल्कि उपन्यासकार ने उसे प्रतीक के उच्च स्तर पर स्थापित किया है। उपन्यास के इस प्रतीकात्मक पहलू को समझे बिना इसकी केन्द्रीय दृष्टि लक्षित नहीं होती है।

यहाँ पर हम 'परती : परिकथा' के स्वरूप (structure) का विश्लेषण कर लें। उपन्यास के प्रथम तीन अध्याय, अन्य उपन्यासों के विपरीत, बहुत अर्थगर्भित और रोचक हैं; ये विषय वस्तु उपस्थित करते हैं। पहले अध्याय में सैटिंग का वर्णन है। यहाँ रेणु की वर्णन-कला 'मैला आँचल' के आरम्भिक अध्यायों की याद दिलाती है।

"धूसर, वीरान, अन्तरहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती...धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं—बालू-चरों की पंक्तियाँ" यही है वह सैटिंग, वह रंगमंच जिस पर उपन्यास के सभी छोटे-बड़े पात्र अपना पार्ट अदा करते हैं, जिस पर घटनाएँ घटती हैं नदी के प्रवाह की तरह, क्योंकि कोई घटना इस उपन्यास में केन्द्रीय घटना के रूप में वर्णित नहीं हुई है। अन्त में, इसी पार्श्वभूमि में स्थानीय रंगों के अनेक मोहक दृश्य प्रदर्शित होते हैं। उपन्यासकार ने 'वन्ध्या-धरती' के इस सैटिंग से सम्बन्धित अनेक लोक-कथाओं से हमारा परिचय कराकर (अर्थात् सांस्कृतिक सम्बन्धों का उद्घाटन) तीव्र दुःखमूलक समवेदना की सृष्टि की है।

"परानपुर ही नहीं, सभी गाँव टूट रहे हैं। गाँव के परिवार टूट रहे हैं, व्यक्ति टूट रहा है—रोज-रोज, काँच के बरतनों की तरह" यह है एक चित्र। दूसरा चित्र है—"किन्तु, पण्डुकी का जित्तू आज भी सोया अधूरी कहानी का सपना देख रहा है। वन्ध्या रानी माँ का सारा सुख-ऐश्वर्य छिपा हुआ है सोने के एक कलस में, विजूबन-विजूखण्ड के राक्षस के पास। देवी का खाँड़ा कौन उठावे? पंखराज घोड़े पर सवार होकर कौन जायगा कलस लाने?

"कथा-गायक बूढ़ा भैंसवार सारे युग को बेईमान कह रहा है।...एक-एक आदमी पाप-मुक्त जिस दिन हो जायगा, सारी परती हरी-भरी हो जायगी...प्राणों के नये-नये रंग उभरेंगे! ?"—सैटिंग की तस्वीर पूरी हो जाती है। यहाँ से नाटक का आरम्भ हो जाता है। उपन्यास के दो आनुषंगिक पात्र भवेश, सुरपति इस 'रंगमंच' पर फ्लैश लाइट डालने का काम करते हैं। और जित्तन इस 'रंगमंच' पर होने वाले कार्य-व्यापारों का कहीं कारण, कहीं कर्ता और कहीं मात्र दर्शक है। जित्तन के गाँव में वापसी से वह भी लैण्ड सैटलमेण्ट के समय, एक वर्ग लुत्तो, वीर भद्दर, के बीच सनसनी, उत्तेजना उथल-पुथल है। फलस्वरूप जित्तन के विरुद्ध साज़िश और आक्रमण—इन सब घटनाओं के मूल में जित्तन कारण है।

धूसर, अन्तरहीन कार्य प्रान्तर धरती की लाश में जान लाने की कोशिश में जित्तन एक कर्त्ता के रूप में आता है। अन्त में, परानपुर गाँव के लोगों में पारस्परिक तनाव और संघर्ष, प्रेम और ममता, आदर्श और रोमान्स, इन कार्य-व्यापारों का दर्शक है वह। इस तरह उपन्यास में अनेक चरित्र आते हैं, अनेक छोटी घटनाएँ घटती हैं, स्थानीय जीवन के अनेक चित्र प्रदर्शित होते हैं। वन्ध्या धरती के चित्र से उपन्यास का आरम्भ और उस मृत धरती

में जान लाने की कल्पना—इससे उपन्यास का अन्त है। स्पष्ट है, प्रथम तीन अध्यायों में अभिव्यक्त सैटिंग और जित्तन का चरित्र, ये दो तत्त्व सभी पात्रों और कार्य-व्यापारों को एक सूत्र में संघटित करते हैं। परिणामस्वरूप एक दृष्टि का निर्माण होता है, जो उपन्यास का मुख्य सञ्चालक तत्त्व है। यही दृष्टि सभी पात्रों के निर्माण और विभिन्न घटना-चित्रों के मूल में है। इस तरह उपन्यास में प्रच्छन्न एकता है, बिखराव नहीं, यद्यपि सतह से देखने में ऐसा ही प्रतीत होता है।

इस विश्लेषण से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह कि 'परती : परिकथा', पुनः वर्जिनिया उल्फ के शब्दों में, जीवन के अनुभव समूह (Impressions) अर्थात् इसमें विभिन्न प्रकार की अनुभूति के चित्र हैं। और यह चित्र-समूह मिलकर एक व्यापक संसार का निर्माण करते हैं। 'मैला आँचल' का भी आन्तरिक स्वरूप मेरे विचार से सही है। फिर अगर वह सफल कृति है तो 'परती : परिकथा' क्यों नहीं ?

रेणु के उपन्यास में चरित्र सिर्फ अपनी वैयक्तिकता लिये नहीं आते हैं, वे अधिकतर टाइप हैं लेकिन उन्हें अगर मिलाकर देखिये तो वे एक सम्बन्धित संसार का निर्माण करते हैं और जीवन की सर्वांगीण तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

श्रीपतरायजी ने 'परती : परिकथा' के मुख्य चरित्र जितेन्द्र का विस्तृत विश्लेषण करके यह दिखाया है कि वह चरित्र कितना कृत्रिम और मात्र आदर्श चरित्र है; अतिरञ्जित, अति उत्तुंगित है।

इसके विपरीत मेरे विचार से परती में एक सुगठित और पूर्ण चरित्र-निर्माण किया गया है। 'मैला आँचल' में ऐसे चरित्र के अभाव की चर्चा कतिपय आलोचकों ने की है। शायद उसीका प्रभाव है कि इसमें लेखक ने जित्तन के चरित्र-निर्माण में विशेष श्रम लगाया है और यह चरित्र-चित्रण प्रौढ़ और वास्तविक है।

चरित्रों पर उपन्यास की मूल दृष्टि से पृथक् करके विचार करने पर पाठक श्रीपतरायजी की तरह निष्कर्ष निकाल सकता है। पर कथानक और चरित्र-चित्रण पर मेरे विचार से उच्च कला-कृति में मूल दृष्टि (vision) के माध्यम और प्रक्रिया के रूप में विचार होना चाहिए। जित्तन एक राजनीतिक क्रान्तिकारी के रूप में जीवन आरम्भ करता है। पर राजनीतिक पार्टी द्वारा पिस जाने पर राजनीतिक दुनिया नंगे रूप में उसके सामने आती है। इससे आज कौन इन्कार करेगा कि संवेदनशील व्यक्ति के लिए आधुनिक भारतीय राजनीतिक पार्टियों के अन्दर पारस्परिक शक्ति-संघर्ष में टिकना मुश्किल है। जित्तन तथा जयदेव, रामनिहोरा आदि इसी तथ्य और यथार्थता के जीते-जागते चित्र हैं। और तब जित्तन व्यापक मानवीय मार्ग पर चलकर मानवीय सम्भावनाओं का आविष्कार करता है—गाँव के खोये हुए प्यार को गाँव में वापस लाना चाहता है। गुलाब की खेती; वन्ध्या धरती को सार्थक बनाने के लिए कोशी डैम रंगमंच अतिरोमांटिक लग सकते हैं, पर गहराई में जाने पर वह स्वाभाविक आदर्श प्रतीत होगा।

श्री श्रीपतराय जी का आक्षेप है कि जित्तन को सर्वदा महान् दिखाया गया है जबकि वह बैकडोर से आया हुआ, भागा हुआ इन्सान है। यह ए० सी० ब्रेडेले-परम्परा की आलोचना है जिसके जवाब में एल० सी नाईट ने How many Children lady Macbeth had

शीर्षक निबन्ध में यह दिखाया कि नाटक (या उपन्यास-कहानी) के किसी पात्र के कार्य या व्यवहार की समीक्षा उसे एक पृथक् व्यक्ति के रूप में न करके, नाटक की मूल दृष्टि के परिवेश में की जानी चाहिए। इस तरह प्रश्न यह नहीं कि जित्तन ऐसा है या वैसा है बल्कि यह वह जो-कुछ भी है 'परती : परिकथा' की मूल दृष्टि के अनुकूल या उससे उद्भूत है या नहीं। अर्थात् देखना यह चाहिए कि जित्तन का चरित्र-चित्रण उपन्यास की मूल दृष्टि से समन्वित है या नहीं। इस सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि जित्तन परती : परिकथा की दृष्टि का अभिन्न अंग है।

और उपन्यास के अन्य चरित्र तो विभिन्न स्थानीय रंगों के प्रतीक हैं जो उपन्यास के संसार का निर्माण करते हैं। 'रेणु' के उपन्यासों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके द्वारा पाठक भारतीय गाँव की जीवित दुनिया में पहुँचकर विभिन्न मार्मिक दृश्यों का साक्षात्कार करता है। ये दृश्य पृथक् चित्र-मात्र नहीं बल्कि समन्वित रूप से एक संसार प्रस्तुत करते हैं जो भारतीय जीवन की सबसे बड़ी यथार्थता है। जित्तन तथा अन्य चरित्र वन्ध्या भूभाग की दुनिया के यथार्थ, उत्तुंगित नहीं, मानव हैं जो स्थिर हैं और जीवन्त भी हैं और भविष्य की कल्पना में लीन होते हैं और हम पाठक भी। माना कि उनकी आन्तरिक या आध्यात्मिक सम्भावनाओं का आविष्कार नहीं पर वह सभी प्रकार के उपन्यासों के लिए आवश्यक भी नहीं। भौतिक स्तर पर रेणु के उपन्यास प्रेमचन्द के बाद श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। श्रीपतराय जी ने जो बुनियादी भूल की है वह यह कि उन्होंने 'परती : परिकथा' के मूल स्वरूप की अवहेलना करके उसकी समीक्षा प्रेमचन्दीय उपन्यासों के मानदण्ड पर की है। पर यह तो आलोचना-सिद्धान्त का गलत प्रयोग हुआ।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास की दो धाराएँ चलीं—एक जैनेन्द्र, अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-धारा और भौतिकवादी उपन्यासों की दूसरी धारा। इस दूसरे वर्ग से मेरा मतलब भौतिकवादी दृष्टिकोण से नहीं बल्कि बहिर्जगत् की घटनाओं-व्यापारों पर रचित कृतियों की प्रणाली से है। रेणु इसी धारा के श्रेष्ठ लेखक हैं। यह ठीक है कि इस परम्परा के कुछ उपन्यासकार जैसे नागार्जुन बहुत अधिक भौतिक और थोड़े हैं, जो उन्हें निम्न स्तर का कलाकार ठहराता है।

इस धारा के अन्य प्रमुख लेखक हैं यशपाल। वे घटनाओं के सुसम्बद्ध संयोजन द्वारा शहरी समाज के दुःख-दर्द पर प्रकाश डालते हैं। इस तरह उनके उपन्यास घटनात्मक ही होते हैं, उनमें कोई मौलिक दृष्टि नहीं होती। दूसरे शब्दों में, उनकी रचनाएँ कला की दृष्टि से सारगर्भ नहीं हैं। किन्तु रेणु के दोनों उपन्यासों का अनुभव-क्षेत्र व्यापक है। इनमें परम्परागत अर्थ में घटनाएँ नहीं बल्कि ग्रामीण जीवन के बहुरंगी चित्र हैं, जो अन्त में एक समन्वित दृष्टि की उद्भावना करते हैं। और उपन्यासकार रेणु की अपनी निश्चित जीवन-कल्पना और आस्था है। उससे श्री श्रीपत राय जी का मतभेद हो सकता है लेकिन उसका अभाव नहीं है। 'मैला आँचल' में वादों के कठघरे से उठकर गाँव की मिट्टी में परिवार की प्राथमिक इकाई में रेणु ने जीवन का सत्य परखा। 'परती : परिकथा' में गाँव के खोये हुए सियार के लिए प्रच्छन्न विषाद व्यक्त है। लेकिन साथ ही लेखक मानवीयता और विज्ञान के समन्वय की भी कल्पना करता है। 'तुमि पारिबे' 'तुमि पारिबे' डा० रॉय चौधरी की यह

उक्ति और जित्तन, इरावती की कल्पना प्रत्यक्षतः अति रोमाण्टिक प्रतीत होती है। लेकिन वह है मूल दृष्टि से उत्पन्न, और चूँकि मूल दृष्टि में प्रौढ़ता है अतएव ये चरित्र प्रत्यक्षतः रोमाण्टिक, आदर्शवादी होते हुए भी कलात्मक दृष्टि से सार्थक हैं।

इतना सब कहने के बाद हम 'परती : परिकथा' की दुर्बलताओं से भी परिचित हैं। एक दुर्बलता है जित्तन-ताजमनी का प्रेम-प्रसंग। यह प्रसंग उपन्यास के कलात्मक सन्तुलन को थोड़ा बिगाड़ देता है। उपन्यास में वर्णित प्रसंगों की मूलभूत अनुभूतियों का एक संतुलन स्थापित होना चाहिए। जित्तन-ताजमनी का प्रसंग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और उपन्यास के कल्पना-विस्तार की दृष्टि से अतिशयोक्ति की सीमा पर पहुँच जाता है। इससे उपन्यास में किंचित् भावात्मक असन्तुलन आ गया है। यह असन्तुलन इसलिए प्रतीत होता है कि ताजमनी का चरित्र पूर्ण रूप से उपन्यास की मूल दृष्टि से समन्वित नहीं हो पाता है। यह लेखक की एक कलात्मक त्रुटि है।

उपन्यास की एक अन्य दुर्बलता है यथार्थता के साथ रोमान्स का मेल। रोज से सम्बन्धित घटनाएँ मध्ययुगीन रोमान्स की याद दिलाती हैं। लेखक का शायद उद्देश्य है, बिहार में निलहों के युग का वातावरण उपस्थित करना। इसलिए इस प्रसंग को ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण की कलात्मक पद्धति के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। मलारी का प्रेम-प्रसंग भी कथा की दुर्बलता का अंश है, यह साहसिक आदर्शवाद और प्रचलित हिन्दी-चलचित्रों के रोमान्स की याद मिलाता है।

'परती : परिकथा' की ये छोटी-मोटी दुर्बलताएँ हैं। लेकिन कुल मिलाकर देखने पर हिन्दी में 'मैला आँचल' के बाद यह दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है। रेणु की सबसे बड़ी शक्ति है ग्रामीण जीवन के आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तरों का व्यापक और गहरा उद्घाटन; उसकी लोक-रीति और उसके लोक-व्यवहार की पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति; जिससे एक नवीन दृष्टि का उन्मेष होता है। और यह दृष्टि स्वतन्त्र है, पूर्व स्वीकृत सिद्धान्तों से ग्रस्त बँधी दृष्टि (Armed vision) नहीं।

श्री धनञ्जय वर्मा

'परती : परिकथा' : एक स्वतन्त्र कला-कृति

परम्परा और इतिहास

'परती : परिकथा' का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य में एक ऐतिहासिक घटना मानी जानी चाहिए। अनिवार्यतः हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की परम्परा विकसित हुई है और इस परम्परा में अनुपम हस्ताक्षर रेणुजी का माना जायगा। 'गोदान' में भारतीय ग्राम के जिन चित्रों की रेखाएँ हैं वे सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। 'गोदान' के होरी का चरित्र प्रेमचन्द की अन्तिम और भव्यतम कल्पना है। प्रगति का आदर्श 'गोदान' बना था। आज भी वह आदर्श है। इस आदर्श पर चलकर हिन्दी-कथा साहित्य ने यथेष्ट विकास-मान चरण देखे हैं। जिन परिवेशों में उपन्यास-साहित्य समृद्ध हुआ है उनमें परिकथा का परिवेश सबसे महत्त्वपूर्ण है।

परिकथा उस परम्परा के विकास की अग्रिम कथा है और रेणुजी कई अर्थों में प्रेमचन्द जी से आगे बढ़े हुए हैं। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य की प्रवृत्तियों का समीकरण परिकथा करती है। हिन्दी-उपन्यास में यह प्रेमचन्द के आगे का चरण है।

प्रेमचन्द का आदि महत्त्व उनकी ग्रामीण सहानुभूति और ग्राम्य-जीवन में उनकी गहरी पैठ का है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारत के किसान की आत्मा के स्वर हैं—उनकी जय-पराजय, उनका व्यक्तित्व, समाज, उनके रीति और रिवाज, उनकी भाषा और संस्कृति। प्रेमचन्द जन-कलाकार भी इन्हीं अर्थों में हैं। रेणुजी में इस दृष्टि से यथेष्ट विकास प्राप्त होता है। ग्रामीणों के प्रति सहानुभूति तो उनकी है ही, उनकी पैठ भी उस जीवन में प्रेमचन्द से कम नहीं है। परानपुर के ग्रामीणों के घर के भीतरी कोने से लेकर, उनके वैयक्तिक सम्बन्धों, उनके सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों तक से रेणुजी का गहरा परिचय है। उन ग्रामीणों के लोक जीवन, रीति-नीति, आचार-विचार, भाषा और संस्कृति का उनका अध्ययन एक नृतत्त्व-शास्त्री (Anthropologist) का-सा है। 'गोदान' में होरी प्रेमचन्द की सफलता है, परिकथा का प्रत्येक चरित्र अपनी एक पूर्णता रखता है। परिकथा में अनेक कथाएँ हैं और वे ग्राम-जीवन की एक कथा से आबद्ध हैं। उसमें विस्तार और व्यापकता है। परिकथा स्वतन्त्रता के पश्चात् जमींदारी उन्मूलन और भूमि के पुनर्विभाजन की पृष्ठभूमि पर ग्राम्य-जीवन का चित्र है। अनिवार्यतः उसमें युगीन नवीन समस्याएँ हैं और इस युग के संस्कृत और विकृत दोनों चित्र उसमें प्रतिबिम्बित हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् युग की प्रवृत्तियों के समाहार का सफल प्रयास परिकथा करती है। इसमें इस युग की प्रवृत्तियों के वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रों का तटस्थ अंकन है और सम्पूर्ण उत्तर-स्वतन्त्रता-काल का

पहला पूर्ण चित्र यह है।

पिछले दिनों उपन्यास ने एक नया मोड़ लिया है। उसकी प्रवृत्ति लोक-रंग (local colour) एवं आंचलिकता की ओर रही है। उपन्यासों में लोक-रंगों को उभारकर किसी अंचल-विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यास को 'आंचलिक उपन्यास' कहा जायगा। 'मैला आँचल' इस कोटि का समृद्ध उदाहरण है। प्रेमचन्द में भी आंचलिकता के दर्शन होते हैं परन्तु वहाँ अंचल प्रधान न होकर युग-प्रधान हो गया है। उनमें लोक-रंग, यथा—लोक जीवन के गीतों, कहावतों, कथाओं, आचारों का वह प्रतिबिम्ब नहीं, जो इधर कुछ उपन्यासों में मिलता है। सच तो यह है कि आंचलिक उपन्यासों का यह इतिहास अभी नया ही है, पर इस नये इतिहास की उपलब्धि—परिकथा ही इस नये विकास की शक्ति को प्रमाणित करती है। परिकथा हिन्दी की समस्त औपन्यासिक आंचलिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व कर सकेगी। पूर्णिया परिक्षेत्र का सम्पूर्ण अंचल और विशेषतः परानपुर ग्राम जैसे मूर्तिमान और मुखर हो उठा हो। सफल आंचलिक उपन्यासों का एक निकष उसके चित्रों की अंचल-सापेक्ष्यता और जीवन के पूर्ण चित्रण का होगा। परिकथा में अंचल का पूरा-पूरा परिचय है, चित्रित जीवन में जितना विस्तार है वह उसकी पूर्णता के अन्तर्भाव के लिए यथेष्ट है। समग्र उपन्यास की सफलता के कारण हमारा विश्वास है कि यदि इस परम्परा पर हिन्दी का साहित्य चला तो विश्व-साहित्य में हमारा कथा-साहित्य समादृत होगा।

व्यक्ति और समाज

परिकथा की सबसे बड़ी विशेषता, जो बहुत दिनों के बाद हिन्दी में देखने में आई है—उपन्यास का निर्वैयक्तिक रूप है। शरत् के उपन्यास इस दृष्टि से आदर्श हैं। शरत् सरीखे निरपेक्ष और तटस्थ लेखक उपन्यास-जगत् में न्यून हैं। शरत् की कदाचित् यही सबसे बड़ी विशेषता थी। कथा और पात्रों के बीच में शरत् कहीं नहीं दीखते। ऐसा लगता है कि शरत् पात्रों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करके दूर हट जाते हैं। उनके पात्र क्या कैसा कर रहे हैं उन्हें इससे कुछ मतलब नहीं। पाठक को अपनी कथा के मर्मस्थलों में छोड़कर शरत् दूर खड़े रहते हैं। उनके पाठक हँसते हैं या रोते हैं उन्हें इससे कोई मतलब नहीं। वे अपने पात्रों के विषय में कभी कोई अभिवक्तृता नहीं देते। कदाचित् इसीलिए शरत् के पात्र हमारे अधिक निकट हैं। प्रेमचन्द में यह नहीं है। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में सदैव विद्यमान रहते हैं। उनके पात्र उनके अनुसार विकसित होते हैं। अपने पात्रों के विषय में भी वे ही अधिक कहते हैं। रेणुजी लेकिन पूर्णतः निर्वैयक्तिक चित्रण करते हैं। पूरी परिकथा में ऐसा नहीं लगेगा कि अमुक पात्र के विषय में रेणुजी ने कुछ कहा है या अमुक चरित्र के प्रति रेणुजी की अधिक सहानुभूति या पक्षपात है। उसकी कोई पैरवी वे कर रहे हों। अनेक कथाओं के होते हुए भी उनका विकास स्वतन्त्र ही हुआ है। कोई नियमन या प्रयत्न लेखक का प्रयास-सिद्ध नहीं प्रतीत होता। साहित्य की निर्वैयक्तिता यही कहलाती है। पर इसका निष्कर्ष यह नहीं है कि परिकथा रेणुजी के व्यक्तित्व से शून्य है। उसमें उनका व्यक्तित्व है और पूर्ण है। उसकी अभिव्यक्ति, लेकिन, प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। उनके पात्रों और कथाओं

के चुनाव में, उनके अनुभव में वह झाँकता है। परिकथा इस बात का उदाहरण होगी कि कोई लेखक कृति में कितना डूबकर लिख सकता है, पर साथ ही कितना तटस्थ और निरपेक्ष भी रह सकता है। व्यक्तित्व और निर्वैयक्तिता का यह समतोल परिकथा में अपूर्व है।

इधर साहित्य में सामाजिक तत्त्व का आग्रह तीव्र हो चला है। समाज के चित्रण में उपन्यासों का आदर्श आज तक 'गोदान' ही रहा है। 'परिकथा' का विकास इस दिशा में भी हुआ है। 'परिकथा' में अनेक चित्र हैं विभिन्न समाज के, समग्र समाज के भी। यहाँ वैयक्तिक समस्याओं का हल है—मन-मुटावकर, मिल-बैठकर। यहाँ ग्राम की समस्याओं का हल है—जमींदार का विरोध कर, राजनीतिक दाँव-पेंच से। यहाँ राजनीतिक समस्याओं का हल है आक्रोश प्रदर्शन कर और समझौता कर। हरिजन-समाज से लेकर नट और ब्राह्मण-समाज। घर की आन्तरिक सीमाओं से लेकर पनघट और सम्पूर्ण ग्राम की समस्याओं का चित्रण यहाँ है। राजनीतिक दलों को लेकर परानपुर की सीमा से बाहर पटना और कलकत्ता तक के दलों का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस चित्रण में रेणुजी में कहीं भी मानसिक शैथिल्य नहीं। किसी विशेष राजनीतिक दल से सम्बद्ध, 'परिकथा' के कारण, उन्हें नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्र रहकर सबका दर्शन उन्होंने किया है—साम्यवादी, समाजवादी, कांग्रेसी, भूदानी।—सबका निरपेक्ष चित्रण और उनकी न्यूनताओं पर कहीं भी पक्षपात नहीं। आज के राजनीतिक दलों की स्खलित स्थिति का चित्रण भी 'परिकथा' करती है। ग्रामीण संस्कृति में उनका क्या देय,अदेय है यह 'परिकथा' बतायगी। विशृंखलित होती हुई ज़मींदारी प्रथा के ढहते हुए समाज के चित्र, धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानों में अन्धी श्रद्धा से लगे भोले-भाले किसान, विश्वविद्यालयों से लौटे हुए नई रोशनी के छात्र, उनकी ग्राम-सापेक्ष्य समस्याएँ; अन्तर्जातीय सम्बन्धों की समस्याएँ भी यहाँ विचारित हैं। कहने का तात्पर्य यह कि परिक्षेत्र के समाज का पूर्ण चित्र 'परिकथा' प्रस्तुत करती है। समाज के इस चित्रण में रेणुजी के जागरूक चेता की गहरी पैठ और गहन अध्ययन के दर्शन होते हैं।

कृति में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक महत्त्व का निर्देश 'परिकथा' में मिलेगा। भारतीय ग्राम-समाज में इतना घुल-मिलकर देखना प्रेमचन्द के बाद रेणु में ही मिलता है। 'गोदान' के बाद 'परिकथा' ने ही साहित्य के सामाजिक मूल्यों की पूर्णतः तुष्टि की है।

प्रगति और प्रयोग

प्रगति पर विचार इधर राजनीतिक विचार-सरणियों के आग्रह से ही होते रहे हैं। प्रगति का सही अर्थ, लेकिन, परम्परा की पृष्ठभूमि पर अग्रिम विकास होना चाहिए। मानवीय व्यापकता का उत्तरोत्तर विकास ही प्रगति का लक्षण हो सकता है। इस अर्थ में 'परिकथा' पूर्ण प्रगतिशील है। प्रगतिशील लेखकों में नागार्जुन का नाम लिया जाता है। नागार्जुन के व्यंग्य बड़े तीखे और समस्याओं में उनकी पैठ गहरी है। लेकिन रेणु में नागार्जुन से अधिक विस्तार और व्यापकता है। नागार्जुन में जहाँ दृष्टिकोण का आग्रह मिल जायगा वहाँ रेणु उससे निर्लिप्त हैं। रेणु के व्यंग्य इतने तीखे अवश्य नहीं हैं पर प्रभाव उनका कुण्ठित नहीं है। राजनीतिक दलबन्दियों से ग्रामीणों के हित पर उनके व्यंग्य प्रभावशाली हैं। राजनीतिक दलों के नेतागण अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए भोली ग्रामीण जनता को किस

तरह बहकाते हैं—यह 'परिकथा' बतायगी। कम्युनिस्ट मक़बूल, कांग्रेसी लुत्तो, समाजवादी सुबिलाल मड़र (पोंपी) अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और विद्वेषों के लिए सम्पूर्ण ग्रामीण जनता में अनावश्यक जोश फैलाकर उनका अहित ही करते हैं। भूदान-आन्दोलन, सामुदायिक विकास-योजना का ग़लत अर्थ बताकर ये नेता जनता को ग़लत रास्ते पर ले जाते हैं, ग्राम-पंचायत के चुनावों में अनुचित व्यक्ति को सहारा देकर अपनी स्वार्थ-पूर्ति करते हैं। यह तो हुई ग्राम-राजनीति। यहाँ से निकलकर रेणुजी ने कुबेरसिंह के माध्यम से नगर-राजनीति की शून्यता और अव्यवस्था पर भी प्रकाश डाला है।

'परिकथा' में मानवीय व्यापकता का विस्तार भी हुआ है। मानव में आशा और आस्था के विकसित सूत्र इस कथा में हैं। प्रगति की ओर इसका सबसे सफल चरण सार्वभौमिकता का है। यह सार्वभौमिकता उसे आँचलिक उपन्यास होते हुए भी विस्तृत भूमि पर लाती है। मिसेज़ रोज़वुड आंग्ल होती हुई भी भारत की धरती के प्रति आकर्षित हैं, आकर्षित ही नहीं उसे अपनाती भी हैं। मिसेज़ रोज़वुड हटात् कार्नेलिया की याद दिलाती हैं। दोनों का भारतीय प्रेम और भावनाएँ समानता रखती हैं। 'परिकथा' की सार्वजनीनता उसके वर्गगत चित्रण से निकलने में है। प्रेमचन्द में यह वर्गगत चित्रण मिलता है। ऊपर हमने कहा है कि 'परिकथा' का प्रत्येक चरित्र प्रतिनिधित्व लेकर चलता है। प्रेमचन्द के चरित्र जहाँ वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं वहाँ रेणु के चरित्र वैयक्तिक दृष्टि से भी पूर्ण हैं। 'परिकथा' में जिन समस्याओं का संस्पर्श है वे सम्पूर्ण देश और राष्ट्र की समस्याएँ हैं। परानपुर की कथा भारत के किसी भी ग्राम की कथा हो सकती है। इस दृष्टि से वह यथार्थवादी शिल्प का ही अंग है।

दैनन्दिनी (डायरी) के रूप में भी उपन्यासों के नये प्रयोग हुए हैं। आंचलिक उपन्यास भी नये प्रयोग ही माने जायँगे। 'परिकथा' में मिसेज़ रोज़वुड (गीता मिश्रा) की डायरी एक स्वतन्त्र उपन्यास की सामग्री है। हमारी धारणा है कि 'परिकथा' भी दैनन्दिनी के रूप में लिखी जाकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुई है। स्थानों का इतना सूक्ष्म चित्रण, घटनाओं का इतना सम्पूर्ण (Graphic) विवरण डायरी-लेखक की उपलब्धि ही हो सकती है। 'परिकथा' दैनन्दिनी और रिपोर्ताज शैली का उपन्यास कहा जा सकता है। 'परिकथा' का सबसे सफल प्रयोग भाषा का है। इतनी अकृत्रिम होते हुए भी इतनी शिष्ट और साहित्यिक भाषा के दर्शन इधर के उपन्यासों में कम ही मिलते हैं। गद्य की इस भाषा में काव्य का-सा सम्मोहन है और किसी ने उचित ही कहा है कि "गद्य में भी मिथिला की भूमि विद्यापति पैदा कर सकती है, यह मुझे विश्वास हो गया।"

हमारी धारणा है कि 'परिकथा' प्रगति और प्रयोग का सही प्रतिनिधित्व और उचित मार्ग-दर्शन कर सकती है। 'परिकथा' में एक नई परम्परा के आरम्भिक सूत्र हैं, जो विकसित हुए तो हिन्दी के कथा-साहित्य को यथेष्ट समृद्धि प्रदान करेंगे।

शिल्प

'परिकथा' की महत्तम सफलता उसके शिल्प की है। हिन्दी के पिछले उपन्यासों में किसी का शिल्प-प्रयोग इतना सफल नहीं रहा। शिल्प का आदि निकष उसकी रोचकता है।

यद्यपि 'परिकथा' का पूर्वांश इस निकष पर खरा नहीं है तथापि समग्रत: उपन्यास सफल बन पड़ा है। रेणुजी की सबसे बड़ी विशेषता चित्रण की है। 'परिकथा' में चरित्र-बाहुल्य है। इतने अधिक पात्र उपन्यासों में कम ही देखे गए हैं। चरित्र की पाँच-सात रेखाएँ हैं और सम्पूर्ण व्यक्तित्व सम्मुख प्रस्तुत हो गया है। परिकथा के गरुड झा, भिम्मल मामा, लुत्तो बाबू, मकबूल, दिले, सुचित, सुरपतिराव, भवेश, गोविन्दो, शिवेन्द्र मिश्रा, जितेन्द्र मिश्रा, मिसेज रोजवुड, मि० एन्थोनी, मिस्टर फार्कर, ताजमनी, मलारी, इरावती, गीता मिश्रा, रानी माँ, सामबत्तीसी और अन्य अनेक चरित्र अपने-आपमें पूर्ण हैं, तब भी विशेषता तो यही है कि इस चरित्र-बाहुल्य में भी कोई चरित्र किसी से जरा भी नहीं मिलता। प्रत्येक चरित्र की वैयक्तिक विशेषताओं से लेकर उसके समग्र व्यक्तित्व जीवन का रेखाचित्र 'परिकथा' प्रस्तुत करती है। परिकथा में कथा-बाहुल्य भी है। कथा के साथ कथाएँ चलती हैं पर उन कथाओं में भी कोई समानता नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि परिकथा की अमुक कथा अपूर्ण रह गई हो। प्रत्येक प्रासंगिक कथा भी पूर्णतया विकसित है। इतनी कथाओं को समेटकर चलना उपन्यास की बहुत बड़ी सफलता मानी जायगी। परिकथा आंचलिकता और लोक-रंग को लेकर चली है। इस ओर की उसकी सफलता भी अप्रतिम है। लोक-साहित्य के विभिन्न उपादानों-लोकगीत (folk songs), लोक-कथाएँ (folk tales), लोक-पहेलियाँ (folk Riddles) और लोक-कहावतों (folk Adages) से 'परिकथा' भरी पड़ी है। लोक-गीतों की आधी-पूरी कड़ी पूरे उपन्यास में प्राण-संचार कर जाती है। लोक-साहित्य का इतना पूर्ण अध्ययन उपन्यासों के माध्यम से कम ही आया है। अब तक के उपन्यासों (आंचलिक) में 'परिकथा' सर्वश्रेष्ठ मानी जायगी। अंचल के लोक-व्यवहार, रीति-नीति, आचार-विचार, धार्मिक विश्वास, क्रिया-कर्म, लोक-मनोरंजन विभिन्न साधनों का पूर्ण विवरण और चित्रण परिकथा करती है। अभी तक काव्य में ही ध्वनि-चित्र सुने और देखे गए हैं लेकिन उपन्यास में गद्य के माध्यम से ध्वनि-चित्र 'परिकथा' में ही मिलेंगे। पशु-पक्षियों की बोलियाँ, साजों की ध्वनियाँ, व्यक्तियों की वैयक्तिक स्वर-प्रणालियाँ शब्दों में बाँधी गई हैं। इसका समस्त श्रेय रेणु जी की भाषा को है। साधारण बोल-चाल की भाषा (Coloquial Language) में लोक-रंग उभरे हैं। भाषा में एक अकृत्रिमता है—फिर भी वह असाहित्यिक नहीं। सर्वत्र भाषा का सौष्ठव है और अपनी परिनिष्ठा से स्खलित वह नहीं हुई। गद्य की भाषा का यह परिष्कार है, उसकी शक्ति का यह विस्तार है—जो परिकथा ही बताती है जन-भाषा के प्रयोग में यह प्रेमचन्द से आगे का चरण है।

'परिकथा' के विषय में एक शंका उठाई जा सकती है। उसकी आधिकारिक कथा को लेकर। 'परिकथा' में यद्यपि दो रूढ़ियों के जीवन की कथा है जिसमें पहली पीढ़ी की कथा दैनन्दिनी के रूप में चलती है दूसरी की प्रत्यक्षत:; तथापि हमारी धारणा है कि वह एक ग्राम के विकास की ही कथा है और समस्त कथाएँ इसी ओर प्रभावित हैं। प्रत्यक्षत: देखा जाय तो जितेन्द्र मिश्र की कथा को प्रमुखता दी जा सकती है। गाँव का पूरा विरोध उसीको लेकर चला है। फिर भी हमारा मानना है कि 'परिकथा' चली आती हुई हमारी औपन्यासिक मान्यताओं में क्रान्ति उपस्थित करती है। यह आवश्यकता तो नहीं कि उपन्यास में कोई प्रमुख कथानक अनिवार्यत: हो। और आज के कथा-साहित्य की प्रवृत्ति तो कथानक के ह्रास

की ओर ही है। उपन्यास के नायक को लेकर भी प्रश्न उठाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में भी हमारा विचार है कि परिकथा पहली बार बिना नायक के उपन्यास-विधान का प्रयत्न है। 'गोदान' की पूर्ण सफलता 'होरी' का चरित्र है। अवश्य 'परिकथा' ने 'होरी' का-सा कोई चरित्र निर्मित नहीं किया, परन्तु उसके प्रत्येक चरित्र 'होरी' की विशेषताओं को अलग-अलग लेकर चलते हैं और सब मिल-जुलकर वे 'होरी' के चरित्र से अधिक प्रभावशाली हैं। जितेन्द्र मिश्र में नायक होने की कुछ सम्भावनाएँ है पर उसे नायक इसलिए नहीं कहा जा सकता कि परानपुर के जीवन-विकास में उसका आंशिक हाथ ही है। जिस उद्देश्य को लेकर 'परिकथा' का प्रणयन हुआ है जितेन्द्र मिश्र उसके केन्द्र नहीं हैं, न ही उनकी कथा अन्य कथाओं से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। फिर भी कोई चाहे तो जितेन्द्र मिश्र और ताजमनी को लेकर नायक-नायिका की कल्पना कर सकता है। सच तो यह है कि 'परिकथा' कथानक और चरित्र की योजना स्वतन्त्र नहीं है, वह सम्पूर्ण जीवन-चित्र का अंग बनकर आई है। इस ओर भी यह रेणु जी का विकासमान सफल चरण देखा जा सकता है।

एक मूलभूत प्रश्न : जीवन-दर्शन

क्या यह आवश्यक है कि लेखक किसी विशेष जीवन-दर्शन का पल्ला पकड़े ही ? क्या अनिवार्यत: यह जीवन-दर्शन का निरूपण उपन्यास को प्रबोधक (Didactic) नहीं बना देता ? हमारा सोचना है कि 'परिकथा' का यह अभाव एक स्वतन्त्र, तटस्थ लेखक का अनिवार्य परिणाम है। किसी विशेष दृष्टिकोण के आग्रह के अभाव में रेणु जी ने जीवन के विभिन्न रूपों, स्थितियों में पैठकर उन्हें चित्रित भर कर दिया है। उन्होंने यह आवश्यक नहीं समझा कि उन स्थितियों, रूपों की कोई केन्द्राभिगामी प्रवृत्ति को दृष्टिकोण-विशेष से देखकर कोई वर्गीय जीवन-दर्शन समुपस्थित किया जाय। उपन्यास की यथार्थवादी कला में यह प्रकृतिवादी शिल्प खूब फबता है।

कोई जीवन-दर्शन का आग्रह ही चाहे तो जीवन के विकासवादी और उन्नतोन्मुख-दर्शन को 'परिकथा' में देख सकता है। उन्होंने विभिन्न चरित्रों के विभिन्न जीवन का दर्शन और समग्रत: एक ग्राम के जीवन का विकासवादी अध्ययन किया है और उसे उचित यथार्थवादी कला के माध्यम से प्रस्तुत कर दिया है। यह संवेदनशील पाठकों का काम है कि अपने उपयोग की सामग्री वे ढूँढ़ लें। एक तटस्थ और निर्लिप्त लेखक का कार्य इससे अधिक कुछ हो भी नहीं सकता।

'परती : परिकथा' एक ऐसी कृति है जिसकी सफलता के कारण औपन्यासिक समीक्षा की चली आती हुई मान्यताओं में भी परिवर्तन करना होगा। प्रत्येक श्रेष्ठ कला-कृति अपना आदर्श आप होती है और 'परती : परिकथा' भी एक श्रेष्ठ और स्वतन्त्र कला-कृति है।

मूल्यांकन

डॉ० रामखेलावन पांडे

शिवपूजन रचनावली

'शिव-पूजन रचनावली' में शिवपूजन बाबू की विविध रचनाएँ संकलित की गई हैं और संकलनकर्ता स्वयं लेखक हैं। अपने जीवन-काल में रचनावली अथवा ग्रन्थावली के प्रकाशन का सौभाग्य हिन्दी के लेखकों को प्रायः प्राप्त नहीं हुआ है। बिहार सरकार के भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, आचार्य बदरी नाथ वर्मा और शिक्षा-सचिव श्री जगदीशचन्द्र माथुर (आकाशवाणी के वर्तमान महानिर्देशक) हमारे धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके कारण इस रचनावली का प्रकाशन सम्भव हो सका। लेखक ने अपने वक्तव्य में कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार किया है कि "हमारी लम्बी बीमारी में चिकित्सा के निमित्त बिहार सरकार ने हमें आर्थिक सहायता देने की कृपा की थी। उसीके साथ पुनः यह भी आदेश देने की उदारता दिखाई थी कि हमारी सभी रचनाओं को परिषद् के नियमानुसार प्रकाशित करके उसके पुरस्कार की धनराशि हमें पेशगी दे दी जाय" (प्रथम खण्ड का वक्तव्य)। यह वक्तव्य शिवपूजन बाबू के निष्कपट व्यक्तित्व और स्पष्टवादिता का सूचक है और रचनावली के साहित्यिक मूल्य का संकेत भी।

प्रथम खण्ड में 'बिहार का बिहार' (पुराने बिहारोत्कल प्रान्त का ऐतिहासिक, प्राकृतिक और भौगोलिक परिचय), 'विभूति' (कहानी-संग्रह) और 'देहाती दुनिया' (ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र) संकलित हैं। दूसरे खण्ड में 'भीष्म' और 'अर्जुन' के जीवन-चरित, 'ग्राम-सुधार' (पुस्तिका), 'दो घड़ी' (व्यंग्य-विनोद), 'माँ के सपूत' (अर्जुन, अभिमन्यु, राममूर्ति, सेण्डो, गैरिक आदि की बालोपयोगी जीवनियाँ), 'अन्नपूर्णा के मन्दिर में' (ग्राम्य-समस्यामूलक रचना), 'महिला महत्त्व', 'बालोद्यान', 'साहित्यिक भाषणावली', 'सेवा धर्म' ('द वे आव सर्विस' का अनुवाद) एवं 'आदर्श-परिचय'-जैसे विभिन्न विभाग हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों और टिप्पणियों को तीसरे खण्ड में स्थान मिला है, जिनमें कुछ पत्रिकाओं के स्तवन हैं ('सुधा', 'माधुरी'), कुछ उपदेशामृत हैं ('धैर्य', 'परोपकार', 'समय का सदुपयोग') और अधिकांश सूचनात्मक परिचयात्मक हैं ('हिन्दी साहित्य में मध्यभारत का अतीत और वर्तमान', 'आचार्य शुक्ल की

सर्वप्रथम मौलिक रचना', 'विहार के हिन्दी पत्र', 'प्रयाग की हिन्दी-नाट्य-समित', 'बंगीय रंगमंच का इतिहास' आदि)।

'रचनावली' की ओर हमारा विशेष ध्यान जाना आवश्यक इसलिए है कि आधुनिक काल में शिवपूजन बाबू ही पहले बिहारी लेखक हैं जिनकी प्रतिष्ठा बिहार के बाहर भी हुई, यद्यपि राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह की कुछ रचनाएँ 'इन्दु' में प्रकाशित हो चुकी थीं। बिहार के साहित्यिक जागरण को विशाल हिन्दी-क्षेत्र के लिए सुलभ करने में भी इनका महत्त्वपूर्ण योग है, यद्यपि इसके कारण साहित्य में प्रान्तीयता के प्रचार का आरोप भी इन पर किया जा सकता है। गया की 'ऊषा' (३ दिसम्बर, १९४३) की सम्पादकीय टिप्पणी के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया इन्होंने प्रकट की—"हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में बिहार की साहित्य-सेवा का बहुत ही कम या अतिशय संक्षिप्त उल्लेख या वर्णन पाया जाता है—वह भी उन्मुक्त हृदय से किया गया नहीं, मन्द स्वर से" ।[1] 'कौमुदी' (पं रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संकलित' 'कविता कौमुदी' से तात्पर्य है) के प्रथम भाग में स्थान पाने योग्य क्या एक भी कवि बिहार में नहीं हुआ है ? क्या विद्यापति को छोड़कर इस बिहार का मुखोज्ज्वलकारी कवि कोई नहीं ? ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता.......। हम इस आशा से लिखते हैं कि त्रिपाठी जी इधर ध्यान देंगे और द्वितीय भाग के द्वितीय संस्करण में बिहार का तिरस्कार न होने देंगे।"[2] 'भाषणावली' में संकलित भाषणों को इस दृष्टि से देखना आवश्यक है; क्योंकि इनमें बिहार के साहित्यकारों की विरुदावली गाई गई है। इन विविध भाषणों को भी ध्यान से देखने से कुछ ऐसा आभास मिलने लगता है कि बिहार के साहित्यकारों के सम्बन्ध में भी शिवजी की दृष्टि कुछ-कुछ संकुचित होती गई है।

आधुनिक काल के साहित्यिक इतिहास की थोड़ी सामग्री इस रचनावली में अवश्य मिलती है, यद्यपि मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि वह सामग्री नामोल्लेख से कुछ अधिक नहीं है। सामयिकता और युगधर्म के साथ हिन्दी-पाठकों को परिचित कराने का प्रयास सर्वत्र परिलक्षित होगा। हिन्दी की साहित्यिक गतिविधि के प्रति आस्था रखते हुए भी इसकी उपलब्धियों से आप सन्तुष्ट नहीं दीखते। मुझे पूरी आशा थी कि आधुनिक काल के साहित्यिक इतिहास की दुष्प्राप्य सामग्री इस रचनावली में मिलेगी, किन्तु संकोच के साथ स्वीकार करना पड़ेगा कि वैसी सामग्री अति विरल ही है। उदाहरण के लिए आपके अनुसार 'हिन्दी-नाट्य-समिति' ही सबसे पुरानी है न।"[3] किन्तु जहाँ तक मेरी सूचना है प्रयाग की 'आर्य-नाट्य-शाला' सबसे पुरानी संस्था है जिसने पहली अप्रैल सन् १८७६ को 'वेणी संहार' का अभिनय किया था।

प्रथम खण्ड में 'बिहार का बिहार' परिचयात्मक ग्रन्थ अथवा रचना है और वह पाठ्य-ग्रन्थ की दृष्टि से लिखा गया था। इसके प्रथम संस्करण के वक्तव्य में पण्डित रामदहिन मिश्र ने लिखा था,—**"मैंने इस पुस्तक के लिखने के लिए बहुत-सा सामान संग्रह किया, पर कई आवश्यक कार्यों में फँस जाने के कारण पुस्तक-रचना में विलम्ब होने लगा,**

१. खण्ड ३, पृ० ३५३।
२. खण्ड ३, पृ० ३७५।
३. खण्ड ३, पृ० ४०१।

इससे मैंने यह भार अपने परम स्नेही 'हिन्दी भूषण' बाबू शिवपूजन सहाय को सौंपा और सब सामान उन्हें दे दिया।" 'विभूति' में सोलह कहानियाँ संकलित हैं, जिनका अध्ययन कथा-शिल्प के विकास की दृष्टि से होना चाहिए। शिल्प-विधि की अपेक्षा भाषागत सौष्ठव और वैचित्र्य का दिग्दर्शन इसमें हैं। शैली के इतिहास की दृष्टि से इन रचनाओं का अध्ययन लाभकारी होगा; क्योंकि अनुप्रास और नादात्मक चमत्कार को उस समय प्रधानता प्राप्त थी जिसके कारण भावगत सौष्ठव कुछ-कुछ गौण था। उदाहरण के लिए दो एक प्रयोग देखे जा सकते हैं—**"बांके-लड़ाके वीरों के कलेजे रणभेरी सुनकर चौगुने होते जा रहे हैं। नगाड़ों से तो नाकों में दम हो चला है।"** और **"शस्त्रों की झनकार और शंखों के शब्द से दसों दिशाएं सरस शब्दमयी हो रही हैं।"** प्रथम खण्ड में 'देहाती दुनिया' ही एक ऐसी रचना है जिसका साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व है। इधर आंचलिक उपन्यासों की धूम-सी मच रही है और कुछ ऐसी रचनाएँ आ रही हैं जिनमें ग्राम्य-जीवन की झाँकियाँ दिग्दर्शन और अंचल-विशेष में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग हो रहा है। आंचलिकता की भौंडी प्रवृत्ति, आग्रह और मोह से मुक्त यह रचना ग्राम-जीवन के कटु-मधु अनुभव और सरस-सजीले दृश्य उपस्थित करती है। भाषा अधिकांशत: परिनिष्ठ है, यद्यपि भोजपुरी-क्षेत्र के ग्रामों में प्रचलित शब्दों के प्रयोग कहीं-कहीं सार्वदेशिकता को खण्डित करते हैं।

तीसरे खण्ड में 'व्यंग्य-विनोद' शीर्षक के अन्तर्गत 'सरस्वती' के 'हास्य और विनोद' स्तम्भ के लिए लिखे गए साहित्य-विनोद संकलित हैं। तत्कालीन अभिरुचि के अध्ययन के लिए यह उपयोगी सामग्री है,........'माधुरी' के उसी अंक में कविवर पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है—**"कभी मैं भी दुलहिन थी।" अरे वह कौन-सा स्वर्ण-युग था महाराज? सचमुच वह बड़ा रंगीन जमाना रहा होगा। दूल्हा कमबख्त तो निहाल हो गया होगा।"**

दूसरे खण्ड में एक विभाग है 'माँ के सपूत', जिसमें 'अर्जुन की शस्त्र-परीक्षा' 'अभिमन्यु की वीरता', 'कुश और लव की बहादुरी', 'वीर बालक का बलिदान', 'कलियुगी भीम-राममूर्ति', 'युजेन सेण्डो', 'संसार का सबसे बड़ा अभिनेता--डेविड गेरिक' और 'समुद्र-विजयी वीर'-जैसी बालोपयोगी रचनाएँ संकलित हैं। ये रचनाएँ पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय से प्रकाशित होने वाले मासिक 'बालक' में प्रकाशित हुई थीं। इनमें 'कलियुगी भीम—राममूर्ति' 'बालक' के प्रथम वर्ष के तीसरे अंक में प्रकाशित हुआ था, वहाँ लेखक का नामोल्लेख नहीं है। सूचीपत्र में लेखक के स्थान में मुद्रित है 'सम्पादक' और सम्पादक थे श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। शिवपूजन बाबू के अन्य निबन्ध उनके अपने ही नाम के साथ प्रकाशित हुए हैं। पुस्तक भण्डार से 'संसार के पहलवान' (प्रथम भाग) नामक पुस्तक का प्रथम संस्करण श्रावणी पूर्णिमा सम्वत् १९८६ को प्रकाशित हुआ और द्वितीय आश्विन सम्वत् १९९० को। इसके संकलनकर्ता और सम्पादक थे श्री शिवपूजन सहाय। इस ग्रन्थ की विषय-सूची है—(१) कलियुगी भीम--राममूर्ति और लेखक के स्थान पर नाम है श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। इन सूचनाओं के आधार पर यह रचना श्री रामवृक्ष बेनी-कृत है, फिर इसका संकलन किस प्रकार 'रचनावली' में सम्भव हो गया। असंदिग्ध रचनाओं को ही रचनावली में स्थान मिलना चाहिए। छद्म नाम से अथवा अन्य व्यक्तियों के नाम

पर प्रकाशित रचनाओं के साथ आवश्यक टिप्पणी रहनी चाहिए।

पुस्तक आकर्षक और शेल्फ पर रखने योग्य है। विहार-राष्ट्रभाषा परिषद् सरकारी संस्था है, अतः मूल्यों का निर्धारण व्यापारिक दृष्टिकोण से नहीं होना चाहिए। साहित्य-अकादमी-जैसी संस्थाओं के प्रकाशनों के मूल्य की अपेक्षा परिषद् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों का मूल्य बहुत ही अधिक है। परिणाम-स्वरूप ये प्रकाशन पुस्तकालयों की शोभा-वृद्धि में ही समर्थ हो सकते हैं। राष्ट्रभाषा के संचालक-मण्डल और उसके अध्यक्ष विहार के शिक्षा-मन्त्री को इस विषय में विचार करना चाहिए।[1]

डॉ० हीरालाल गुप्त

'मध्य एशिया का इतिहास' खण्ड १

श्री राहुल सांकृत्यायन से हिन्दी-जगत् अपरिचित नहीं है। उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में अनेक विषयों पर हिन्दी में पुस्तकें लिखकर राष्ट्रभाषा-साहित्य की बड़ी सेवा की है। पुस्तकें लिखने का उन्हें शौक है और अभ्यास भी। अपनी निश्चित योजना के अनुसार अपने भीष्म अध्यवसाय द्वारा वे ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र के किसी विषय पर बड़ी-से-बड़ी रचनाओं को थोड़े-से-थोड़े समय में जन्म दे सकते हैं। साहित्यिक कार्य में उनका उत्साह केवल सराहनीय ही नहीं, अपितु युवकों के लिए एक उदाहरण है। जब से उनकी लेखनी ने चलना आरम्भ किया है तब से आज तक निरन्तर चलती आ रही है। आज के युग में हिन्दी में पुस्तकों के अभाव को दूर करने में उनका भाग कुछ कम नहीं है। रूसी-जगत् में ऐसे बड़े व्रतधारी, निरन्तर अध्यवसायी विद्वानों को सरकारी योजना के अनुसार पुस्तकें लिखने का कार्य सौंपा जाता। पर भारतवर्ष में सभी को अपना विषय चुनने तथा उस पर अपने विचार प्रस्फुटित करने का पूर्ण अधिकार है। यहाँ पर साहित्य के निर्माण में आन्तरिक एवं व्यक्तिगत संयम के अतिरिक्त और कोई बाह्य नियन्त्रण नहीं है। कोई अधिकारी व्यक्ति ज्ञान के समुद्र में पैठकर मनमाने रत्न निकाल सकता है। राहुल जी अपने अधिकार-क्षेत्र को सीमाबद्ध नहीं समझते। वे जैसे स्वच्छन्द पर्यटक हैं वैसे ही व्यापक क्षेत्र में एक स्वच्छन्द लेखक भी। उनका अपना एक परिचित दृष्टिकोण है। रूस से वे बड़े प्रभावित हैं। इस प्रभाव की छाप उनकी कृतियों से झलकती है। उनका 'मध्य एशिया का इतिहास' एक ऐसी ही कृति है। इसके लिखने की प्रेरणा उन्हें अपने रूसी मध्य एशिया के भ्रमण, वहाँ के इतिहास के अध्ययन और संग्रहालयों में प्रदर्शित ऐतिहासिक सामग्री के निरीक्षण से प्राप्त हुई है। उनकी यह रचना अपने विषय की हिन्दी में पहली पुस्तक है। इतिहास के विद्वान्, विद्यार्थी, लेखक

१. 'शिवपूजन रचनावली' तीन खण्ड : प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० संख्या क्रमशः चार सौ अठारह, चार सौ बहत्तर और पाँच सौ बीस, एवं मूल्य क्रमशः आठ रुपये बारह आने, नौ रुपये और दस रुपये।

और अन्य परिचारक इसका स्वागत करेंगे।

यूरेशिया के देशों के लिए मध्य एशिया के इतिहास का अध्ययन बहुत ही उपयोगी है। रूस, मध्य यूरोप, बाल्कन प्रायद्वीपीय प्रदेश, टर्की, ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, भारत, तिब्बत और चीन के जीवन पर मध्य एशिया ने बड़ा प्रभाव डाला है। यह देश विश्व की अनेक जातियों का आदि निवास-स्थान तथा क्रीड़ा-स्थल रहा है। इसे प्रागैतिहासिक काल की कौमों की जननी तथा प्राचीन संस्कृति का केन्द्र कह सकते हैं। यहीं से समय समय पर प्रतिकूल भौगोलिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण आर्य, शक, हूण, तुर्क और मंगोल आदि जातियाँ चारों ओर फैलीं। दूसरे देशों में पहुँचकर वे अपने घुमन्तू जीवन को त्यागकर बस्तियाँ बनाकर रहने लगीं। इन जनसमूहों के आने-जाने से मध्य एशिया और उसके पड़ोसी देशों में बड़े भीषण संघर्ष हुए जिसमें शक्तिशाली ने निर्बल को नष्ट कर अथवा दबाकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसीलिए मध्य एशिया को प्राचीन सभ्यताओं के जन्मदाताओं का मूल स्रोत माना जाता है। ऐतिहासिक युग में चीन, भारत, ईरान, जेरूसलम और अरब के धार्मिक और सांस्कृतिक सिद्धान्त मध्य एशिया की ओर गए, जहाँ विश्व के बड़े-बड़े धर्मों, संस्कृतियों, कलाओं, विचारों और साहित्यों पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ा। संस्कृतियों में इस्लामी संस्कृति, जातियों में मंगोल जाति और सिद्धान्तों में साम्यवाद वाद में पहुँचे। इसीलिए आज वहाँ पर केवल यही तीन चीजें देखने में आती हैं। शेष संस्कृतियों का ज्ञान पुरातात्विक सामग्री से ही प्राप्त हो सकता है। मध्य एशिया से ही होकर चीन, भारत, ईरान और रूस आदि देशों के एक-दूसरे के साथ होने वाले व्यापार के मार्ग गुजरते थे। इन मार्गों से आर्थिक सम्बन्ध और सांस्कृतिक आदान-प्रदान निरन्तर चलते रहे। पूर्वी तुर्किस्तान पर सदा चीनी संस्कृति का प्रभाव रहा; दक्षिणी मध्य एशिया पर सदा ईरानी संस्कृति का प्रभाव रहा; और दक्षिणी पूर्वी भाग से लेकर उत्तर तक भारतीय सभ्यता का प्रभाव रहा।

पश्चिम की ओर से हजारों वर्षों तक चीनियों के जीवन पर मध्य एशिया की जातियों का प्रभाव पड़ता रहा। उस ओर से निरन्तर होने वाले आक्रमणों से अपने देश की रक्षा के लिए उन्हें बड़े-बड़े युद्ध और अपमानजनक सन्धियाँ करनी पड़ीं। इन ताकतों ने सैकड़ों वर्ष तक चीन की नींद हराम कर दी थी, जिससे उन्हें विवश होकर अपने देश की सुन्दर राजकुमारियों को आक्रामकों को देकर उन्हें खुश करने की नीति अपनानी पड़ी। तुर्कों ने तो चीनी राजकुमारियों से अपना विवाह करना अपनी प्रतिष्ठा का चिह्न समझ रखा था। हूणों के प्रलयकारी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए उन्होंने अपनी उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर एक बड़ी विशाल दीवार खड़ी कर दी। मंगोलों के भयंकर आक्रमणों का प्रभाव आज तक चीनी समाज में दिखाई देता है। रूस का प्राचीन इतिहास मध्य एशिया की शक जाति का ही इतिहास है। मध्य एशिया से ही निकलकर तुर्कों ने अपने साम्राज्य की नींव डाली। यहीं से होकर कागज का प्रयोग, छपाई की कला और बारूद का प्रचार चीन से यूरोप पहुँचा जिससे इनके जीवन में बड़ी क्रान्ति आ गई और नये आधुनिक युग को जन्म मिला।

भारत के लिए मध्य एशिया का इतिहास दूसरे देशों से कम महत्त्व नहीं रखता।

अति प्राचीन काल से दोनों में घनिष्ठ व्यावहारिक सांस्कृतिक और राजनीतिक सम्बन्ध रहे हैं। अरब और यूरोप की जातियों के अतिरिक्त भारत में जितने विदेशी बाहर से आए वे सभी मध्य एशिया की घुमन्तू जातियाँ थीं। अन्त में वे सभी भारतीय बन गए और अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठे। इन्होंने भारतीय राजनीति, समाज और संस्कृति पर भी प्रभाव डाला। मध्य एशिया को भी भारत से बहुत-कुछ मिला। भारत के धर्म, सांस्कृतिक विचार तथा व्यापार की वस्तुओं ने मध्य एशिया के जीवन में बहुत परिवर्तन ला दिया। इस आदान-प्रदान से भौगोलिक ज्ञान बढ़ा। भारत के व्यापार के लिए नये बाजार मिले। मध्य एशिया और चीन की वस्तुएँ भारत पहुँची। भारत के वैद्यों का मध्य एशिया में सम्मान हुआ। मध्य एशिया की भाषाओं के सम्पर्क से भारतीय भाषाओं का विकास हुआ। हिन्दू और बौद्ध धर्म भारत से मध्य एशिया पहुँचे। ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर इस्लाम के प्रचार के समय तक बौद्ध धर्म मध्य एशिया का धर्म रहा। इस धर्म ने वहाँ के लोगों के जीवन में संयम ला दिया, उन्हें सभ्य बनाया और उनकी आध्यात्मिक भूख को तृप्त किया। मध्य एशिया में ही कुजुल कदफिस ने हिन्दू धर्म और विम कदफिस ने बौद्ध धर्म अपनाया। कनिष्क के समय सारे मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का बोल-बाला था। उसका साम्राज्य चीन की सीमा तक फैला। उसका अधिकांश समय मध्य एशिया के युद्धों में बीता। भारतीय उपनिवेश भी मध्य एशिया में बने। छठी शताब्दी में तुर्क-सम्राट् तोबाखाँ ने बौद्ध धर्म स्वीकार करके बौद्ध-ग्रन्थों का संकलन और बौद्ध-भवनों का निर्माण कराया। आठवीं शताब्दी में एक तुर्क कगान (शासक) का नाम मोग्लियान था। यह नाम गौतम बुद्ध के प्रधान शिष्य का था। बाद में मंगोलों ने भी बौद्ध धर्म को अपनाया। ख्वारेजम की मरुभूमि में कई नगरों के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं जिनमें भारतीय संस्कृति की बहुत गहरी छाप है। मध्य काल में इस्लाम स्वीकार करके तुर्क और मंगोल मध्य एशिया से ही भारत में आए जिससे भारत में बड़े राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए।

ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय के अध्ययन की ओर अभी तक विश्व का ध्यान अधिक नहीं गया। ग्रन्थों का भी अभाव रहा है। प्रामाणिक ग्रन्थ तो अभी तक नहीं लिखे गए। प्राचीन मध्य एशिया पर बहुत पुरातात्विक खोजों और अनुसन्धानों की आवश्यकता है। औरेल स्टाइन की खोजों ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। लगभग बीस वर्षों से रूस के विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है और अभी हाल में कुछ बड़े महत्त्व की खोजें भी हुई हैं। बहुत-से लेख और कुछ पुस्तकें रूसी भाषा में छपी हैं। बहुत अच्छा होता यदि राहुलजी का ध्यान ऐसे साहित्य का हिन्दी में अनुवाद करने की ओर आकृष्ट होता। हो सकता है कि भविष्य में वे इस कार्य को ले सकें। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने राहुलजी की पुस्तक को अपनी योजना में स्थान देकर तथा उसके प्रथम खण्ड को प्रकाशित करके हिन्दी में लिखित ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण में बड़ी सहायता की है। इस पुस्तक का अध्ययन करके मध्य एशिया के इतिहास में रुचि रखने वाले लोग इसके दूसरे खण्ड के छपने की प्रतीक्षा करेंगे।

अध्ययन की सुविधा के लिए मध्य एशिया को उत्तरा पथ और दक्षिणा पथ नामक दो भौगोलिक भागों में विभक्त किया गया है। पुस्तक में प्रागैतिहासिक काल से लेकर मंगोल

शासक चंगेज खाँ के समय तक का इतिहास है। प्रस्तुत विषय आठ भागों में विभाजित है। प्रत्येक भाग में कई अध्याय हैं। प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में प्राचीनतम मध्य एशिया की भौगोलिक स्थिति और कालान्तर में उसके क्रमिक परिवर्तन का उल्लेख किया गया है। शेष अन्य अध्यायों में प्रागैतिहासिक काल के पाषाण युग की विभिन्न स्थितियों में मध्य एशिया की जातियों तथा उनकी सभ्यताओं का वर्णन मिलता है। यह युग मनुष्य के इतिहास की पहली सीढ़ी है। इसके निर्माण में वैज्ञानिक तथा पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धानों के अतिरिक्त कल्पना का भी बड़ा स्थान है। इस युग का मानव अपने विकास की निम्नतम श्रेणी में था। आवश्यकताओं के अनुसार धीरे-धीरे उसके जीवन में परिवर्तन आते गए। इस युग में मनुष्य ने घुमन्तू जीवन अपनाया।

दूसरे भाग में ताम्र, पित्तल और लोह-युगों का चित्रण है। यह धातु-काल मानव के विकास का दूसरा युग है। इसी युग की सभ्यता का उत्तराधिकारी आज का मानव है। इसी युग में मध्य एशिया के कुछ मानव-समुदाय घुमन्तू जीवन का परित्याग करके संघर्ष द्वारा इधर-उधर बिखर गए, जिससे आपस में रक्त सम्मिश्रण हुआ। पहले के जीवन की अपेक्षा यह युग बहुत गतिशील था। सभी भागों में धातु युग एक साथ नहीं आया इसी कारण सभी भागों की सभ्यता का विकसित रूप एक-सा न था। सम्भवतः भूमध्य सागरीय जाति के मध्य एशिया में घुस आने पर भारत और यूरोप के पूर्वजों ने उनसे धातु का प्रयोग सीखा। इसी युग में लिपि का प्रचार हुआ। राहुलजी का कथन है कि 'संस्कृत और पालि के पुराने ग्रन्थों में लोह का अर्थ ताँबा होता है। उस समय ताँबे के लिए लोह शब्द का प्रयोग होता था। ताम्रयुग में लोहार या लोहकार-जैसे शब्द का प्रयोग ताम्रकार के लिए होता था। इसी प्राचीनतम धातु के लिए भारतीय आर्यों की भाषा में सबसे पहले अयस् शब्द का प्रयोग हुआ, जो कि पीछे लोहे के लिए बर्ता जाने लगा। लोहे का आविष्कार हो जाने पर ताँबे और लोहे में भेद करने के लिए ताँबे को लोह अयस् या ताम्र अयस् और लोहे को कृष्ण अयस् कहा जाने लगा। भारत में आने के कई सौ वर्ष बाद हिन्दी आर्य असली लोहे से परिचित हुए। यह विचार सन्दिग्ध-से लगते हैं। भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धान किये बिना इस कथन की पुष्टि नहीं की जा सकती।

ताम्रयुग में अनौ और ख्वारेजम से सप्तनद तक मध्य एशिया में द्रविड़ जाति की प्रधानता थी। भारत में मोहनजोदरो की सभ्यता इसी युग की थी। फिनलैण्ड के निवासी इसी जाति के हैं। फिन भाषा का द्रविड़ भाषा से सम्बन्ध भी है। दोनों जातियों के आकार और कद भी मिलते-जुलते हैं। इस कथन की पुष्टि के लिए मानव-विज्ञान-सम्बन्धी कुछ अधिक अनुसन्धानों की आवश्यकता है। इतिहास का यह एक रोचक विषय होगा। इसमें कई नये प्रश्न उठेंगे, जिनका समाधान आवश्यक होगा।

यूरेशिया में डेन्यूब नदी से त्यानशान-अल्ताई पर्वत-श्रेणी तक के प्रदेश को शकद्वीप तथा अराल और सिर दरिया के दक्षिण के प्रदेश को आर्यद्वीप कहा गया है; पर इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया गया। आर्यों के आदि-देश के विषय पर विद्वानों में बड़ा मतभेद होने के कारण राहुलजी का प्रमाण रहित कथन कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

राहुलजी मध्य-पाषाण-युग में शकों और आर्यों में कोई भेद नहीं मानते। दोनों को

वे एक ही विशाल समूह का अंग मानते हैं। शकों में गतिरोध और आर्यों में विकास की प्रेरणा को वे दोनों में अन्तर का कारण मानते हैं। भूमध्य-सागरीय जाति के सम्पर्क में आकर आर्यों की संस्कृति का बहुत विकास हुआ। वे जल्दी-जल्दी पित्तल युग को पार करके लोह युग में प्रवेश कर गए। इसके लिए दिया गया तर्क पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अकाट्य प्रमाणों की आवश्यकता है। दोनों में समानता का कारण आपस में आदान-प्रदान का होना भी कहा जा सकता है। इस कथन के विपरीत इन दो कौमों के भिन्न होने के विषय में काफी लिखा जा चुका है। फिर भी अनुसन्धान की काफी गुञ्जाइश है।

शक समाज में सती-प्रथा का होना बताया गया है जिसे आठवीं शताब्दी के एक पर्यटक ने देखा था। इस पर्यटक का नाम यदि दे दिया जाता तो इतिहास के विद्यार्थियों का बहुत हित होता। सम्भवत: भारत में सती प्रथा का प्रचलन शकों के आगमन से हुआ हो।

तीसरे भाग में मध्य एशिया के उत्तरा पथ की शक जातियों, हूणों, वूतियों वू-सुनों, अवारों तथा तुर्क जातियों के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का संक्षिप्त विवरण है। अल्ताई पर्वत पर पाजीरिक घाटी से प्राप्त हिमाच्छादित बहुमूल्य पुरातात्विक सामग्री के उल्लेख से शकों के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। तुर्कों में कुछ बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। कुछ सूर्य की पूजा करते थे और कुछ अग्नि की पूजा करते थे। राहुलजी का कथन है कि तुर्क हूणों से ही निकले और मंगोल भी हूणों की ही सन्तान हैं। पर इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया।

हूणों और तुर्कों का व्यवसाय युद्ध था। हूण योद्धा युद्ध में मरने की कामना रखते थे। उनका सम्मानजनक मृत्यु में विश्वास था। वे नतमस्तक होना अपमान समझते थे। यही विशेषताएँ भारत के राजपूतों के चरित्र में पाई जाती थीं। इस तुलनात्मक अध्ययन से राजपूत हूणों की सन्तान थे अथवा हूणों का उन पर प्रभाव पड़ा, आदि प्रश्न अनुसन्धान के रोचक विषय बन जाते हैं।

चौथे भाग में मध्य एशिया के दक्षिणा पथ के अरवमनी, कंग, ग्रीक, यूची, पह्लव, कुषाण, अफ्रीग तथा हेफ्ताल आदि वंशों का रोचक विवरण है। इसमें संसार के सर्वप्रथम महान् साम्राज्य की स्थापना करने वाले, ईरान के कुरव तथा उसके उत्तराधिकारी, गौतम बुद्ध के समकालीन सम्राट् दारयबहु का उल्लेख है। फ़ारसी और ग्रीक तथा भारतीय और ग्रीक बाख्त्री सभ्यताओं के आदान-प्रदान का भी अच्छा चित्रण है। इससे गांधार की मूर्ति-कला-शैली और मुद्रा-निर्माण-कला पर बहुत प्रकाश पड़ता है। ग्रीक और आरमीनी साहित्य तथा भारतीय और अन्य देशों के हूण राजाओं के सिक्कों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर राहुलजी का विचार है कि भारत में आने वाले हूण वास्तव में हेफ्ताल अथवा हूण सभ्यता में रँगे हुए शक थे। यह एक नई जानकारी है। इस पर अनुसन्धान होने की आवश्यकता है।

पाँचवें भाग में उत्तरा पथ की आगूज, उदगर और करकुल जातियों का वर्णन किया गया है। इनमें से उइगर सबसे पहले मुसलमान बने। छठे भाग में अरब जाति के उत्थान, इस्लाम धर्म के प्रचार, खलीफा के पद के लिए संघर्ष, शिया और सुन्नी सम्प्रदायों की

उत्पत्ति, दक्षिणा पथ में इस्लाम के उदय और विकास तथा अरब साम्राज्य की स्थापना और विस्तार के उल्लेख हैं। दूसरे खलीफा उमर के समय इस्लाम का शुद्ध धार्मिक स्वरूप लुप्त हो गया और राजनीतिक स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगा। विश्व-विजय के लिए एक सेना संगठित की गई। चौथे खलीफा अली के समय अरबों के पैर मध्य एशिया में पहुँचे। उमैया वंश के खलीफाओं के समय कुतैब नामक खुरासान के वली ने बलपूर्वक बड़ी तेजी से मध्य एशिया में इस्लाम का प्रचार किया जिससे जथुस्त्री तथा बौद्ध धर्मों को बहुत धक्का पहुँचा। अब्बासी वंश के मंसूर तथा हारून नामक खलीफाओं के संरक्षण में अरबी साहित्य-सृजन का का कार्य बड़ी तीव्र गति से हुआ। वैद्यक, तर्कशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष, गणित और भौतिक विज्ञान के बहुत-से ग्रन्थों का संस्कृत और ग्रीक से अरबी में अनुवाद हुआ।

सातवें भाग में उत्तरा पथ के कराखानी तथा कराखिताई नामक तुर्कों के साम्राज्यों का उल्लेख है। यहाँ के लोग चीनी संस्कृति से प्रभावित थे। अधिकांश लोग बौद्ध धर्म को मानते थे। कराखिताइयों ने १२०५ ई० में मुसलमानों के भीषण विद्रोह को दबाते समय सैंतालीस हजार को नष्ट कर दिया। लगभग इसी समय चंगेज़ खाँ के आक्रमणों से कराखिताइयों का प्रभाव नष्ट हो गया। इस्लाम की प्रधानता १५वीं शताब्दी तक उत्तरा पथ में न जम सकी। सारे प्रदेश पर मंगोलों का विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया।

आठवें भाग में दक्षिणा पथ के सामानी, कराखानी, गजनवी, सल्जूकी, गोरी और ख्वारेजमी तुर्कों तथा मंगोलों का इतिहास दिया गया है। सामानियों ने जथुस्त्री धर्म को छोड़कर नवीं शताब्दी के अन्त में इस्लाम धर्म अपनाया और उसका प्रचार भी किया। उन्होंने अरबी-साहित्य को समृद्ध बनाया और अपने साम्राज्य में बहुत अधिक भौतिक विकास किया। ख्वारेज़्म और समरकन्द उनके समय में व्यापार और संस्कृति के बड़े केन्द्र बने। समरकन्द में आठवीं शताब्दी में अरब वालों ने चीनी शिल्पकारों से काग़ज़ बनाना सीखा। दसवीं शताब्दी में सल्जूकी तुर्क मुसलमान बने। १२वीं शताब्दी में उन्होंने बड़े विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया। इसीकी एक शाखा उस्मानी तुर्क वंश ने विजन्तीन राज्य को नष्ट करके १४५३ में कुस्तुन्तुनिया को अपनी राजधानी बनाया और आगे चलकर मध्य यूरोप तक पहुँच गए। इसके एक सामन्त शहाबुद्दीन गोरी ने भारत में बंगाल तक इस्लामी सत्ता का विस्तार किया। १३वीं शताब्दी में सारे मध्य एशिया पर चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में मंगोल साम्राज्य स्थापित हो गया। बड़ी तीव्र गति से प्रज्वलित नफ्ता और बारूद के हथियारों का प्रयोग करते हुए मंगोल सैलाब की भाँति उत्तरी चीन से मध्य यूरोप तक और भारत की सीमा और तिब्बत से काकेशस तक ६ वर्षों के अन्दर फैल गए। विश्व के इतिहास में यह एक बहुत बड़ा सैनिक चमत्कार था। मंगोल विजय से मध्य एशिया में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने विजयी इस्लाम के अभिमान को चूर-चूर कर दिया, उसकी अजेयता के विचार को मिटाया और लाखों आदमियों को बड़ी निष्ठुरता के साथ मूली की तरह काटा। पर कारीगरों पर हाथ नहीं उठाया। उद्योग-धन्धों और व्यापार को प्रोत्साहित किया। चंगेज़ खाँ धार्मिक मामलों में निष्पक्ष था। उसके साम्राज्य में चोरी-डाके नहीं पड़ते थे। उसके राजनीतिक, युद्ध-सम्बन्धी और सामाजिक नियम 'यस्सा' कहलाये; जिन्हें प्रत्येक मंगोल इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी धर्म के रूप में मानता रहा।

पुस्तक में बहुत-सी सूचनात्मक बातें हैं, जिनसे साधारण ज्ञान की वृद्धि होगी। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

शक समाज में कई भाइयों की एक स्त्री हो सकती थी और स्त्रियों के एक समूह का पुरुषों का एक समूह पति समझा जाता था।

शक-सुन्दरियाँ अपने सौन्दर्य के लिए भारत में अधिक विख्यात थीं। हमारे वैद्यों ने उनके सौन्दर्य का कारण प्याज अधिक खाना बतलाया है।

शकों और हूणों में मृत सरदारों की बहुत-सी मूल्यवान् वस्तुएँ, सबसे प्रिय पत्नी और घोड़े शव के साथ कब्र में गाड़ दिये जाते थे।

भारत में शरीर गोदने की प्रथा सम्भवत: शकों के प्रभाव की द्योतक है, क्योंकि शक-समाज में यह विश्वास था कि शरीर गोदने से क्रूर पिशाचों से मनुष्य की रक्षा होती है।

शकों और यूचियों के समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था।

शक और ग्रीक धार्मिक मामलों में बड़े उदार थे।

शक सूर्य के उपासक थे। तोरमान भी सूर्य का भक्त था।

प्राचीन युग में ईरान और ग्रीस में भाई-बहन में विवाह हो सकता था।

बाख्त्रिया राज्य को यूचियों ने नष्ट किया।

मेनान्दर के पौत्र स्त्रात द्वितीय के सभी उत्तराधिकारी ग्रीक राजा और भारत में आये हुए ग्रीक लोग भारतीय बन गए।

बुद्ध की मूर्ति को सबसे पहले ग्रीक लोगों ने ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में बनाया। भारत में सबसे पहले बुद्ध की मूर्ति कनिष्क के समय में बनी।

ईरानी साम्राज्य का महान् शासक दारयबहु विश्व का प्रथम शासक था, जिसने अपनी मूर्ति, अपने सोने के सिक्के दरिक पर अंकित कराई।

बाख्त्रिया चीन और भारत के व्यापार का केन्द्र था।

विम कदफिस ने भारत में सबसे पहले १२४ ग्रेन का सोने का सिक्का चलाया। खैबर दर्रे के मार्ग को खोलने वाले कुषाण थे। उनके समय भारत का स्थल-मार्ग से होने वाला अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार खूब विकसित हुआ। इसके बदले में भारत में साइबेरिया का सोना आता था।

तुर्क पुरुष पाँसा खेलने में बड़े शौकीन थे और स्त्रियाँ फुटबाल खेलने की।

मुसलमान होने के पहले तक बौद्ध धर्म मंगोलों की तरह तुर्कों का भी जातीय धर्म रहा।

तुर्क और मंगोल घुमन्तू जातियों के सरदार चीन को हराकर वहाँ के सम्राट् के दामाद बनना तथा उसके देश से सोना और रेशम प्राप्त करना अपना हक समझते थे। इसके लिए चीन के सम्राट् के महल में सारे देश से सुन्दर लड़कियाँ इकट्ठी करके रखी जाती थीं। चीन की कूटनीतिक चालों में अपनी राजकुमारियों या अन्य सुन्दरियों को विदेशी आक्रान्ताओं को विवाह में देकर अपनी रक्षा करना सम्मिलित था।

नवीं शताब्दी में चीन में स्त्रियों के पैर छोटे करने का रिवाज़ प्रचलित हुआ, जिससे वे तुर्कों के साथ भागकर चीन के बाहर न जा सकें।

मध्य एशिया में यवन, शक, हेफ्ताल और तुर्कों ने बारी-बारी से अपना आधिपत्य स्थापित किया, पर किसी ने धर्म और संस्कृति पर आघात नहीं किया; बल्कि उन्हें मान्यता प्रदान की और उनसे बहुत-कुछ सीखा भी; पर अरब वालों ने उन्हें नष्ट करने का प्रयास किया। उसके समय में दूसरे धर्मों और संस्कृतियों के साथ समझौता करने की कोई गुञ्जाइश न थी।

'मालेगनीमत (युद्धों में धन, सुन्दरियों और गुलामों की लूट) हलाल है' के सिद्धान्त ने तरुणों को अरब सेना में भर्ती होने, कुफ्र को हटाने, पैगम्बर के धर्म को तलवार द्वारा फैलाने और गाज़ी बनने के लिए भारी आकर्षण पैदा किया। प्रत्येक साम्राज्य-निर्माण का कार्य जहाद था। अरब-विजेताओं ने गैर-अरब स्त्रियों से सन्तानें पैदा करने की प्रथा चालू करके इस्लाम को बाढ़ पर पहुँचा दिया। कागज़ का आविष्कार चीन की देन है। इसका आविष्कार ईसा की दूसरी सदी में हुआ।

कुतैब (अरब राज्यपाल) के नेतृत्व में इस्लाम मानवता के लिए भय की वस्तु बन गया।

मध्य एशिया में अरब झूठे, धोखेबाज, निर्दय और खून के प्यासे माने जाते थे। ....विश्वास-घात, वचन-भंग, निरपराधियों की निर्मम हत्या अरब शासन का प्रमुख रूप और मध्य एशिया में इस्लाम के प्रचार का साधारण ढंग था। उमैया वंश अरब जाति और अरब भाषा को दुनिया में सर्वोपरि मानता था।

पंजाब को छोड़कर बाकी भारत के साथ गजनवियों का सम्बन्ध केवल लूट-मार का था।

महमूद गज़नी पहला व्यक्ति था जिसने सुलतान की पदवी धारण की।

जहाँ-जहाँ इस्लाम पहुँचा वहाँ-वहाँ विद्या और सभ्यता की अवनति हुई, क्योंकि जिस गति से मुसलमानों ने ध्वंस किया उस गति से निर्माण नहीं किया।

बारूद का प्रयोग चीन में आतिशबाज़ी के तौर पर बहुत पहले से चला आता था। मंगोलों ने उसे युद्ध का हथियार बना दिया। जर्मनी के स्वाज़ ने मंगोलों की अग्नि बन्दूक देखकर तोप ढालने का आविष्कार किया। बारूद का युग चंगेज़ खाँ के समय से प्रारम्भ हुआ। मंगोलों द्वारा बारूद और मुद्रण-कला चीन से यूरोप में पहुँची, जिन्हें अपनाकर यूरोप दुनिया का अगुआ बना।

इस पुस्तक का प्रकाशन बहुत समयानुकूल है। स्वतन्त्र भारत के लिए अपने पड़ोसी राज्यों की जानकारी परम आवश्यक है। प्राचीन मध्य एशिया के इतिहास-सम्बन्धी अनुसन्धानों से प्राचीन भारत के इतिहास का ज्ञान सरल बन जायगा। इसलिए आज के युग में भारत में मध्य एशिया के इतिहास का अध्ययन उपादेय है। राहुलजी की पुस्तक के अध्ययन से भारत के पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान रूसी साधनों के अध्ययन की ओर जाना चाहिए। मध्य एशिया की जातियों का इधर से उधर जाना, उनके एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध अथवा संघर्ष तथा इतिहास को उनकी देन अनुसन्धान के गहन विषय हैं। इन विषयों के पर्याप्त अध्ययन के लिए भारत से प्राचीन इतिहास के विशेषज्ञों की एक टोली रूसी मध्य एशिया में भेजने की आवश्यकता प्रतीत होती है। सम्भवतः राहुलजी की पुस्तक

के अध्ययन से ऐसे विचार भारत में पैदा हों। कदाचित् पुस्तक के लिखने में उनका यही उद्देश्य रहा हो।

पुस्तक अभाव रहित नहीं है। विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने तथा उसके सभी आवश्यक भागों को यथासम्भव उचित स्थान देने के लिए कुछ और अध्यायों के जोड़ने की आवश्यकता है। 'मध्य एशिया में आर्य', 'मध्य एशिया में बौद्ध धर्म' तथा 'मध्य एशिया के शिल्प-उद्योग और व्यापार' नाम के यदि तीन अध्याय और जोड़ दिये जाते तो विषय का अध्ययन पूर्ण हो जाता। इन विषयों पर यत्र-तत्र सामग्री मिलती है पर उनका क्रम से अध्ययन नहीं हो पाता। इन विषयों का मध्य एशिया के इतिहास में बहुत महत्त्व है, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। आर्य जाति ने विश्व के इतिहास के निर्माण और विकास में सभी प्राचीन कौमों से अधिक भाग लिया है फिर भी पुस्तक में उन्हें पर्याप्त स्थान न देकर शकों के उल्लेख को प्रधानता प्रदान की गई है। बौद्ध धर्म लगभग एक हज़ार वर्ष तक वहाँ की घुमन्तू जातियों को सभ्य बनाता रहा है और आज भी चल रहा है। मध्य एशिया के व्यापार-केन्द्रों द्वारा कितने ही देशों का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसलिए यदि इन महत्त्वपूर्ण तीन विषयों पर अलग-अलग अध्याय लिखकर अधिक प्रकाश डाला जाता तो पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती।

पुस्तक जल्दी में लिखी गई है। प्राचीन ऐतिहासिक विषयों पर सरलता के साथ निश्चित निष्कर्ष निकालकर कोई मत बनाना सुलभ नहीं है। पर राहुलजी ने ऐसा ही किया है। इतिहास लिखने के इस मार्ग को अपनाना भयंकर भूलों से खाली न होगा। प्राचीन मध्य एशिया के इतिहास पर गम्भीर चिन्तन, विश्लेषणात्मक अनुशीलन, अनुसन्धानात्मक विचार-शोध तथा प्रमाणात्मक निष्कर्षों की आवश्यकता है। शक और आर्य एक ही विशाल समूह के दो अंग थे; यूचियों और कुषाणों के पूर्वज शक थे; तुर्क और मंगोल हूणों की सन्तान थे; भारत के हूण भी एक प्रकार के शक ही थे; इस प्रकार के बहुत-से कथन पुस्तक में मिलते हैं, जिन्हें बिना पुष्ट प्रमाणों के मान्यता नहीं दी जा सकती।

पुस्तक के निर्माण में रूसी, फ्रेंच, ग्रीक, चीनी, ईरानी, भारती, तिब्बती तथा मध्य एशियायी साधनों के प्रयोग का दावा किया गया है। कहीं-कहीं पर उनका जिक्र भी है। पर इन साधनों के आधार पर लिखे मध्य एशिया के इतिहास के अनुशीलन से भारत के इतिहास की जिन गुत्थियों तथा मत-मतान्तरों का समाधान होना चाहिए, वह नहीं हो सका। इसका यह कारण है कि राहुलजी एक पक्ष लेकर चले हैं। दूसरे पक्षों का तार्किक खण्डन अधिकांश स्थानों पर नहीं किया। इससे उन्होंने अपने को तो मत-मतान्तरों के पचड़े से बचा लिया है, पर अपने अलग मत कायम कर दिए हैं। इससे विवादों का समाधान न होकर उनकी संख्या बढ़ गई है।

पुस्तक में रूसी विचारों की प्रधानता है। दृष्टिकोण भी वैसा ही है। मध्य एशिया का सारा इतिहास शकों और हूणों का इतिहास मालूम पड़ता है। रूसी उच्चारण के आधार पर ही शब्द लिखे गए हैं। रूसी आधारों के प्रति राहुलजी का यह झुकाव अस्वाभाविक नहीं है। रूस में वे लगभग पच्चीस माह तक रहे हैं। मध्य एशिया का उन्होंने भ्रमण किया है; वहाँ के संग्रहालयों को देखा है और ऐतिहासिक साहित्य का अध्ययन किया है।

रूस के विद्वानों के सम्पर्क में वे आये हैं, रूसी जीवन से होकर गुज़रे हैं तथा उनके विचारों से प्रभावित हुए हैं। रूस की पुरातात्विक खोजों से मध्य एशिया के इतिहास की बड़ी सामग्री प्राप्त हुई है। इसे भुलाकर कोई विद्वान् मध्य एशिया के इतिहास का निर्माण करने का साहस नहीं कर सकता। इन सभी परिस्थितियों का राहुलजी के विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। तिब्बत ने उन्हें बौद्ध धर्म के रंग में रँग दिया। रूस ने उन्हें साम्यवाद के रंग में रँग दिया। नये रंगों की छाप से पर्यटक विद्वान् अपने को नहीं बचा सकते। नये मुसलमान के अधिक प्याज खाने का जिक्र उन्होंने कहीं पर किया भी है। इससे दृष्टिकोण कहीं-कहीं एकांगी हो गया है। स्वतन्त्र विचार पनप नहीं पाये। इतना सब होते हुए भी पुस्तक के पढ़ने से राहुलजी की जिज्ञासु प्रकृति का भली भाँति परिचय मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी पुस्तक के अध्ययन से पाठकों में भी जिज्ञासा पैदा होगी।

शब्दों के लिखने में अनावश्यक नवीनता लाने का प्रयत्न किया गया है। 'एशिया' को 'एसिया' लिखने में पाश्चात्य परम्परा की छाप है। अधिकांश नाम रूसी उच्चारण के आधार पर लिखे गए हैं भारत में प्रचलित नामों के उच्चारण का परित्याग कुछ महत्त्व नहीं रखता। चंगेज़ खाँ को चिंगिसखान, सिकन्दर को अलिकसुन्दर, दारा को दारयबहु आदि अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कुछ शब्द ग़लत लिखे गए हैं जैसे 'रीति-रिवाज' को 'रीति-रवाज़'। पुस्तक की भाषा सरल है, पर शैली में प्रवाह तथा स्वाभाविकता नहीं है। यद्यपि ग्रन्थ किसी कृति का अनुवाद न होकर प्राप्त पुस्तकों का अपने ढंग का निचोड़ है, फिर भी भाषा में अनुवादित भाषा की कृत्रिमता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लेनिन का चित्र अनावश्यक है। इसकी उपयुक्तता द्वितीय खण्ड में अनिवार्य कही जा सकती है, प्रथम में नहीं।

पुस्तक जल्दी में छापी गई है। प्रूफ़ ठीक से नहीं देखे गए, जिससे छपाई की बहुत-सी ग़लतियाँ रह गई हैं। कहीं-कहीं पर विषय-सूची और विषय-वर्णन के नामों में भिन्नता है। अनेक स्थानों पर विषय-सूची के पृष्ठाङ्क अध्यायों के पृष्ठाङ्कों से नहीं मिलते और कहीं-कहीं पर पृष्ठाङ्क छूट गए हैं। कहीं-कहीं पर विषय-सूची के अध्यायों के अन्तर्गत उपविषयों का क्रम ग़लत है और कहीं-कहीं पर उपविषयों के नाम छूट गए हैं। कुछ नाम सभी स्थानों पर एक-से नहीं लिखे गए। मानचित्रों की सूची के पृष्ठाङ्क पाँच स्थानों पर मानचित्रों के पृष्ठाङ्कों से नहीं मिलते। मानचित्र-सूची के अधिकांश अंक-क्रम ग़लत हैं। एक-दो जगह विषय की कुछ पंक्तियाँ कहीं-की-कहीं छप गई हैं। पृष्ठाङ्क २१३ के प्रारम्भ में पृष्ठाङ्क २१४ की पहली लाइन होना चाहिए। अनेक स्थानों पर शब्दों की मात्राएँ ग़लत हो गई हैं। ये सब छपाई के दोष हैं।

उपरोक्त त्रुटियों के होते हुए भी राहुलजी का कार्य सराहनीय है। यद्यपि उन्होंने इतिहास पर कोई शोध नहीं किया, पर उनकी पुस्तक को पढ़कर ज्ञात होता है कि उनकी रचना एक अधिकारी विद्वान् की कृति है। प्रस्तुत विषय में कुछ नवीनता लाई गई है जिससे अन्धकार-युग का इतिहास रोचक बन सका है।[1]

---

१. 'मध्य एशिया का इतिहास' खण्ड १ : लेखक—राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृष्ठ संख्या—५२६, मूल्य १२)।

डॉ० व्रजमोहन गुप्त

दुखमोचन

इधर कुछ समय से राष्ट्र-निर्माण और लेखक, लेखक का सामाजिक दायित्व, लेखक की आस्था, समाज और साहित्य आदि विषयों की काफी चर्चा सुनने-पढ़ने में आ रही है। इन समस्याओं का सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करना और कुछ फैसला दे देना जितना सुगम है, राष्ट्र-निर्माण में सहायक उत्कृष्ट साहित्य का सृजन उतना सुगम नहीं है। इस दिशा में किये गए प्रयत्न के फल को, पूर्णप्राण-प्रतिष्ठा के अभाव में, प्रचार-बुलेटिन बन जाते देर नहीं लगती। देश की वर्तमान समस्याओं को लेकर जो-कुछ लिखा जा रहा है उसके दो पक्ष हैं। एक पक्ष है आज की व्यवस्था और नव-निर्माण के प्रयत्नों में जो ख़ामियाँ हैं उनकी आलोचना और उन पर तीखे व्यंग की चोट। वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट लेखकों के लिए इस पक्ष का निर्वाह सुगम और स्वाभाविक है। आलोचना और व्यंग यदि देश और मानव-समाज के भविष्य में पाठक की आस्था को दृढ़ करें और उन खामियों को दूर करने की प्रेरणा दें तो वे कल्याणकारी हैं, अशिव वे तब हो जाते हैं जब देश या मानव-समाज के भविष्य में पाठक की आस्था तथा नव-निर्माण की आकांक्षा ही को मन्द करते हैं। उसका दूसरा पक्ष है, निर्माण के लक्ष्य की रूपरेखा प्रस्तुत करना, उसे प्राप्त करने के व्यावहारिक उपाय सुझाना और उस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा प्रदान करना, निश्चय ही किसी उत्कृष्ट कला-कृति में इस दूसरे पक्ष का निर्वाह अधिक कठिन है। इसके लिए अधिक व्यापक और गहरी कल्पना-शक्ति और अधिक उदार और संवेदनशील हृदय अपेक्षित है।

श्री नागार्जुन ने कवि और उपन्यासकार के रूप में काफी ख्याति अर्जित की है। वे हिन्दी के उन थोड़े-से लेखकों में से हैं जो देश और समाज की वर्तमान समस्याओं के प्रति बराबर जागरूक रहे हैं। तीखे व्यंग की चोट उनकी शैली की विशेषता है और इसलिए उनकी कुछ रचनाओं में ऊपर बताये गए प्रथम पक्ष की ही प्रधानता रही है। अपने नये उपन्यास 'दुखमोचन' में उन्होंने दूसरे पक्ष की ओर ध्यान दिया है। उपन्यास का नामकरण उसके नायक के नाम के आधार पर किया गया है।

प्रस्तुत उपन्यास में एक ग्राम के नव-निर्माण की कहानी कही गई है। केवल भौतिक नव-निर्माण ही नहीं; वहाँ के निवासियों के मन, भावना और विश्वास के नव-निर्माण की कहानी कहना भी लेखक का लक्ष्य रहा है।

टमका कोइली कोई छोटा गाँव नहीं था, पाँच हजार से ऊपर की जनसंख्या वाली यह एक भारी बस्ती थी। दरअसल यह छोटी-छोटी कई बस्तियों का समूह था। बीच-बीच में खेत और बाग फैले हुए थे। उत्तर-पूरब की तरफ से कन्नी काटकर एक नदी निकल गई थी। इधर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की पक्की सड़क, उधर मीटरगेज की रेलवे लाइन।

दुखमोचन इसी ग्राम के निवासी थे। तीन भाइयों का संयुक्त परिवार था। घर में खेती-बाड़ी का काम होता था। वे स्वयं पाँच वर्ष तक कलकत्ता रहे, फिर न जाने क्या सूझा कि जमा-जमाया काम छोड़कर गाँव आ गये। जब कलकत्ता थे, काफी कमाते थे और सिल्क का कुर्ता, नफीस धोती और कीमती जूते पहनते थे। अब अधिकांशतः गाँव के निवासियों की

ही तरह सादा पहनते-खाते हैं।

गुञ्जेश्वरी दुखमोचन की पत्नी का नाम था। वे प्यार से उसे गुञ्जन कहा करते थे। चौदह की थी तो ब्याह हुआ था, चौबीस की हुई तो लगातार चार वर्षों तक टी० बी० की मरीज़ रहकर हमेशा के लिए आँखें मूँद लीं। सास की सख्ती से ढकी हुई दूब की तरह पीली हो गई थी बेचारी। बड़े भाई सुखदेव को बहू की तन्दुरुस्ती से न कुछ लेना था, न देना। दूसरा भाई नारायण तो और भी लापरवाह था। दुखमोचन शील-संकोच के मारे उन दिनों पत्नी के बारे में ज़ुबान भी नहीं खोलते थे। तो फिर वही हुआ, जो होना था।

दुखमोचन पत्नी को प्रेम करते थे। उन्होंने दूसरा ब्याह नहीं किया। वे जीवन-भर उसे भूल न सके। माँ के कठोर शासन, परिवार के अन्य सदस्यों की उपेक्षा और अपने शील-संकोच के परिणामस्वरूप घटी पत्नी की असामयिक मृत्यु का घनीभूत दर्द ही मानो उनकी रग-रग में दूसरों के दुःख और कष्ट के प्रति असीम संवेदना और ग्रामीण जीवन के पुनर्निर्माण का अडिग संकल्प बनकर समा गया। अब क्षण-भर के लिए भी उन्हें चैन नहीं। अपने तन-मन की सुध-बुध खोकर वे दिन-रात काम में जुटे रहते हैं।

दुखमोचन लगातार दस-बारह दिन बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए बाहर घूमते रहे हैं। शाम को थके-माँदे लौटे और देर से सोये, फिर भी रामसागर की माँ की मृत्यु के समाचार की भनक कान में पड़ी तो उठकर साथ हो लिये। भादों की उस काली रात में शव जलाने के लिए सूखी लकड़ियों के प्रबन्ध की समस्या उठी तो अच्छी किस्म की लकड़ी के तख्तपोशों की तैयारी के लिए चीरे गये अपने तख्ते दे दिए।

बाढ़ ने फसल चौपट कर दी थी। खारिश की तरह का एक चर्म-रोग फैला हुआ था, जिससे ७० प्रतिशत ग्रामवासी पीड़ित थे। पंचायत गाँव की गुटबन्दी को तोड़ नहीं सकी थी। चौधरी-टाइप के लोग स्वार्थ-साधन की अपनी पुरानी लत छोड़ने को तैयार नहीं थे। जात-पाँत का टंटा, खानदानी घमण्ड, दौलत की धौंस, अशिक्षा का अन्धकार, लाठी की अकड़, नफरत का नशा, रूढ़ि और परम्परा का बोझ···जनता के सामूहिक मार्ग में एक नहीं अनेक रुकावटें थीं। मुसीबत के दिनों में बाहर वालों से तत्काल सहायता पाना जितना कठिन था, उससे भी कठिन था सहायता में मिली हुई वस्तुओं और रकमों को सही जगहों तक पहुँचाना। स्वार्थी और लालची लोगों के सींग नहीं हुआ करते, न कोई खास किस्म का झण्डा-पताका होता है उनका।

टमका कोइली के लिए बाहर वालों से सहायता प्राप्त करने और सहायता से मिली वस्तुओं को सही जगह तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व दुखमोचन पर ही था। ये इलाके के पाँच-सात नेताओं और आफिसरों से बार-बार मिले, मेडीकल कॉलेज के अध्यापकों और छात्रों से बार-बार सहायता की प्रार्थना की., जिला-अधिकारियों तक प्रतिनिधि मण्डल की मार्फत जनता की सम्मिलित आवाज पहुँचाई। नतीजा यह हुआ कि गंधक के दर्जनों पैकेट और नारियल के तेल से भरे बीसियों डब्बे ग्राम-पंचायत के दफ्तर में पहुँच गए। सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेने वाले कुछ व्यापारियों ने नीम की सौ टिकियाँ साबुन की दी थीं। चार सौ मन गेहूँ भी प्राप्त हुआ।

कठिनाई यह थी कि पूजा-पाठ में लीन रहने वाले दुखमोचन के भाई सुखदेव को भी

मुफ्त के गंधक के पैकेटों, नारियल के तेल के डब्बों और नीम की साबुन की टिकियों का मोह था। मास्टर टेकनाथ ने काफी सामान उनके पास पहुँचा भी दिया। दुखमोचन को मालूम हुआ तो उन्होंने व्यवस्था की कि उनके परिवार का कोई भी सदस्य उस सामान को इस्तेमाल न करे और जो गरीब उसके वास्तविक अधिकारी हैं, उन तक पहुँचा दिया जाय।

दूसरी ओर गाँव के सबसे धनी व्यक्ति नित्यानन्द भी सहायतार्थ आये गेहूँ में से पाँच-सात मन गेहूँ चाहते थे। दुखमोचन ने सब टोलों-मुहल्लों, जात-बिरादरियों के प्रतिनिधि एकत्रित किये और दो-ढाई घण्टे की माथापच्ची के बाद सहायता के वास्तविक अधिकारी व्यक्तियों की फहरिस्त सर्व-सम्मति से तैयार की और उसीके अनुसार गेहूँ बँटवा दिया।

दुखमोचन ने ग्राम के स्त्री-पुरुषों तथा सिरमौन और पुनाई चक से आए ग्राम-रक्षा-समिति के जवानों की सहायता से श्रमदान द्वारा सड़क बनवाई, टमका कोइली ग्राम में आग लग जाने पर उसे बुझाने और लोगों का सामान बचाने का प्रबन्ध किया और बाहर से सहायता प्राप्त करके जलकर नष्ट हो गए ग्राम को दुबारा बसाने की व्यवस्था की।

दुखमोचन ने देखा था कि पूरे ग्राम में जो तीसेक मकान खपरैल के थे केवल वही बचे थे। आग ने मानो छू-छूकर उन्हें छोड़ दिया था। इस प्रकार के लंका-दहन से छुटकारा पाने के लिए नये मकान खपरैल के बनवाना उनका लक्ष्य था।

प्रगति में बाधा पहुँचाने वाले पुराने विचारों और संस्कारों के विरुद्ध जो मोर्चा दुखमोचन ने बनाया वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। माया विधवा थी और कपिल विधुर था। दोनों की उम्र में चार-पाँच वर्ष का अन्तर था। दोनों एक-दूसरे को चाहते भी थे, किन्तु विधवा-विवाह और वह भी दूसरी जाति में; कठिन समस्या थी। दोनों ही ने महसूस किया कि दुखमोचन की सहायता मिले तो रास्ता निकल सकता है। कपिल ने उन तक बात पहुँचाई। दुखमोचन ने माया के घर वालों को समझा-बुझाकर तैयार किया और पुराण-पंथियों के विरोध की चिन्ता न करके बाहर से एक आर्यसमाजी पंडित बुलाकर दोनों का विवाह करा दिया। मास्टर टेकनाथ, जो दुखमोचन के कामों में सदा रोड़े अटकाता रहता था, स्वयं मुसीबत में फँसा। गाँव में लगी आग में उसका बूढ़ा बैल खोल दिए जाने के बावजूद जलकर मर गया। प्रायश्चित्त के लिए बिरादरी वाले उसे परेशान करने लगे। अन्त में दुखमोचन ने ही उसे इस मुसीबत से छुटकारा दिलवाया।

इसी प्रकार ग्राम की और भी अनेक समस्याओं का समाधान लेखक ने दुखमोचन से कराया है। लेखक ने जितने सद्गुणों का आरोप अपने इस नायक पर किया है उनका बोझ वह ठीक-ठीक सँभाल नहीं पाता। वह व्यक्ति न रहकर एक टाइप बन गया है। पूरे उपन्यास का कथानक कुछ इस ढंग से गढ़ा गया है जैसे रोगी के लिए एलोपैथी का डाक्टर मिक्सचर का नुसखा लिखता है। जैसे ग्राम की सब समस्याओं की पहले से ही एक सूची बनाकर सामने रख ली गई हो और उनको उत्पन्न करने तथा उनका समाधान करने के लिए अपेक्षित पात्र गढ़कर उन्हे कथानक में गूँथ दिया गया हो। इसलिए अधिकांश पात्र यंत्र-चालित-से हो गए हैं। वे व्यक्ति न रहकर टाइप बन गए हैं। वास्तव में इतनी समस्याओं के स्वाभाविक ढंग से विकसित होने के लिए तो पाँच-सात सौ पृष्ठों की आवश्यकता होती। प्रस्तुत उपन्यास-लेखक ने १६२ पृष्ठों में पूरा कर दिया है। इसलिए कथानक और पात्रों के साथ पूरा न्याय नहीं हो

पाया। जिन पात्रों का सम्बन्ध सूत्री की समस्याओं से नहीं है वे अधिक सजीव और स्वाभाविक हैं, जैसे दुखमोचन की ६ बरस की बेटी टुनु। कहीं-कहीं लेखक की दृष्टि चूक भी गई है। पृष्ठ १८ पर कहा गया है कि दुखमोचन की औरत पाँच साल पहले हैज़े की शिकार हुई थी और पृष्ठ ७१ और ७३ पर सूचना मिलती है कि वह चार वर्षों तक टी० बी० की मरीज रहकर मरी। उस अभागी के प्राण हरने के लिए इतनी भयंकर दो बीमारियों की क्यों आवश्यकता पड़ी।

हिन्दी-उपन्यासों से मधुर स्निग्ध पारिवारिक जीवन तो मानो निर्वासित ही हो गया है। उसकी मनोरम झाँकी दुर्लभ हो गई है। वयस्क और प्रौढ़ पात्रों की अपनी प्रेम या जीवन-संघर्ष-सम्बन्धी समस्याएँ होती हैं। उन्हींमें वे इतने डूब जाते हैं कि अबोध बालकों की गंगा जल-सी पवित्र और शरद् पूर्णिमा की ज्योत्स्ना-जैसी उज्ज्वल शीतल उन्मुक्त हँसी और पूस की धूप-जैसे प्राण-प्रद निश्छल पारिवारिक स्नेह का जैसे उनके लिए अस्तित्व ही नहीं रहता। यह सही है कि संयुक्त परिवार लगभग टूट चुका है फिर भी बच्चों की किलकारी से मुखरित और माता-पिता या भाई-बहन के स्नेह की सुखद धूप से पोषित भारतीय परिवार के अस्तित्व से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। नागार्जुन के इस उपन्यास में ऐसे ही पारिवारिक जीवन के सजीव चित्र मिलते हैं। दुखमोचन की ६ वर्ष की छोटी बेटी टुनु के अबोध भोलेपन और मामी के संवेदना-गर्भित नारी-सुलभ पारिवारिक नेह-छोह और सेवा परायणता ने इस उपन्यास को प्राणों का स्पन्दन दिया है। मामी का स्नेह सुखदेव, दुखमोचन लीलाधर सभीके लिए है। सभी के प्रति वे सेवा परायण हैं। पास बैठकर भोजन कराने और पंखी से हवा करने में उन्हें तृप्ति मिलती है। यह स्नेह और सेवा शुद्ध पारिवारिक है। यों अन्तर्मन के उद्घाटन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के इस युग में खोजने वालों को मामी के इस स्नेह और सेवा परायणता के पीछे उनके विधवा जीवन की काम-अतृप्ति भी मिल सकती है।

नागार्जुन को ग्रामीण जीवन और खेती-बारी की अच्छी जानकारी है। इस दिशा में उनके सूक्ष्म-निरीक्षण का परिचय एक-एक पृष्ठ से मिलता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—"बैल बस दो थे—तन्दुरुस्त और नाटे कद के। सूरत उनकी साँवलिया थी। हल खींचने में दोनों बहादुर थे। जिन खेतों में धान उपजते हैं; बैसाख-जेठ की पहली जुताई के समय उनकी मिट्टी बेहद कड़ी होती है। जवान हलवाहा हो, मजबूत बैल हों, तेज और नुकीली फार हो, तभी वे खेत जोते जा सकते हैं। क्वार-कार्तिक या माघ-फागुन में हल्की भुरभुरी मिट्टी वाले खेतों में तो बूढ़े बैल भी हल खींच ले जाते हैं। ये मामूली नहीं, परगना-बछौर के तेज, हर्रार बैल थे। पाँच सौ पचास रुपये गिनकर सीतामढ़ी के मवेशी हाट से दुखमोचन और वेणीमाधव इन्हें लाये थे।"

दुखमोचन कहते हैं "दुनिया समझती है कि गाँव वाले बड़े भोले-भाले और शराफत के पुतले होते हैं, लेकिन यहाँ आकर देख आये कोई............कौन-सी बदमाशी छूटी है गाँव वालों से! लोभ-लालच, छल-प्रपंच, झूठ-बेईमानी, ठगी और विश्वास-घात.......वह कौन-सा औगुन है जो यहाँ नहीं है।"

ग्रामीण जीवन के प्रगति-विरोधी तत्त्वों को लेखक भली प्रकार समझता है, किन्तु

उसका विश्वास है कि उनकी शक्ति अधिक नहीं है। वे तो धीरे-धीरे स्वयं ही मुरझाते जा रहे हैं। उनसे झगड़ा-टण्टा मोल लेने से लाभ नहीं है। स्नेह और सहानुभूति के व्यवहार से ही उन्हें सही रास्ते पर लाया जा सकता है। वास्तविक बात है सार्वजनिक कार्यकर्ता की असंदिग्ध ईमानदारी और सेवा की सच्ची लगन। यह दोनों ही बातें दुखमोचन में हैं। इसीलिए ग्राम का जनमत उसके साथ है। उसके किसी भी कार्य का सख्त विरोध नहीं होता। नित्यानन्द, मास्टर टेकनाथ और वेणीमाधव के बूढ़े ताऊ पं० ललितनारायण-जैसे व्यक्ति अपने ढंग से प्रगति के कार्यों में बाधा डालने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनकी पार नहीं बसाती। धीरे-धीरे वे भी ठीक रास्ते पर आ जाते हैं। यह सही है कि सफलता के पीछे दुखमोचन की सचाई, निष्ठा और लगन की शक्ति है किन्तु फिर भी उपन्यास में जितनी सरलता से सब क्रान्तिकारी कार्य होते चित्रित किये गए हैं। वास्तविक जीवन में शायद वे इतनी सरलता से नहीं होते।

लेखक में अपनी बात कहने के लिए उतावलापन है। वे दुखमोचन के माध्यम से तो बोलते ही हैं अन्य पात्रों के माध्यम से भी बोलने लगते हैं। दुखमोचन सहायता में प्राप्त गेहूँ बँटवाने के बाद लोगों से कहते हैं "भाइयों, इस अनाज को खैरात न समझना और न गुलामी का चारा-चोगा ही समझना इसको। यह तो एक किस्म की अगाऊ मजदूरी है जिसके लिए आप सभी को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कभी-न-कभी काम करना होगा। आगे हम बाँध तैयार करेंगे, पोखरों की मरम्मत करेंगे, कुँओं की खुदाई होगी, गाँव की तरक्की के दसों काम होंगे। एक जूट होकर हमें सब यह करना है···।" दुखमोचन का यह भाषण तो उसके अनुरूप है लेकिन लेखक जब मामी के माध्यम से भी अपने विचार प्रकट करने लगता है तो वे कभी-कभी उन विचारों का बोझ सँभाल नहीं पातीं!

प्रत्येक पात्र को उसके अनुरूप अलग भाषा देने की जिस अपार क्षमता का परिचय हमें श्री अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में मिलता है, उसका 'दुखमोचन' में अभाव है। पंजाबी फेरी वाले के अतिरिक्त सब पात्र प्रायः एक ही भाषा बोलते हैं।

रेणु की उपन्यास-कला गाँव के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में बड़ी गहराई तक जाकर रस प्राप्त करती है और इसीलिए उसके वृन्त पर खिले 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' सुरभित और मकरन्द सिक्त हैं। नागार्जुन ने ग्रामीण जीवन और वहाँ की समस्याओं का सूक्ष्म निरीक्षण सतह पर किया है। इसलिए 'दुखमोचन' उतना रससिक्त नहीं हो पाया है। उसका पूर्वार्द्ध तो काफी यांत्रिक-सा है। इन सब बातों के होते हुए भी एक दृष्टि से 'दुखमोचन' बड़ी महत्त्वपूर्ण कृति है। वास्तव में देश के नव-निर्माण के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में दुखमोचन हों। आर्थिक सहायता, मशीनें, टेकनीकल ज्ञान और अनाज तो हमें विदेशों से भी प्राप्त हो रहे हैं किन्तु दुखमोचन तो कहीं बाहर से आयात द्वारा मँगाया नहीं जा सकता। उसका निर्माण तो हमें देश में ही करना होगा। जब तक गाँव-गाँव और नगर-नगर के लिए दुखमोचन का निर्माण करने में हम सफल नहीं होते तब तक विदेशों से प्राप्त विविध प्रकार की सहायता का पूरा लाभ देश नहीं उठा सकता। दुखमोचन के निर्माण की दिशा में प्रस्तुत उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण कदम है और इसके लिए श्री नागार्जुन बधाई के पात्र हैं। हमें आशा है

कि इस उपन्यास से हिन्दी-साहित्य में अधिक सशक्त कला से अनुप्राणित और इसलिए अधिक सजीव, प्रभावशाली और प्रेरणा-प्रद दुखमोचनों के आविर्भाव का पथ प्रशस्त होगा।[1]

क्षत्रज्ञ

कला-दर्शन

कला-दर्शन श्रीमती शचीरानी गुर्टू का नवीनतम अध्ययन है। हिन्दी-संसार श्रीमती गुर्टू को जो मात्र साहित्यालोचक जानता है, निःसन्देह उनकी इस कृति को देखकर आश्चर्य करेगा। मैं स्वयं उनकी इस दिशा में प्रगति का स्वागत करता हूँ, विशेषतः इस कारण कि हिन्दी-भाषा-भाषियों का सम्मान कला के सम्बन्ध में प्रायः नहीं के बराबर है, और नारी का सम्मान तो प्रायः सर्वथा नहीं है। इस कारण भी श्रीमती गुर्टू का यह सद्प्रयत्न विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करेगा। इस असामान्य रचना और उसके प्रकाशन पर लेखिका और प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

हमारे हिन्दी के प्रकाशकों का ध्यान कला-सम्बन्धी रचनाओं के प्रकाशन की ओर कम गया है। ऐसा नहीं कि वे उनका महत्त्व न समझते हों, पर चूँकि जनता में सुरुचि और कला-प्रेम की कमी से उनकी लागत में हानि की अधिक सम्भावना है, वे उस ओर कदम उठाने में झिझकते हैं। इसी कारण 'कला-दर्शन' के प्रकाशक के प्रति समीक्षक की बड़ी उदार भावना है। पुस्तक बड़ी है, पाँच सौ तिरेसठ पृष्ठों से अधिक, और उसमें सैकड़ों चित्र भी दिये गए हैं जिससे उसके छापने और प्रकाशित करने का खर्च बेहद बढ़ गया होगा। फिर भी प्रकाशक ने इसे छापकर जो सद्प्रयत्न किया है वह पाठकों के लिए निश्चय ही आदर की वस्तु है।

अब ग्रन्थ। ग्रन्थ के प्रधान अठारह भाग हैं। जिनमें प्रागैतिहासिक कला से लेकर आधुनिक शैलियों और कलाकारों पर प्रकाश डाला गया है। उसका कुछ ज्ञान विषय-सूची से हो जायगा, जो इस प्रकार है—

प्रागैतिहासिक कला, मिस्र की कला, चीन-जापान की चित्र-कला, यूनान की कला, इटालियन कला, स्पेन-फ्लौडर्स-जर्मनी-हालैण्ड की कला, फ्रांस की चित्र-कला, ब्रिटेन और अमरीका की कला, रूस की कला, आस्ट्रेलियन कला, अफ्रीका की कला, प्राचीन कलाएँ, मेसोपोटामिया और क्रीट, अरब-फ़ारस और मुस्लिम कला, भारतीय कला, विश्व की मूर्ति-कला, स्मारक, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्ति कलाकार, और विश्व के प्रमुख देशों के कला के कुछ उपयोगी आलोचनात्मक कला-ग्रन्थ। इन प्रधान मुख्य शीर्षकों के कुछ उपशीर्षक भी हैं जैसे—भारतीय कला के—सिन्धु घाटी की सभ्यता, उत्तरवैदिक काल, शैशुनाक, मौर्य और

१. दुख मोचन; लेखक—श्री नागार्जुन; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद; मूल्य तीन रुपये।

शुन्यु कला, मथुरा, अमरावती और गांधार कला, कला का स्वर्ण युग, मध्यकालीन मन्दिर, मुगल-कला, राजपूत कला, पहाड़ी चित्रशैली, दक्षिणी कला, भारतीय लोक-कला, अन्य छिट-पुट कलाएँ, भारतीय कला पर विदेशी प्रभाव, विदेशी कलाओं पर भारतीय प्रभाव, मध्य-एशिया, चीन, कोरिया और जापान, तिब्बत, नेपाल, ब्रह्मा, कश्मीर, लद्दाख, अफ़गानिस्तान, दक्षिणी-पूर्वी द्वीपसमूह, श्याम, यूनान, मलय और कम्बोडिया, चम्पा, हिन्देशिया, यूरोपीय देश, और भारतीय चित्रकला की आधुनिक प्रवृत्तियाँ। इसी प्रकार 'विश्व की मूर्तिकला' शीर्षक के उपशीर्षक हैं मिस्र और मैसोपोटामियाँ की मूर्तिकला, रोमन मूर्तिकला, पुनरुत्थान काल, (रेनासाँ) की मूर्तिकला, मूर्तिकला का पुनरुत्थान और पौर्वात्य मति कला। अफ्रीका, मैक्सिको, चीन-जापान और भारतीय मूर्ति कला।

जहाँ इस प्रशस्त विषय-सूची से ग्रन्थगत साहित्य के विस्तार का प्रसार प्रकट है वहीं उनसे उसकी सीमाएँ भी साफ़ जाहिर हो जाती हैं। इस प्रकार के ग्रन्थ का विकास यथासम्भव आवयवीय (आरगेनिक) शैली से होना चाहिए था। संसार के साहित्य और विशेषतः उसकी कला के क्षेत्र में सामूहिक आन्दोलन होते रहे हैं और उन्होंने निरन्तर साहित्य और कला की शैलियाँ और कलमें प्रस्तुत की हैं। उन आन्दोलनों का विधिवत् साक्षात्कार किये बिना कोई समीक्षक साहित्य या कला की धाराओं को न स्वयं समझ सकता है और न दूसरों के आलोचन के लिए ही उनके पट खोल सकता है। फिर उनके अध्ययन की पृष्ठभूमि के अभाव में रचना की वैज्ञानिकता भी आवेष्टित नहीं हो पाती। आराबेस्क, गोथिक, रेनेसाँ, नवक्लासिकल, रोमांटिक, प्राकृतिक, प्रभाववादी उत्तर-प्रभाववादी, अमूर्त-मूर्तन, यथार्थवादी, अवचेतन अथवा अति यथार्थवादी, भविष्यवादी, सामाजिक यथार्थवादी आदि साहित्य, चित्र और मूर्ति-कला में, लिथो और उत्कीर्णन में जितनी भी शैलियाँ चली हैं उन सबके पीछे उन प्रवृत्तियों और ललित साहित्य तथा कला के आन्दोलनों की इतनी गहरी पृष्ठभूमि है कि बिना उनकी समुचित जानकारी के उन विविध शैलियों को समझ सकना असम्भव है। कारण-रूप में उस पृष्ठभूमि का और कार्य-रूप में उससे पल्लवित विभिन्न शैलियों का सार्थक अध्ययन सावयवीय ही हो सकता है। उस दृष्टि में लेखिका निःसन्देह चूक गई है। इसी कारण ग्रन्थ के अंगांग वस्तुतः पारस्परिक समान मूलभूमि को छोड़कर संहिता के रूप में उखड़े-उखड़े एकत्र हो गए हैं और उन्होंने उन पुराणों का रूप धारण कर लिया है जिनमें वस्तु सम्पदा तो अनन्त है परन्तु सावयवीयता सर्वथा नहीं है। पुराण का उल्लेख यहाँ जान-बूझकर इसलिए किया जा रहा है कि उनके विषयों की अवैज्ञानिक पद्धति के बावजूद भारतीय इतिहास को उनकी देन अनन्त है। 'कला दर्शन' के भीतर एकत्रित सामग्री की मात्रा और परिधि भी बड़ी है, त्रुटि केवल उसके वर्गीकरण और आलोचन में है। उदाहरणतः यदि हम यह जानना चाहें कि क्रीट, यूनान, असूरी, ईरानी और भारतीय कलाओं के वैयक्तिक रूपायन एक-दूसरे से इतने भिन्न क्यों हो गए, स्वयं क्रीट और उसके पड़ोसी यूनानी कला-अभिप्रायों में इतना मौलिक अन्तर कैसे पड़ा तो हमें इसका उत्तर इस ग्रन्थ से नहीं मिल सकता। इसी प्रकार प्रभाववाद की व्यञ्जना, भविष्यवाद की चुनौती, अणुवाद का विश्लेषण—क्यों और किस प्रकार रेखा और वर्ण की परिधि में अपने नये सन्देशों के साथ उल्वण हुए, हम इस ग्रन्थ से नहीं जान सकते। इतने बड़े ग्रन्थ से अपेक्षित यह या

कि उन आधुनिक महान् चित्रण-शैलियों की पृष्ठभौमिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाले और यह दिखा दे कि 'छड़ी के साथ टहलना' पाल क्ली के लिए मात्र रेखा की अलसाई तृष्णा न थी वरन् रागात्मक विश्लेषण का एक वैभव था। कहते हैं कि पिकासो अपने बीस वर्ष की आयु में जब, वह पहली बार स्पेन से पेरिस पहुँचा, अपनी कला की कृत्रिमता में इतना दक्ष और विचक्षण हो चुका था कि वह रेनेसाँ के प्रधान कलावन्तों रफेल और माइकेल एंजेलो के साकृतिक चित्रणों से सफल लोहा ले सकता था, पर उस मधुराकृतिक वृत्त को तोड़कर जब वह बाहर निकल आया और इधर पिछले पचास वर्ष से नित्य नये प्रयोग करता जा रहा है तो निश्चय इन नये प्रयोगों का उसके निजी जीवन में और स्वयं कला के इतिहास में महत्त्व है। कला के इतिहास में तो उन प्रयोगों का इतना महत्त्व है कि पिछले पाँच दशकों के भीतर यूरोप और अमरीका में जितनी भी चित्र-शैलियों का प्रवर्त्तन हुआ है उन सबका मूल पिकासो के ये प्रयोग ही हैं। आधुनिक, विशेषतः भारतीय, कलालोचकों में (जिनकी संख्या सौभाग्य से स्वल्प है), जो बीसवीं सदी की कला-शैली के विकास को समझ नहीं पाते, अंगीकृत नहीं कर पाते, उन कृतियों को देखकर जो नाक-भौं सिकोड़ते हैं, एक स्वायत्त उँचाई से उन पर तिरस्कार और उपहास की नज़र डालते हैं, विरोध की मात्रा इतनी नहीं जितनी अज्ञान की है— वे इतना भी नहीं समझ पाते कि आकृति-चित्रण में अपील राग और सुन्दर आकृति के प्रति आग्रह की है, वक्र रूप से, 'कैड' या फूहड़ के प्रति भी, स्थूल या ग्रोस, के प्रति तो निश्चय, जहाँ अमूर्त्त और अनाकृतिक आधुनिक चित्रण में अपील और आग्रह बुद्धि के प्रति है। दोनों में अन्तर आज की अमरीकी जाज से आक्रान्त भारतीय फ़िल्मों या फ़िल्मी गानों—जिनकी अपील हृदयग्राही पर फूहड़ के प्रति है—और क्लासिकल अथवा मार्गीय (शास्त्रीय) गायन का है। जिस प्रकार शब्द-प्रधान होने से फ़िल्मी गाने अदीक्षित को सद्यः आकृष्ट कर लेते हैं पर मार्गीय गायन को हृदयंगम करने के लिए तालस्वर और छन्दस् की तरंगित सूक्ष्मता की समझ के लिए अभ्यास और डिसिप्लिन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सांस्कृतिक-सुडौल चित्रण से भिन्न रेखा और वर्ण मात्र की प्रक्रिया को समझने के लिए बुद्धि-चेतना की आवश्यकता होती है। पिकासो आदि का कहना है कि जैसे तरंगित स्वर की ध्वनि अपने में ही पूर्ण होकर अभ्यस्त और डिसिप्लिण्ड जन की सूक्ष्म चेतना को गद्‌गद कर देता है उसी प्रकार राग और रेखा द्वारा रूपायित चित्रफलक अभ्यस्त चाक्षुष-जन के मर्म को निःसन्देह छू लेगा, क्योंकि उसकी सिद्धि राग और रेखा द्वारा प्रस्तुत किसी इतर विषय में नहीं स्वयं राग और रेखा में है। आख़िर रेखा और वर्ण अपने से भिन्न किसी दूसरे का निरूपण क्यों करें? वे दूसरे का प्रतिनिधित्व क्यों करें? दूसरे के अर्थ के सूचक-प्रतीक क्यों बनें? ग्रीष्म-प्रधान देशों की सुबह और साँझ बड़ी प्यारी होती है और उनसे भी प्यारा उन पक्षियों का वह मधुर उल्लास होता है जिसके वशीभूत प्रातः-सायं वे निर्बन्ध रखते हैं। क्या मधुर लगने वाली उनकी ध्वनियों से चकित अभितृप्त मानव रुककर कभी पूछता है कि आखिर इन ध्वनियों का अर्थ क्या है? क्या वह केवल उन ध्वनियों के माधुर्य से अभितृप्ति से चुप नहीं हो जाता? फिर राग और रेखा द्वारा प्रस्तुत चित्रण की सम्पदा मात्र से दर्शक कला की परिधि में अभितृप्त क्यों न हो जाये? इनके पीछे के रहस्य को क्यों ढूँढे? इस आधुनिक बीसवीं शताब्दी के कला-दर्शन को समझने के लिए हमें उसके प्रति सहृदयता पूर्वक जागरूक

होना पड़ेगा। पर यह त्रुटि हम प्रस्तुत लेखिका के सम्बन्ध में ही व्यक्त नहीं कर रहे हैं, हमारी यह शिकायत उन समस्त भारतीय तथाकथित आलोचकों से है जो सावधि कला-शैलियों पर अपने अलान के छींटे उछालते हैं। हाँ, लेखिका उनसे परे नहीं है और इस त्रुटि को वह प्रतिनिधि रूप में स्पष्ट करती है।

ग्रन्थ का कलेवर विश्व की समूची कला को आत्मगत करने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसका प्रायः आधा विस्तार केवल भारतीय कला-क्षेत्र पर प्रकाश डालता है। भारतीय कला के उपशीर्षकों का यहाँ जो इतने विस्तार के साथ परिगणन हुआ है वह अन्य देशों की कला के परिमाण में अत्यधिक है। भारत-सम्बन्धी सामग्री भारतीय कला के विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ तो हो सकती है पर अपने विस्तार से अन्य देशों की कला-प्रियता को दबोच लेती है, मात्रा ने गुण का ग्रास कर लिया है। काश कि उसे इतना विस्तार न देकर उसकी जगह उन देशों की कला की प्रवृत्तियों का रहस्य भी खोला गया होता जिनमें मिनोअन और मिकानी रेखाओं का उद्दाम उल्लास मिनोस के प्रासाद की भित्तियों पर बिखर पड़ा है, जहाँ लुक्सर के मूर्तनों और चित्रों की चेष्टा दारुमय अन्तमुंख हो रुढ्यभिनिविष्ट हो गई है, जहाँ अस्सूरी पराक्रम सुमेरी निष्क्रियता की पीठ से उठकर सिंहिनी के पराक्रम को तीर मारता है, जहाँ मोहनजोदड़ो का साँड निहित शक्ति के अति बाहुल्य से गति शिथिल हो जाता है, जहाँ ईरानी स्तम्भों की शीर्ष-प्रक्रिया में अपादानी तक्षक प्रस्तर की आकृति को जीव के साँचे में ढालता चला जाता है! यह सब हमें कला दर्शन में अपेक्षित है, तभी इस प्रकार का ग्रन्थ दर्शन का स्थान ले सकेगा वरना वह विषयों की सूची अथवा सामग्री की अनुक्रमणी-मात्र रह जायगा।

यहाँ पर 'कला दर्शन' में बलपूर्वक स्थापित या अनुमोदित कुछ भ्रान्तियों की ओर संकेत कर देना अनिवार्य हो जाता है। पृ० ४२६ पर विदुषी लेखिका ने लिखा है कि—
"हाल की पुरातात्विक खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि एशियायी देशों से ही नहीं, वरन् प्रमुख यूरोपीय देशों में भी आदिम भारतीयों ने धर्म, संस्कृति, कला एवं साहित्य का प्रचार-प्रसार किया था। ईरान, ईराक, ग्रीस, अरब, योरोस्लम, फ़िलस्तीन आदि देश तो यहां से प्रभावित थे ही, रोम, अमरीका, स्पेन, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्कैंडिनेविया, रूस, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि देशों पर भी भारतीय देवी-देवताओं की प्रतिकृति से लगते हैं। एशिया चाइना में जो आर्य जाति बस गई थी, रोम निवासी उन्हींकी संतति है।"

'अमरीका महाद्वीप का पता यूरोपियों को तो बहुत बाद में लगा, किन्तु भारत का प्राचीन अमरीकन सभ्यता से कदाचित् घनिष्ठ सम्बन्ध था।'

वह वक्तव्य न केवल भ्रान्तिमूलक है बल्कि आत्मवंचक भी है, सर्वथा अवैज्ञानिक तो है ही। वैज्ञानिक विषयों पर लिखने वाले ग्रन्थकार को अवैज्ञानिक 'लोकप्रिय' प्रसंगों से सावधान रहना चाहिए वरना इच्छित सपने 'वास्तव' को नष्ट कर देंगे। पिछले पच्चीस वर्ष से मैं स्वयं भारतीय और यूरोपीय पुरातत्त्व का सचेत विद्यार्थी रहा हूँ पर मैं उन 'पुरातात्विक खोजों' को नहीं जानता जिनसे 'यह सिद्ध हो चुका है कि एशियायी देशों में ही नहीं, वरन् प्रमुख यूरोपीय देशों में भी आदिम भारतियों ने धर्म, संस्कृति, कला एवं साहित्य का प्रचार-प्रसार किया था।' फिर इन देशों पर 'धर्म, संस्कृति, कला एवं साहित्य का' प्रभाव

केवल भारतीयों ने ही नहीं बल्कि 'आदिम' भारतीयों ने डाला था। पहले तो आदिम शब्द का इस्तैमाल कोई इतिहासकार 'प्रिमिटिव' अथवा प्रागैतिहासिक के अतिरिक्त दूसरे अर्थ में नहीं करता। उस स्थिति में द्रविड़ों से भी पहले के भला वे कौन 'आदिम' (ऐबोरीजीनल) भारतीय थे जिन्होंने भारतीय संस्कृति का यूरोपीय देशों में प्रचार किया, यह समझ पाना कठिन है। और इन यूरोपीय देशों का जो परिगणन हुआ है उनमें रोम, स्पेन, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, स्केन्डिनेविया, रूस आदि सभी हैं। इन्हीं देशों और उन पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव का खुलासा करते हुए जो विदुषी लेखिका ने पृ० ४३४ पर लिखा है वह उत्साह का इतना अवैज्ञानिक प्रदर्शन है जिसकी जोड़ का साहस यदि कहीं मिल सकता है तो बस चालीस वर्ष पहले के उन प्रचारात्मक संस्था के प्लेटफार्म पर ही, जिसका उत्साह उस काल अवैज्ञानिक होता हुआ भी क्षम्य हो सकता था......'जर्मन शब्द के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार टाड का मत है कि यह संस्कृति के 'शर्मण्य' शब्द का अपभ्रंश है। सम्भवतः यहाँ के ब्राह्मणों का एक वर्ग, जो शर्मन की उपाधि से विभूषित था, जर्मनी जाकर बस गया था। जर्मन-देशवासियों के आचार-विचार—जैसे प्रातः उठना, स्नान-पूजा आदि भारतीयों जैसे ही हैं। जर्मन भाषा में संस्कृत शब्दों से भी बहुत अधिक समता है। स्केन्डिनेविया का संस्कृत में नाम स्कन्ध था। यहाँ की देव-प्रतिमाएँ भारतीय देवी-देवताओं से मिलती हैं। आराधना-पद्धति भी बहुत समान है। इनके प्राचीन धर्म-ग्रन्थ का नाम 'येद' है जो 'वेद' का ही विकृत रूप प्रतीत होता है।' ये शब्द तो निःसन्देह वैज्ञानिक विद्वत्ता की भीषण विडंबना के सूचक हैं। पहले तो टाड को इतिहासकार मान लेना फिर उसे संस्कृत पंडित और शब्दशास्त्री बना जर्मन शब्द का उसके शब्दों से व्युत्पत्ति करना साहस का ही काम है। 'शर्मण्य' का अपभ्रंश जर्मन न केवल संस्कृत से अपभ्रंश बनने वाले नियमों की छीछालेदर है बल्कि साथ ही वह उस भयानक प्रवृत्ति की द्योतक है, जिससे लगता है, मिटते हुए एक तथाकथित पाण्डित्याभास का एक अंश अब भी विद्यमान है। और आगे की सुख-कल्पना कि 'सम्भवतः यहाँ के ब्राह्मणों का एक वर्ग जो शर्मन् की उपाधि से विभूषित था जर्मनी जाकर बस गया था, 'तो नितान्त हास्यास्पद है। जर्मन शब्द कैसे बना यह यदि ट्यूतनी के आधार से जाना न जा सका तो कम-से-कम इतना जानने में तो बड़े पाण्डित्य की आवश्यकता न थी कि कोई जर्मन अपने देश को जर्मनी नहीं कहता सभी 'ड्वाएत्श लैण्ड' कहते हैं। इस वक्तव्य ने तो जर्मन और भारतीय दोनों इतिहासों का बड़ा फूहड़ उपहास किया है और जर्मन भाषा में संस्कृत शब्दों के समान शब्दों का होना तो केवल उस आधारभूत हिन्दी-यूरोपीय प्राचीन भाषा की ओर संकेत करता है जो भाषा-विज्ञान का ककहरा है। इसी परम्परा में लेखिका ने स्केन्डेविया के संस्कृत नाम 'स्कन्ध' को रच डाला और साथ ही 'एद्दा' को 'येद' बना, उसे 'वेद का विकृत रूप भी बना डाला।

अमरीका महाद्वीप का भारतीय सभ्यता की परिधि में आना कुछ ऐसे लिखा गया है जैसे वह प्रमाणों से स्वयंसिद्ध हो चुका हो। दीवानचन्द के 'हिन्दू अमेरिका' ने किस हद तक इस अवैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रचार इस देश में किया है कि खेद है कि साहित्य की समालोचिका उसकी सम्भावनाओं को कहाँ तो बुद्धि की पैनी नोक पर रखकर उनका विश्लेषण करती वह स्वयं उनकी भाषा से मोहाभिभूत हो गई है।

आधुनिक कला-शैलियों के सम्बन्ध में लेखिका ने जो विचार व्यक्त किया है, वह भी सर्वथा अग्राह्य है। पृ० ४४० पर वह लिखती है— "जो किसी निश्चित कला-तकनीक में माहिर नहीं होते और प्राचीन परम्पराओं पर पदाघात कर नई लकीरें बनाते आगे बढ़ते हैं उनकी विद्रोही विध्वंसात्मक अभिव्यक्ति कुत्सित चेतना का प्रतीक बनकर कला को भी कुरूप बना देती है।" देश में इस आधुनिक कला के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति फैली हुई है उसीका परिचायक यह वक्तव्य भी है। इस भ्रान्ति का आधार वस्तुतः अज्ञान है जिसमें कला की समसामयिक प्रगति के नये मूल्यों का पहचानना कठिन हो गया है। किस प्रकार सेज़ान के विश्लेषणात्मक रेखांकन से निकलकर चीनी-जापानी प्रभाववाद की प्रेरणा से मोने और माने की मंजिलों से बढ़ती हुई यह चित्र-शैली पिकासो की छत्रछाया में आज लहरा रही है उसकी कल्पना भी सम्भवतः हमारे सुन्दर आकृतिक चित्रों में रस लेने वाले दर्शकों को नहीं। आकृति की अपील, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, स्थूल के प्रति है, इन रेखाओं की सूक्ष्म बुद्धि के प्रति। इसको समझने के लिए आकृति का ऊपरी आकर्षक भेद रेखा की सूक्ष्मता में प्रवेश करना होगा।

पृ० ३४६ पर फतहपुर सीकरी की आवास-भित्तियों पर बने चित्रों के सम्बन्ध में विदुषी लेखिका लिखती है कि 'हिन्दू पत्नियों से यह कलात्मक रुचि अकबर को विरासत में मिली थी।' यह अपने देश की अकारण अप्रामाणिक श्लाघा का दूसरा उदाहरण है। अकबर के पास विरासत अपनी हिन्दू या मुसलमान पत्नियों की नहीं; चीनियों, मंगोलों, ईरानियों की थी, जो इसके पितामह बाबर और विशेषकर उसके पिता हुमायूँ के माध्यम से मिली थी। किस प्रकार सैयद मीर अली मुगल दरबार में ईरान से लाया गया, किस प्रकार उसकी भारतीय कल्पना के पट में लकीर की रंगसाजी फली-फूली और मुगल कलम कहलाई और किस प्रकार वह अकबर की विरासत बनी, इसके लिए हमें अपने प्रिय असत्य जोधाबाई का मुँह न तकना होगा।

सैन्धव सभ्यता को लेखिका ने ई० 'लगभग चार सहस्र वर्ष पूर्व रखा है। (पृ० ३१०) जो स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका आरम्भ भी तीन हजार ई० पू० से पहले रखने में इतिहासकारों को आपत्ति होगी। एक स्थान पर एक कुषाणकालीन चित्र के नीचे अनवधानतावश 'कुषाणकाल, द्वितीय शती ई० पू० छप गया है, जिसे 'प्रथम शती ईसवी' होना चाहिए था।

एक बात विदेशी शब्दों के उच्चारण के सम्बन्ध में कह देना यहाँ उचित होगा। हम अंग्रेजी सत्ता के कारण फ्रेंच आदि विदेशी शब्दों का उच्चारण अंग्रेजी ध्वनि के माध्यम से अब तक करते रहे हैं। कोई वजह नहीं कि अब हम उनका लेखन-उच्चारण उनके मौलिक अथवा भारतीय तरीके से न करें। साधारणतः हमें समझ लेना चाहिए कि इंग्लैण्ड को छोड़कर फ्रांस से अफगानिस्तान तक के रहने वाले टवर्ग का उच्चारण प्रायः नहीं कर सकते और उसे कोमल तवर्ग के रूप में करते हैं। इससे जहाँ-जहाँ ट-ड आदि अक्षर अंग्रेजी तरीके से लिखे गए हैं नाम-शब्दों के उच्चारण में उनका लेखन कोमल ध्वनि में होना चाहिए था।

चीन के प्रख्यात तांग-वंश को लेखिका ने पृ० २६ 'टांग-वंश' लिखा है। इसी नियम

के अनुकूल सारोक्टोनस, डोरिफोरस, डाएडमीनास, डोमेनिकोस, थियोटोकोपलस, रेनार (रन्वा), नेबुचादनेश्वर (नेबुखदनज्जार), (यही पृ० २५२ का नेबुयादनेश्वर पृ० ५४१ पर 'नेबुयादनेजर' बन गया है।) इसी प्रकार सुमेरिया, बेबिलोनिया, असीरिया, चैल्डिया (कैल्दिया), मेसिडोनियन की जगह प्रयोग सुमेर, बाबुल, अस्सुर, खल्द और मकदुनिया का होना चाहिए था। फिर इनसे विशेषण सुमेरियन, बेबिलोनियन, अस्सीसियन, चैल्डियन आदि भी न बनाकर देशी तरीके से सुमेरी, बाबुली, अस्सूरी, खल्दा आदि बनाना चाहिए था। इसी प्रकार यूरोपीयन, अमरीका, अफ्रीकन, आस्ट्रेलियन आदि की जगह यूरोपीय अमरीकी, अफ्रीकी, आस्ट्रेलियायी (एशियायी के तरीके पर) आदि होना चाहिए था।

चित्रों के चयन में भी कुछ सावधानी की आवश्यकता थी। चित्रों का चयन वैसे पर्याप्त हुआ है, और भारतीय छपाई की दृष्टि से उनका मुद्रण भी कुछ इतना बेजा नहीं हुआ, पर चित्रकारों की संख्या के बिचार से शायद इनमें परस्पर अनुपात रखना चाहिए था। कुमारिल स्वामी (जिनका स्थान सावधि भारतीय चित्रकारों में भी ऊँचा नहीं) के प्रायः दस चित्र ग्रन्थ में दिए गए हैं जितनी माइकेल एंजेलो, रफेल, ल्योनार्दो, तितियन और पिकासो की सम्मिलित चित्र-संख्या भी सम्भवतः नहीं है। इस सम्बन्ध में कुछ सावधानी बरतनी आवश्यक थी, विशेषतः जब देश के सबसे मतिमान आधुनिक चित्रकार मकबूल फिदाहुसेन का नाम भी पुस्तक में नहीं लिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त कलाकारों की सूची में जहाँ और देशों के कलाकारों के इने-गिने नाम दिए गए हैं (चीन और जापान के केवल आठ-आठ कलाकारों के) वहाँ भारत के २३२ कलाकारों के नाम परिगणित हैं। निःसन्देह इस अनुपात पर टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं।

यह तो हुई ग्रन्थ के विषय के सम्बन्ध में कुछ सुझाव और सुधार की बात। हासिल बात यह है कि ग्रन्थ कुछ दोषपूर्ण होने के बावजूद अत्यन्त उपादेय है और उससे अपनी प्रगतिशील भाषा के एक उपेक्षित क्षेत्र की पूर्ति की है। विशेषतः इस दृष्टि से मैं इस ग्रन्थ का अपने साहित्य में स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि लेखक और पाठक दोनों इसे पढ़ेंगे और इसका संचय करेंगे।[1]



जितेन्द्रनाथ पाठक

'दूर के ढोल' और 'चाँद रानी'

अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् भारतवर्ष न केवल राजनीतिक और आर्थिक दासता से पीड़ित हुआ वरन् व्यापक सामाजिक और मानसिक दासता से भी। इस सामाजिक और मानसिक दासता के शिकार सबसे पहले वह वर्ग हुए जो पुराने रजवाड़ों, जमींदारों अथवा पूँजीपतियों से संगठित हुए थे। यह वर्ग सुविधा प्राप्त वर्ग (Privileged class) था। सुविधाएँ

१. कला दर्शन, लेखिका श्रीमती शचीरानी गुर्टू, प्रकाशक साहनी प्रकाशन, दिल्ली, १९५६, पृ०५६३, मूल्य २०)।

उन्हें मिल ही तब सकती थीं जब वे इस मानसिक दासता को स्वीकार करते। मानसिक दासता राजनीतिक दासता से अधिक गहरी जाती है। राजनीतिक दासता समाज की बाह्य-रचना को विशेष प्रभावित करती है और अंतरंग-रचना को कम, लेकिन मानसिक दासता मनुष्य के राष्ट्रीय अंतरंग सौन्दर्य पर लीपा-पोती करके उसे अत्यन्त विकृत और अनुकृत रूप में उपस्थित करती है। उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक इस सुविधा-प्राप्त वर्ग की यह मानसिक दासता बनी रही। अवश्य ही इस वर्ग से राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिशील करने वाले जननेता भी सामने आये, पर वे बहुत कम थे। जन-क्रान्ति की बाढ़ तो सामान्य जनता की ओर से आई। इस बाढ़ से अंग्रेजी शासन की चूलें हिलीं और टूट गईं, किन्तु इस सुविधा-प्राप्त वर्ग की मानसिक दासता की चूलें बहुत कम क्षत हुईं। उन्होंने काग्रेसी राष्ट्रीय शासन की राजभक्ति का भार उन पर सँभाल लिया, क्योंकि उन्हें न सही रजवाड़े और ज़मींदार, मिल-मालिक और सम्पत्तिशाली तो बने रहना ही था।

तेलगुभाषी आरिगपूडि के उपन्यास 'दूर के ढोल' का कथा-परिवेश यही है। इस कथा-परिवेश की अनेक समस्याओं का चित्रण उन्होंने किया अवश्य है किन्तु उन्होंने अपने को केन्द्रित किया है इस मानसिक दासता से स्वेच्छया ग्रस्त सर्वथा पाश्चात्य ढंग से यौन-सम्बन्ध स्थापित करने वाले स्त्री-पुरुषों पर। उन्होंने स्त्री-पक्ष पर और अधिक ध्यान दिया है और कथा की प्रधान पात्र रमा चौधरी का सूक्ष्म ढंग से जीवन-चित्रण किया है। उन्होंने भूमिका ('जो मैं न कह पाया') में बताया भी है कि 'श्रीमती रमा चौधरी-जैसी स्त्रियाँ इस देश में इनी-गिनी हैं, यह भारत का सौभाग्य है।' ऐसी स्त्रियों की विरलता की प्रतीति के बावजूद भी इनके जीवन पर इतना अधिक, इतना तेज़ व्यंगपूर्ण दृष्टिपात इसलिए है कि इनका अस्तित्व भी—जो अनेक परिवारों के नाश का कारण बनता है—मिट जाए।

रमा चौधरी एक दरिद्र ईसाई परिवार में पली थीं। बचपन की शरीन (रमा चौधरी) काफी शोख कालेज की लड़की के रूप में चित्रित हुई है। पिता लड़की को पढ़ाने और परिवार-पोषण के लिए मिलाट्री स्टोर से सामान चुराने और बेचने के अभियोग में नौकरी से निकाल दिये गए हैं। शरीन फिर भी मद्रास में पढ़ती रही। उसकी अनैतिकता की अनेक कहानियाँ फैलने लगीं। भाग्य चमका, शरीन को श्री एल० एन० चौधरी नामक अत्यन्त धनवान नवयुवक मिले और माता-पिता सबकी अवज्ञा कर शरीन से विवाह कर लिया। शरीन अब श्रीमती रमा चौधरी हो गईं। यहाँ भी उन्होंने अपनी स्वच्छन्दता जारी रखी। रमा चौधरी पति के साथ यूरोप भ्रमण के लिए गईं। वहाँ से लौटने के बाद कपड़े की थोक एजेन्सी लेकर मद्रास में दूकान की गई। स्वयं दूकान चलाना उनकी प्रतिष्ठा की परिभाषा के विरुद्ध था। सोसाइटी और क्लब से भी उन्हें फ़ुरसत नहीं थी। दूकान का प्रबन्ध रमा चौधरी के पिता को सौंप दिया गया। पिता ने अपनी मुट्ठी गरम की और दूकान बेच दी गई। सुना गया कि मि० पाल (रमा के पिता) ने नये खरीदार से साझा कर लिया। इसके बाद चौधरी की पैतृक सम्पत्ति इतनी ही रह गई कि किसी प्रकार भरण-पोषण हो जाय। किन्तु रमा चौधरी को घुड़दौड़, शराब, सिगरेट, इत्र, वेशभूषा, कार, टैक्सी, पार्टी आदि के लिए प्रतिमास कई हज़ार की रकम चाहिए थी। श्रीमती रमा चौधरी इन खर्चों को अपने

मित्रों से पूरा करती हैं। उनकी मित्र-मण्डली में अकूत धनराशि वाले मुदलियार, चेट्टियार, डगन आदि हैं। यदि मुदलियार और डगन को रमा चौधरी प्रेम देकर पैसा लेती हैं तो चेट्टियार को चुनाव लड़ाकर। सामाजिक प्रतिष्ठा पाने का उनका सबसे बड़ा साधन सेवा के विज्ञापन का है। उन्हें पैसे की कमी नहीं होती चाहे चौधरी साहब दे सकें अथवा नहीं। पति-पत्नी में खाई बढ़ती जाती है। अत्यन्त शालीन मि० चौधरी सन्देह के जाल में निरन्तर फँसते जाते हैं और श्रीमती रमा मुदलियार और डगन के साथ, राजनीतिक कार्य के नाम पर, अपनी विलास-प्रियता को तृप्त करती जाती हैं। अन्त में मि० चौधरी को एक दिन अत्यन्त अप्रत्याशित रूप से श्रीमती रमा श्री डगन के साथ एकान्त कमरे से उनके होटल में निकलती दिखलाई पड़ती हैं और उस अतिशय गम्भीर और शालीन व्यक्ति में भी घृणा और हिंसापूर्ण क्रोध का संचार होता है। चौधरी पिस्तौल लेकर लौटते हैं। श्री डगन पर पिस्तौल छूटती है। उनके मित्र श्री राव के कारण निशाना चूक जाता है और इस समूचे नाटक का अन्त श्री डगन और श्री रमा के मद्रास छोड़ने में होता है। बाद में सुना जाता है कि रमा पुनः किसी मिलिट्री के आदमी के साथ चक्कर काटने लगती हैं और श्री चौधरी तब भी उन्हें तीन सौ मासिक भेजते चले जाते हैं। इस सम्पूर्ण घटना-प्रसार में मुदलियार की सती-साध्वी पत्नी आत्महत्या करती है। श्री डगन की पत्नी रुष्ट होकर मायके चली जाती है तथा श्री डगन और श्री मुदलियार उजड़ जाते हैं। हाँ चेट्टियार माँ के कारण सँभल जाता है।

यह सम्पूर्ण कथानक उस समाज का चित्र उपस्थित करता है जो पतनोन्मुख है। उस पतनोन्मुख समाज का यौनगत जीवन किन दिशाओं में जा रहा है यह इस कथानक के क्रम-विकास से स्पष्ट होता है। उपन्यासकार ने विरोध-विधान के द्वारा दिखलाया है कि किस प्रकार रमा और लता-जैसी युवतियाँ 'दूर के ढोल' (पश्चिमी सभ्यता) के आकर्षण में अपना सहज स्वत्व और परम्परागत प्रतिष्ठापूर्ण सतीत्व छोड़कर स्वच्छन्द और भारतीय समाज के लिए अमर्यादित यौन-सम्बन्ध स्थापित करती हैं और सामाजिक पुरुष-शक्ति को दिग्भ्रमित करती हैं। लेखक ने दूसरा पार्श्व भी सामने रखा है। रमा के प्रेमी श्री मुदलियार की सती-साध्वी पतिव्रता पत्नी पति की इस पतित क्रीड़ा का निश्चित प्रमाण पाकर आत्म-हत्या कर लेती है, रमा के दूसरे प्रेमी श्री डगन की पत्नी अत्यधिक कुपित होकर मायके चली जाती है। यही नहीं, श्रीमती रमा और श्री चौधरी आदि का अन्त भी बड़ा ही 'फ्रस्ट्रेटेड' और दुःखद हुआ है।

इस उपन्यास ने न केवल पारिवारिक और यौनगत जीवन को लिया है बल्कि राजनीतिक और सामाजिक जीवन को भी स्पर्श किया है। उपन्यासकार आरम्भ से अन्त तक समाज के इन अन्तर्विरोधों को उभारता चला जाता है। यदि वह नए वर्ष के स्वागत-उत्सव के लिए एकत्रित धनिक समाज के नृत्य और खाने-पीने का चित्रण करता है तो बाहर दिसम्बर की रात में ठिठुरते उसके ड्राइवरों का भी। यदि वह रमा चौधरी के मद्रास-प्रसिद्ध बंगले की सुन्दरता और सजावट का चित्रण करता है तो साथ ही बंगले की चारदीवारी से सटे मछुओं के झोंपड़ों और उनकी कष्टपूर्ण जीवन-यापन-पद्धति का भी। दरिद्रता और सम्पन्नता दोनों को आमने-सामने रखकर उसने एक-दूसरे को उभारने का अवसर दिया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"फिर वे आकर सजी वेदी पर बैठ गए। उनकी बगल में श्री चेट्टियार और श्रीमती रमा चौधरी बैठे हुए थे और उनके साथ उस मुहल्ले के कारपोरेशन कौंसिलर आसीन थे। उनके पीछे सरकारी कर्मचारी। सबने बढ़िया कपड़े पहने थे। फिर उन पर बिजली की रोशनी पड़ रही थी। सभा का वह भाग चमक रहा था—दिन के समान था।

और नीचे मछियारे···काले-काले मछियारे, नंगे मछियारे, नंगे बच्चे फटी-पुरानी, मैली-कुचैली साड़ियों वाली औरतें। उनके झुण्ड में से एक विचित्र बदबू आ रही थी, मानो मछलियाँ पकड़ते-पकड़ते वे स्वयं एक सूखी मछली बन गए हों। बिजली की रोशनी भी कम थी—वह हिस्सा रात के समान था।"

लेखक प्रश्न उठाता है कि इन मछियारों का प्रतिनिधित्व कौन करेगा? पूँजीपति चेट्टियार या मछियारों के ही बीच का एक व्यक्ति पिल्ले? रमा-जैसी कुछ स्त्रियाँ और पुरुष चेट्टियार को प्रतिनिधित्व के योग्य बताती हैं, क्योंकि राजनीति उनके लिए एक सामाजिक आवश्यकता के स्थान पर प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए एक फैशन और अर्थ-साधक अधिक है। पिल्ले के पक्ष से काम करने वाली मध्यवर्गीय कार्यकर्त्री अम्बिकादेवी के अनुसार "आजकल समाज-सेवा भी एक फैशन हो गया है। इन आलीशान बंगलों में रहने वाली, चुलबुली रईस औरतें, भला झोंपड़ों में मरते-जीते, गरीबों का क्या सही प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। उनको तो अखबारों में नाम छपवाने के लिए एक बहाना चाहिए।"

"···यह क्यों होता है कि एक के पास मदद करने के लिए, सेवा करने के लिए पैसा होता है तो दूसरे पैसे के लिए मोहताज बने फिरते हैं? इनके पास भीख देने के लिए पैसे कहाँ से आए, हमींसे तो छीने हैं। वे हमारी चीज़ हमें वापस कर अहसान पाते हैं। भाइयो, खयाल रखो, हर मनुष्य को समान अधिकार प्राप्त हैं।"

इस प्रकार आरिगपूडि ने लोकतन्त्रीय व्यवस्था के सबसे बड़े अन्तर्विरोध को उभारा है। आज वस्तुतः लोकतन्त्रीय आदर्श इन व्यावहारिक दोषों के कारण बराबर स्खलित हो रहे हैं। लेकिन आरिगपूडि के उपन्यास में चेट्टियार की विजय नहीं होती वरन् विजय पिल्ले की होती है। इस उपन्यास में सच्चे लोकतन्त्र का वह रूप बड़ी स्पष्टता से सामने आया है, जो झूठे लोकतन्त्र से बराबर लड़ रहा है और जिसकी विजय निश्चित है।

'दूर के ढोल' में पारिवारिक वातावरण, क्लब, घुड़दौड़, पार्टी सबका बड़ा ही यथार्थ चित्रण मिलता है। चित्रण के अयथार्थ हो जाने से उपन्यास की वस्तु ही अविश्वसनीय हो जाती है। आरिगपूडि ने इस दोष को बचाया है।

यद्यपि आरिगपूडि का यह पहला उपन्यास है और वे मूलतः तेलुगु-भाषी हैं फिर भी उनका उपन्यास वस्तु-स्थापन और शिल्प-विधि दोनों दृष्टियों से हिन्दी के उन अनेक उपन्यासों से अधिक उत्कृष्ट है जो 'सैक्स' के नाम पर विशृंखलित और कुण्ठाग्रस्त मानसिक स्थितियों का चित्रण करते हैं। कला के क्षेत्र में उपन्यासकार ने दो शक्तियों से पूरा-पूरा काम लिया है—संयम और सूझ।

'दूर के ढोल' के वस्तु-विन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है संतुलन। लेखक कथा का केन्द्र श्रीमती रमा चौधरी को ही बनाता है, फिर भी समयुगीन परिदृश्यों और समस्या-बिन्दुओं को भी बड़ी क्षमता के साथ उभारता चला जाता है। विशेषता यह है कि इन

समयुगीन समस्याओं के चित्रण के बीच श्रीमती रमा का केन्द्रीय महत्त्व समाप्त नहीं होता। इन सबका अपेक्षित व्यंग, अपेक्षित सहानुभूति के साथ वह सहज जीवन-चित्रण उपस्थित करता है। उपन्यास में अनावश्यक स्थूलता और असंतुलन खोजने से भी नहीं मिलेगा।

चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से वह और भी सफल हुआ है। श्रीमती रमा के पति श्री चौधरी के चरित्र का अंकन इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता है। नालायक और आवारा पति के द्वारा चत होती हुई खानदानी शालीनता किस प्रकार क्रियाशील होती है—इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। वैसे राव साहब, मुदलियार, चेट्टियार, चौधरी के पिता महेश्वर राव, श्री डगन, अब्राहम, सब अपना निजत्व सुरक्षित रखते हैं। चौधरी, मुदलियार, चेट्टियार और डगन चारों रमा के प्रेमी हैं, किन्तु चारों अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। यह सभी अपने वर्ग के प्रतिनिधि होते हुए भी व्यक्तिगत वैचित्र्य से सम्पन्न हैं। चरित्रों और कथानक दोनों की अपनी-अपनी गति है कहीं कोई आरोप या आक्षेप नहीं दिखलाई पड़ता।

वातावरण और पृष्ठभूमि, संवाद और भाषा-शैली सभी वस्तुगत यथार्थ के अनुगामी हैं। उपन्यासकार यदि वस्तुगत यथार्थ का ध्यान रखे तो वह उपन्यास-लेखन के बुनियादी दोषों से बच जाता है। सच तो यह है कि प्रत्येक काव्य-रूप में वस्तु ही रूप-शिल्प का निर्माण करती है। आरिगपूडि ने इस सत्य को चरितार्थ किया हैं। नवीनता का नियोजन प्रतीक-विधान और सांकेतिक प्रयोगों के द्वारा हुआ है। स्वयं 'दूर के ढोल' नाम ही एक सुन्दर प्रतीक है।

आरिगपूडि की उपन्यास-कृति किसी गम्भीर दार्शनिक भित्ति पर नहीं खड़ी होती, यह एक आलोचना हो सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि उसे अपनी सफलता के लिए किसी दार्शनिक भित्ति की आवश्यकता है ही नहीं, उसकी रचना सोद्देश्य है इसलिए वह कहीं उलझता नहीं।

लगभग इसी कथावस्तु को स्वीकार करके श्री सत्यप्रकाश संगर का 'चाँदरानी' उपन्यास खड़ा होता है। चाँदरानी के कथानक का केन्द्र 'चाँदबीबी' ही हैं। इसका कथापरिवेश किंचित् भिन्न है। वेश्या के ऊपर किये गए सामाजिक अन्याय को इस उपन्यास की पृष्ठभूमि बनाया गया है—ऐसा चाँदबीबी के कथन (जो सम्भवतः लेखक का भी स्पष्टीकरण है) से स्पष्ट होता है।

चाँदरानी वेश्या-पुत्री थीं। उन्हें आरम्भ में एक ऐसे व्यक्ति का पत्नीत्व स्वीकार करना पड़ा जिसे उन्होंने ऊबकर अस्वीकार कर दिया। उन्हें शमसुद्दीन नाम के 'लखनवी अन्दाज' के एक व्यक्ति मिलते हैं। दिखाव के लिए उन्हें केशरचन्द्र नाम के इंश्योरेंस एजेंट से ब्याह दिया जाता है जो वस्तुतः कापुरुष रूप में पुरुष है। इसके बाद चाँदबीबी स्वच्छन्द रूप से अपनी विलास-क्रीड़ा आरम्भ करती हैं जिनके साथ वह अपना प्रेम-व्यापार चलाती हैं उनमें उनके नौकर जार्ज से लेकर अध्यापक वैकुण्ठ, पुलिस इंस्पेक्टर शमसुद्दीन, रायसाहब, शायर परवाज, अनेक क्लर्क, सम्पादक आदि सभी हैं। उनकी अन्तिम इच्छा नवागंतुक पुलिस सुपरिण्टेडेंट केवलकृष्ण को अपने चरणों में झुकाने की है, जिसके लिए वह एक लम्बा जासूसी प्रयत्नजाल बुनकर के उसमें स्वयं फँस जाती हैं। अन्त में चाँद के मित्रों की अक्ल ठिकाने आती है। एकदम मिटने की स्थिति में आकर चाँद नवयुवक अध्यापक बैकुण्ठ की शरण

लेकर, उससे विवाह करके अपनी रक्षा करती है।

यही इस उपन्यास की ऊबा देने वाली कहानी है। इसमें न तो कोई नूतन पृष्ठभूमि है, न कोई नूतन परिप्रेक्ष्य ही। सम्पूर्ण उपन्यास में एक अस्वाभाविक कथावस्तु का अस्वाभाविक ढंग से उपस्थापन हुआ है। आरम्भ से अन्त तक एक ऐसी घटना का जाल बुना गया है जो यथार्थ से कोसों दूर है। असाधारण घटना-व्यापार और चरित्र-शृंखला को प्रतिष्ठित करने के लिए जिस बुद्धि-बल की आवश्यकता होती है उसका भी अभाव है, वैसे असाधारण पात्र और असाधारण घटना-व्यापार संप्रति उपन्यास-साहित्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण भी नहीं रह गए हैं।

उपन्यास और उपन्यासकार की जो सबसे बड़ी कमजोरी है वह यह है कि चाँदरानी के प्रति वह पाठक की सहानुभूति नहीं जगा पाता। इस प्रकार के उपन्यासों में जहाँ किसी को अभिशप्त दिखाया जाता है और उसका कार्य-व्यवहार प्रतिशोधोन्मुख दिखाना अभीष्ट होता है वहाँ उस व्यक्ति के अपने अंतर्द्वन्द्वों को इतने बलशाली रूप में उपस्थित किया जाता है कि वह समस्या और समस्या-पीड़ित की ओर ध्यान और सहानुभूति खींच सके। इस प्रकार मेरे विचार में 'चाँदरानी' का मानस-पक्ष लेखक यथापेक्षित ढंग से नहीं रख सका है। चाँदरानी केन्द्रीय चरित्र है लेकिन उसीका चित्रण अशक्त हो गया है; फलतः उपन्यास काफी हल्का हो जाता है। इतना ही नहीं जिस परिप्रेक्ष्य को लेखक सामने रखना चाहता है उसे भी उपयुक्त पात्र और घटना के प्रभाव में नहीं रख पाता।

उपन्यास की भाषा में उपचार-तत्त्व प्रधान है। चाँद रानी और उनके समुदाय की भाषा की व्यावहारिक औपचारिकता सारे उपन्यास की भाषा को हर लेती है। उपन्यास में स्थिति का निर्देश न होने से परिवेश का गठन भी नहीं हो पाता। उपन्यास वहाँ अत्यधिक ऊबा देता है जहाँ चित्रण के लिए चित्रण होने लगता है। कुल मिलाकर उपन्यास साधारण है।[1]



शिवकुमार मिश्र

दो ऐतिहासिक उपन्यास

वर्तमान युग हिन्दी-साहित्य की बहुमुखी प्रगति का युग है! प्रगति—साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में रची जाने वाली कृतियों की संख्या से सम्बन्धित है या उन कृतियों के साहित्यिक स्तर से, यह भले ही विवाद का विषय हो, पर इतना अवश्य है कि साहित्य प्रगति कर रहा है। हमारे मत से तो यह प्रगति संख्या व स्तर दोनों से ही सम्बन्धित है—संख्या से बहुत अधिक स्तर से कम, पर हम स्तर-सम्बन्धी प्रगति के प्रति भी आस्थावान हैं और आज की स्थिति को देखते हुए हमारी यह आस्था निरी थोथी भी नहीं प्रतीत होती। साहित्य की इस बहुमुखी प्रगति के दौरान में ऐतिहासिक उपन्यासों का अभावग्रस्त क्षेत्र ही क्यों बचता?

१. **'दूर के ढोल', आरिगपूडि, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पृ० २५४। 'चांदरानी', सत्यप्रकाश संगर, विजय प्रकाशन, भोपाल, पृ० १५२।**

आज हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से होरही है। जहाँ एक ओर श्री वृन्दावनलाल वर्मा और चतुरसेन शास्त्री-जैसे पुरानी पीढ़ी के कथाकार विविध ऐतिहासिक कथानकों को अपनी लेखनी का विषय बना रहे हैं, वहाँ अनेक तरुण और नई पीढ़ी के लेखक भी इस ओर प्रयत्नशील हैं! नई और पुरानी पीढ़ी के इस सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप हमारा ऐतिहासिक कथा-साहित्य आज उतना दरिद्र नहीं प्रतीत होता जितना कुछ काल पूर्व था, भले ही उसमें वह प्रौढ़ता न आ पाई हो, जो अपेक्षित है।

संप्रति हमारे समक्ष दो ऐतिहासिक उपन्यास हैं। एक—'नाना फड़नवीस' जिसके लेखक श्री उमाशंकर हैं और जो भारतीय इतिहास के आधुनिक युग को अपनी कथा की परिधि में बाँधता है, दूसरा—'पत्र लता' जो हर्षकालीन भारत की विभिन्न घटनाओं के आधार पर रचा गया है और जिसके लेखक श्री गुरुदत्त हैं! श्री उमाशंकर का ऐतिहासिक कथा-क्षेत्र में पहला प्रयास है जबकि श्री गुरुदत्त इसके पूर्व भी इस ओर लेखनी चला चुके हैं! हिन्दी के पाठक उनसे पूर्व-परिचित हैं। दोनों उपन्यासों के कथानक, देशकाल, परिस्थितियों एवं रचनाकारों के उद्देश्यों में पर्याप्त विभिन्नता है अतएव हम उन पर एक साथ कुछ कहने की अपेक्षा उनका अलग-अलग विवेचन समीचीन समझते हैं!

'पत्र लता' श्री गुरुदत्त का चौबीसवाँ उपन्यास है। श्री गुरुदत्त ने अपना लेखन-कार्य सन्' ४२ के लगभग प्रारम्भ किया और सन्' ५७ तक उन्होंने चौबीस उपन्यास (जो सभी भारी-भरकम हैं) हिन्दी-जगत् को भेंट किये, इससे उनके कठिन अध्यवसाय और उत्कट लगन का परिचय प्राप्त होता है। यहाँ हम उनके समस्त उपन्यासों पर कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं हैं, केवल 'पत्र लता' उपन्यास तक ही हमारी विवेचना सीमित होगी और उसीके माध्यम से हम उनको कला एवं विचारों पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

'पत्र लता' हर्ष के काल में प्रचलित दो प्रधान धार्मिक विचार-धाराओं—वैष्णव और बौद्ध—के 'संघर्ष और उसके संघर्ष से उत्पन्न परिणामों' की कहानी है। कम-से-कम उपन्यासकार का यही मन्तव्य है। उसने उन कारणों पर प्रकाश डालने का यत्न किया है जिन्होंने भारत को इस सीमा तक दुर्बल बना दिया कि 'वह भारत जिसने सिकन्दर के आक्रमण का विरोध किया था, गज़नी और गौरी का विरोध करने के अयोग्य हो गया।' लेखक के अनुसार उस काल में प्रचलित वैष्णव और बौद्ध विचार-धारा का संघर्ष एवं राज्य द्वारा एक विशेष विचार-धारा का समर्थन एवं दूसरी का विरोध ही वे कारण हैं जिन्होंने भारत को मुसलमानों के आक्रमण के सम्मुख नतशिर कर दिया। अपने विवेचन के दौरान में ही दो इतिहास-लेखकों—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी व श्री भगवतीप्रसाद पांथरी—की पुस्तकों से मनोनुकूल उद्धरण लेकर लेखक ने कतिपय अत्यन्त प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तियों पर भाँति-भाँति के आरोप लगाये हैं एवं अपने विचित्र-से निष्कर्ष दिये हैं। उदाहरण के लिए उसने अशोक को 'क्रूर' कहा है और उस पर आरोप लगाया है कि उसने राज्य की सारी शक्ति बौद्ध-धर्म के प्रचार में लगा दी थी (लेखक का वास्तविक तात्पर्य यही है कि अन्य धर्मों के प्रति उसने कोई भी उदारता न दिखाई थी यद्यपि उसने इसे स्पष्ट नहीं किया), महात्मा बुद्ध उपनिषदों आदि द्वारा बताये गए मार्ग को कठिन समझते थे और इसी कारण वे जीवन-मरण की समस्या को सुलझाने के लिए सुगम मार्ग (लेखक के अनुसार जो पतन का मार्ग होता है) की ओर चल पड़े, अपनी बात विद्वानों

को न समझा सकने के कारण छोटे स्तर के लोगों को समझाने लगे, संस्कृत में मन की बात न कह सकने के कारण जनसाधारण की भाषा में बोलने लगे और तपस्या, स्वाध्याय आदि को दुष्कर समझ उपदेश देने लगे और हर्ष ने न केवल बौद्ध-धर्म के प्रचार में राज्य की सारी शक्ति लगा दी बल्कि उसने अबौद्धों का विरोध भी किया। लेखक के अनुसार जब-जब भारत में बौद्ध-धर्म की प्रधानता हुई है तब-तब देश राजनीतिक विचार से दुर्बल हुआ है और भी कुछ स्वतन्त्र निष्कर्ष लेखक ने दिये हैं जो उसके अपने मन की उपज हैं ! उपन्यास की आधार-भूमि में पाठक लेखक के उपर्युक्त विचारों को विस्तार से देख सकते हैं, स्थानाभाव के कारण उन्हें उद्धत नहीं किया जा सका।

हमें आश्चर्य है कि जहाँ एक ओर आधार-भूमि में लेखक भारत की राजनीतिक शक्ति में ह्रास का कारण उपर्युक्त दोनों धार्मिक विचार-धाराओं के संघर्ष को बताता है वहाँ दूसरी ओर वह एक विचार-धारा का स्पष्ट पक्ष भी ग्रहण कर लेता है। एक ओर तो वह उपर्युक्त तीन प्रमुख व्यक्तियों पर दोषारोपण करते हुए इनमें से अन्तिम दो का एक विचार-धारा को समर्थन देने के 'अपराध' में न जाने कितने विशेषणों से सत्कार करता है दूसरी ओर स्वयं दूसरी विचार-धारा के घोर समर्थक और पक्षपाती के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है। ये विरोधी बातें भ्रम तो उत्पन्न ही करती हैं, लेखक की ईमानदारी में सन्देह भी पैदा करती हैं।

यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों एवं निष्कर्षों में स्वतन्त्र है पर एक ऐतिहासिक विषय पर लेखनी चलाते हुए ऐसे विचारों एवं निष्कर्षों का प्रणयन करना—स्वयं इतिहास जिनका विरोध करता है कहाँ तक उपयुक्त है ? ऐतिहासिक उपन्यासकार के अपने दायित्व होते हैं, अपनी सीमाएँ होती हैं। उसके सामने कतिपय ऐसी लक्ष्मण-रेखाएँ होती हैं जिसके अन्दर रहना ही उसके लिए श्रेयस्कर होता है अन्यथा ऐसे परिणाम होते हैं जो लेखक के श्रम पर तो पानी फेरते ही हैं, पाठकों की धारणा भी उसके विषय में अच्छी नहीं बन पाती। हमारा लेखक से इतना ही विरोध है कि उसने इतिहास के उपर्युक्त तीन व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो अपने विचार प्रकट किये हैं, वे इतिहास-सम्मत नहीं हैं, उसके व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों पर आधारित हैं, उन्हें पढ़कर पाठक चौंकता नहीं, उसे क्षोभ होता है।

लेखक ने जिन इतिहास-लेखकों की अपनी आधार-भूमि में चर्चा की है न तो वे ही, न अनेक अन्य प्रमुख इतिहास-लेखक इस विचार-धारा के हैं। लेखक ने उनकी बातों का मनमाना अर्थ लगाया है। लेखक के विचारों की छानबीन के दौरान में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार; श्री जी० पी० मेहता, श्री एम०एन० घोष, श्री राय चौधरी, मजूमदार व दत्त, श्री सी० एस० श्री निवासाचारी व एम०एस० आयंगर, डॉ० ईश्वरीप्रसाद, श्री भण्डारकर व श्री मुकर्जी आदि इतिहास-लेखकों की पुस्तकों के अध्ययन के पश्चात् हमारा यह मत और भी दृढ़ हुआ कि लेखक ने अपने विचारों एवं निष्कर्षों के प्रणयन में पर्याप्त गैर-जिम्मेदारी से काम लिया है। ये सारे लेखक व डॉ० त्रिपाठी एवं श्री पांथरी सब एक स्वर से अशोक व हर्ष की धार्मिक उदारता की सराहना करते हैं। जहाँ तक गौतम बुद्ध का प्रश्न है, यदि लेखक ने उनके मन का विश्लेषण करके कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य निकाले होते तो हम उन पर विचार कर सकते थे पर यहाँ भी उसने अतिशय अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से मनमाने निष्कर्ष निकाले हैं। ऐसी अप्रामाणिक एवं निराधार चर्चाओं को हम कतई प्रोत्साहन नहीं दे सकते। डॉ० त्रिपाठी ने

तो अशोक व हर्ष के विषय में स्पष्ट कहा है—

"यद्यपि अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था, वह उसका असहिष्णु उपासक किसी प्रकार न था × × अपने सुविस्तृत साम्राज्य के साधनों को किसी विशेष धर्म के प्रचार में उपयोग करने का दोषी अशोक को नहीं ठहराया जा सकता।" (प्राचीन भारत का इतिहास—पृष्ठ १२६-१२७)।

"परन्तु हर्ष को बौद्ध-धर्म का सक्रिय प्रचारक किसी भाँति भी नहीं माना जा सकता। इसके विरुद्ध उसकी पूजा का रूप सर्वथा धर्म-चयन था और प्रयाग के महामोक्ष-परिषद् में तो उसने ब्राह्मण, देवता, आदित्य और शिव की स्पष्ट पूजा की थी—उसने ब्राह्मणों को भोजन कराया और उनको प्रभूत दान दिये थे।" (वही पृष्ठ—२३२)।

अतएव स्पष्ट है कि अशोक ने बौद्ध-धर्म के प्रचार-हेतु अबौद्धों का दमन या विरोध नहीं किया। बौद्ध-धर्म में आस्था रखना और बात है और दूसरे धर्मों का विरोध या दमन करना दूसरी बात! हिन्दू-युग के सभी सम्राट् किसी-न-किसी धर्म के अनुयायी थे और उस धर्म को मानते हुए भी, उसे संरक्षण का लोभ देते हुए भी दूसरे धर्मों का आदर करते थे! यही अशोक और हर्ष ने भी किया। जहाँ तक बौद्ध-विचार-धारा के प्राधान्य-स्वरूप देश की राजनीतिक दृष्टि से दुर्बलता का प्रश्न है, हम इसे एक कारण मान सकते हैं, पर एक-मात्र कारण नहीं।

अब कुछ चर्चा उपन्यास की भी होनी आवश्यक है यद्यपि हमारे विचार से उपन्यास-भर में यदि चर्चा का कोई विषय है तो वह लेखक की 'आधारभूमि'।

'पत्र लता' की कथावस्तु हर्ष के राज्यारोहण के कुछ पूर्व से लेकर उसके राज्य-काल के अन्तिम वर्षों से कुछ पूर्व तक विस्तार पाती है। कन्नौज पर मालवा के राजा देवगुप्त का आक्रमण, कन्नौजाधिपति ग्रहवर्मन (हर्ष का बहनोई) का वध, शशाङ्क व देवगुप्त के कन्नौज पर सत्ता-प्राप्ति के लिए विविध षड्यन्त्र, देवगुप्त द्वारा हर्ष की भगिनी राज्यश्री पर अत्याचार, राज्यवर्धन का देवगुप्त को दण्ड देने के लिए कन्नौज की ओर प्रस्थान, कन्नौज की प्रजा और विशेषकर वैष्णवों द्वारा राज्य को देवगुप्त व शशाङ्क से बचाने के प्रयत्न, महामात्य पद्मराज के विविध उपाय, राज्यवर्धन द्वारा देवगुप्त का वध, बाद को छल से शशाङ्क द्वारा राज्यवर्धन की हत्या, हर्ष का थानेश्वर का सम्राट् बनकर प्रबन्धक के रूप में कन्नौज का शासन-सूत्र भी सम्भालना, शशाङ्क को दण्ड देने का प्रयत्न व असफलता, राज्यश्री का उद्धार, हर्ष की विजय-यात्राएँ और उसकी सीमित सफलता, बौद्ध-धर्म के हेतु प्रचार-कार्य, पत्र लता नामक एक ताम्बूलिन का सारी राजनीति में व्यापक भाग लेना आदि घटनाएँ बौद्ध और वैष्णव विचार-धाराओं के संघर्ष की पृष्ठभूमि में उपन्यास में चित्रित की गई हैं। सारा कथानक भाँति भाँति के षड्यन्त्रों से भरा पड़ा है, एक षड्यन्त्र दूसरे को जन्म देता है, दूसरा तीसरे को और इस प्रकार लेखक ने कथा को आकर्षक बनाने व Suspense से युक्त रखने का प्रयास किया है। अपने इस प्रयास में वह अधिक सफल तो नहीं हुआ, हाँ, इतना अवश्य है कि पाठक बिना ऊबे हुए उपन्यास को आदि से अन्त तक पढ़ जाता है। बीच-बीच में कतिपय अप्राकृतिक प्रसंगों की भी चर्चा है। अघोरी बाबा के सारे कार्य इसी प्रकार के हैं जिनमें तिलिस्म

का पूरा योग है। कथावस्तु घटनाबहुल है, साधारण है और स्थान-स्थान पर लेखक ने वैष्णव और बौद्ध विचार-धाराओं के संघर्ष में अपने पूर्वाग्रह को दिखाते हुए एक को दूसरी से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

चरित्र भी अनेक हैं। हर्ष, देवगुप्त, शशाङ्क, राज्यवर्धन, भण्डी, ग्रहवर्मन, भास्कर-वर्मन, ह्वेनसाँग, बाण, अवलोकितेश्वर, राज्यश्री सभी ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं और इनसे सम्बन्धित अनेक घटनाएँ भी इतिहास से ली गई हैं। लेखक के अपने दृष्टिकोण से उनमें कहीं-कहीं परिवर्तन किया है जो कभी तो इतिहास के प्रसंग के अनुरूप है, कहीं उसे विकृत भी करता है। कल्पित पात्र भी हैं। महामात्य पद्मराज, पंडित विष्णुकान्त, अघोरी बाबा, इन्द्र-जालिक, पत्रलता, मृणालिनी, मलिन्द आदि चरित्र कल्पित हैं। इनसे सम्बन्धित घटनाएँ भी लेखक की कल्पना की उपज हैं। पत्र लता—जिसके नाम पर उपन्यास का भी नामकरण हुआ है न जाने क्यों हमें विशेष प्रभावित नहीं कर पाती! जीवन-भर वह राजनीतिक संघर्षों में कूदती है और अन्त में हर्ष के सैनिकों की आँखों में धूल झोंककर नदी में कूदकर ऐसी लुप्त होती है कि उसका कुछ पता ही नहीं चलता। पत्र लता का सारा जीवन निरुद्देश्य-सा प्रतीत होने लगता है, न वह अपने को सन्तुष्ट कर पाती है और न अपने प्रेमी बाणभट्ट को। पद्मराज भी त्याग-पत्र दे देता है, बाण भी न जाने कहाँ चला जाता है, केवल बौद्ध विचार-धारा ही अन्त में प्रधान बनकर कन्नौज पर छा जाती है। उपन्यास में कोई भी चरित्र ऐसा नहीं है जो पाठक को बलात् आकर्षित कर ले, इसे हम उपन्यासकार की चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी दुर्बलता ही कहेंगे।

उपन्यासकार की भाषा पर तो हमें अत्यधिक आपत्ति है, पंजाबी प्रभाव ने भाषा को बुरी तरह तोड़ा-मरोड़ा है, कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

'वैष्णव मत वालों ने कन्नौज में वासुदेव का एक विशाल मन्दिर बनवाया हुआ था। (पृ० ४३)।

'प्रजा जिसने केवल प्रजा-मात्र ही रहना है, उसको एक राजा और दूसरे में भेद करने की आवश्यकता नहीं। (पृ० ८०)।

'इस समय तक देवगुप्त उस आगार में पहुँच गया था, जहाँ चन्दा ने उसके लिए प्रबन्ध किया हुआ था।' (पृ० ८५)।

'उसने अपने ऊपर एक चादर ओढ़ी हुई थी'—(पृ० १२५), 'तो यह वस्तु तुमने कभी जौहरी को खिलाई प्रतीत नहीं होती।' (पृ० १३०)। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

वाक्य-विन्यास भी बेहद शिथिल है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

'कन्नौज मेरी जन्मभूमि है और मैं, आदिकवि मुनि वाल्मीकि के कथनानुसार कि जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर है, मानता हूँ।' (पृ० ३८)।

'यदि तो महाराज कोई ऐसी योजना बताएँ जिससे हमारी रक्षा का प्रबन्ध हो सके तो ठीक है, अन्यथा हमें अपनी रक्षा का प्रबन्ध स्वयं करना चाहिए।' (पृ० ४६)।

'इसके विपरीत उज्जयिनी में संसार में प्रवृत्ति बढ़ने लगी।' (पृ० ११०)।

'कन्नौज की एक वीथिका में एक स्त्री, जो हाथ में एक डोली, जो गीले कपड़े में

लिपटी हुई थी, लिये हुए जा रही थी' (पृ० १२०)।

'जो-को भी प्रबन्ध के लिए योजना बनाई गई थी....'। (पृ० १६१)।

'बेटा! दूध मँगवा दो, आज हमने अन्न नहीं लेना है।' (पृ० ३२३)।

'वे मेरे से पान लेना चाहती थी।' (पृ० ३६१)।

'हाँ, वह शशाङ्क के पिता की एक सुन्दर रखेल से एक कन्या है। यह रखेल पीछे गौड़ में नर्तकी का कार्य करती थी।' (पृ० १६५)!! इस प्रकार के भी सैकड़ों उदाहरण हैं।

हिन्दू-युग के ऐतिहासिक उपन्यास में 'कारवाँ' शब्द का प्रयोग भी लेखक ने किया है। (पृ० ३२५)। 'शौर्यता' शब्द का प्रयोग, 'वार्तालाप' व 'सवेरे' के स्त्रीलिंग में प्रयोग भी लेखक ने किये हैं जो सब उसकी भाषा-सम्बन्धी शिथिलता के प्रमाण हैं।

एक स्थान पर लेखक ने बड़ी भद्दी भूल की है। पाठक जानते हैं कि आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रचित ग्रन्थ का नाम 'रामायण' है, पर लेखक ने उपन्यास की नायिका पत्र लता के मुख से एक स्थान पर कहलाया है—'और यदि इससे भी सुन्दर लेख देखना है तो महर्षि वाल्मीकि का 'रामचरित मानस' पढ़ लो। 'रामचरित मानस' पर विशेष बल देने के लिए ही लेखक ने उसे ' ' चिह्नों से अंकित किया है। हिन्दू धर्म व शास्त्रों पर गहरी आस्था रखने वाला उपन्यासकार वाल्मीकि के ग्रन्थ के वास्तविक नाम से अपरिचित है, यह आश्चर्य की बात है! पत्र लता भी बौद्ध नहीं प्रत्युत वैष्णव धर्मानुयायिनी है और इसी प्रसंग पर बाणभट्ट से वार्तालाप करते हुए अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का उल्लेख भी करती है।

युग के वातावरण को उतारने का उपन्यासकार ने पूरा प्रयत्न किया है पर यहाँ भी उसके पूर्वाग्रहों ने अयथार्थता की सृष्टि की है। ब्राह्मण और बौद्धों के जिस प्रबल संघर्ष के दर्शन उपन्यास में लेखक ने कराये हैं, वह ऐसा न था, न ही उनमें इतनी कटुता अथवा वैमनस्य था। बौद्ध धर्म तो स्वतः ह्रासशील हो चला था।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री गुरुदत्त, जो एक अध्यवसायी साहित्यकार हैं, अपने कतिपय पूर्वाग्रहों के कारण इस उपन्यास में वास्तविक ऐतिहासिक सत्यों की रक्षा नहीं कर सके हैं, उनके प्रति जान-बूझकर उदासीन रहे हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी इस उपन्यास में उनकी कला निखार नहीं पा सकी। हिन्दी के ऐतिहासिक कथा-साहित्य में एक और उपन्यास की वृद्धि हुई है, इससे अधिक महत्त्व इस कृति का नहीं है।

दूसरा उपन्यास जैसा कहा गया, श्री उमाशंकर का 'नाना फड़नवीस' है। अपने प्रथम उपन्यास द्वारा ही लेखक ने अपनी भावी सम्भावनाओं को स्पष्ट कर दिया है। हम लेखक की इस ऐतिहासिक कृति का स्वागत इसलिए नहीं करते कि वह एक नवोदित लेखक की कृति है और नवोदित लेखकों को प्रश्रय मिलना चाहिए, बल्कि इसलिए कि वह उस विशेषता के अधिक समीप है जो किसी भी ऐतिहासिक कृति के लिए अनिवार्य कही जाती है और वह विशेषता है कृति में ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा करने की विशेषता। इस कृति के लेखक ने पिछली कृति के लेखक की तुलना में अपने दायित्व को सतर्कतापूर्वक निभाया है। कृति की ऐतिहासिकता की रक्षा के प्रति वह इतना जागरूक रहा है कि उससे कहीं भी कोई ऐसी भूल नहीं हो पाई जो किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना को विकृत कर दे या किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ही बिगाड़कर प्रस्तुत करे। उसने कल्पना से कार्य लिया है और खूब लिया है,

पर उसकी कल्पना ने सीमा का अतिक्रमण नहीं किया और यहीं वह हमारी बधाई का पात्र है। कृति में इतिहास प्रबल है, फिर भी उसे हम इस कारण दोष नहीं मानते कि वह एक ऐसे लेखक की कृति है, ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में जिसका यह प्रथम प्रयास है। नया लेखक स्वभावतः ऐतिहासिकता की सुरक्षा के प्रति अधिक जागरुक रहेगा। हाँ, ऐतिहासिक कृति में ऐतिहासिकता के प्रति उदासीनता को हम अवश्य प्रश्रय नहीं दे सकते।

ऐतिहासिकता के अतिरिक्त कथावस्तु के क्षेत्र में भी लेखक को उचित सफलता मिली है। घटनाओं की योजना सावधानी से की गई है और जहाँ काल्पनिक व ऐतिहासिक घटनाओं की संगति उचित रूप से बैठ गई है वहाँ कथावस्तु में पर्याप्त आकर्षण आ गया है। ऐसा अधिकांश स्थलों पर है। कथावस्तु को रोचक बनाने के लिए ही तीन प्रेम-प्रसंगों की भी अवतारणा हुई है—नाना-अलिनी प्रेम-प्रसंग, नाना-लक्ष्मी प्रेम-प्रसंग, हरी पन्त फड़के-नीरा प्रेम-प्रसंग, और इन प्रेम-प्रसंगों में कतिपय स्थानों पर प्रेमी युग्मों का प्रेम आधुनिक प्रकार का अवश्य लगने लगा है, फिर भी उसने कथानक को रस से सिक्त करके उसे अधिक ग्राह्य बना दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कथा में दोष भी है—युद्ध के वर्णनों में वह अधिकांशतः नीरस हो गई है, कुछ घटनाओं का विकास भी रोक दिया गया है, यथा नाना-अलिनी प्रेम-प्रसंग और इसे हम लेखक की दुर्बलता मानते हैं पर इन कमियों के बावजूद भी कथावस्तु में आकर्षण, रोचकता व प्रवाह है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

चरित्र ऐतिहासिक व काल्पनिक सभी प्रकार के हैं—ऐतिहासिक ९० प्रतिशत, काल्पनिक दो-चार। नीरा, अलिनी, सलोनी आदि दो-एक पात्रों को छोड़कर शेष सारे प्रमुख चरित्र ऐतिहासिक हैं। लेखक ने ऐतिहासिक चरित्रों में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया, यथा-सम्भव उन्हें ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत किया है। हाँ, उसके प्रस्तुत करने का ढंग इस प्रकार का है कि वे इतिहास के मृत पात्र नहीं, उपन्यास के प्राणवान् व्यक्तित्व प्रतीत होते हैं।

चरित्रों का विकास भी युग की परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है। सामन्तीय युग की प्रवृत्तियाँ पात्रों के चरित्र में पूर्णरूपेण उभर उठी हैं। छल, प्रपंच, मक्कारी, गद्दारी, स्वामिभक्ति, वीरता, शौर्य, त्याग आदि प्रवृत्तियों से पूर्ण ये चरित्र अपने युग के वास्तविक प्रतिबिम्ब हैं। पुरुष पात्रों में सबसे प्रमुख चरित्र नाना फड़नवीस का है। सारा उपन्यास उसीके व्यक्तित्व व उससे सम्बन्धित घटनाओं की कहानी है। जहाँ अपनी दूरदर्शिता, विलक्षण बुद्धि व अँग्रेजों की कूटनीतियों से लड़ने वाले महान् सैनिक के रूप में वह हमें प्रभावित करता है वहाँ एक प्रेमी के रूप में अपने कोमल हृदय के दर्शन भी देता है। महादजी, सखाराम बापू, राम शास्त्री, नारायणराव, हरीपन्त, माधवराव, तुलया आदि पात्रों का चरित्र भी कुशलतापूर्वक चित्रित किया गया है! हरीपन्त फड़के की स्वामि-भक्ति, वीरता व शौर्य, महादाजी की गद्दारी (यद्यपि इस सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हैं), सखाराम बापू का सन्तुलनहीन व्यक्तित्व, नारायणराव का ढुलमुलपन, तुलया का विश्वास-घात, सबका वर्णन सधे रूप में हुआ है। अँग्रेज पात्रों का चरित्र भी सावधानी से उभारा गया है। स्त्री-पात्रों में अलिनी व नीरा हमें सबसे अधिक प्रभावित करती हैं। अलिनी के चरित्र का विकास रोककर लेखक ने अपनी कमजोरी प्रदर्शित की है। लक्ष्मी एक तर्कशीला नारी के रूप में ही सामने आती है। गंगाबाई नाना के अहसानों से दबी सामान्य नारी ही बनी रह गई है। सलोनी से लेखक ने

जो कार्य लिये हैं वे उसके वर्ग के साथ न्याय नहीं करते।

कथोपकथन शक्तिशाली, सजीव, विदग्धता, व्यंग्य, हाजिरजवाबी, गांभीर्य सभी से युक्त हैं। उपन्यासकार व उसके पात्रों की दार्शनिक चर्चाएँ खटकने वाली हैं। भाषा वैसे तो साफ, निखरी हुई और चुस्त है, पर कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास शिथिल व व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी हैं।

हमारा विश्वास है कि अनेक कमियों एवं दुर्बलताओं के बावजूद भी 'नाना फड़नवीस' एक सफल कृति है और लेखक के होनहार भविष्य की ओर संकेत करती है।

'पत्र लता' व 'नाना फड़नवीस' के लेखकों के अनुभव, वय एवं कृतित्व में पर्याप्त अन्तर है। 'नाना फड़नवीस' एक नवोदित लेखक की कृति है, जबकि 'पत्र लता' एक अनुभवी और मँजे हुए लेखक की। 'पत्र लता' की असफलता के कतिपय विशेष कारण हैं, जिन्हें हम ऊपर निर्देशित कर चुके हैं। हम आशा करते हैं कि श्री गुरुदत्त भविष्य में पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अधिक प्रौढ़ कृतियों का प्रणयन करेंगे और अपनी ख्याति को स्थिर रखेंगे। वे एक अध्यवसायी और गम्भीर कथाकार है, उनसे हमारा यह आशा करना निर्मूल नहीं है। आशा है 'नाना फड़नवीस' का लेखक भी भविष्य में अधिक सुन्दर कृतियों के साथ साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करेगा।[1]



श्री कृष्णविहारी मिश्र

समुहुत

नई पीढ़ी के ग्रामोन्मुख कथाकारों में श्री केशवप्रसाद मिश्र को काफी प्रशंसा मिली है। 'समुहुत' द्वारा इनके कृति-प्रकाशन का एक प्रकार से 'समुहुत' ही हुआ है। इसमें संग्रहीत नौ कहानियाँ हैं, जो हिन्दी की प्रतिनिधि पत्रिकाओं में प्रायः सभी छप चुकी हैं।

सर्वाधिक प्रशंसित कहनी है 'कोयला भई न राख'। गाँवों की ओर अधिक रुझान होने के साथ ही कथाकार केशव प्रसाद में नागरिक आभिजात्य भी पूरी मात्रा में दिख पड़ता है। इस प्रकार इस कहानी-संग्रह में दो प्रकार का रस मिलेगा। 'कोहबर की शर्त' से यदि आपके मन में कोई दर्द न जगे (या कोई रस न मिले) तो आप 'नाच-घर' तक आइए। सम्भव है, यहाँ की आबोहवा आपके माफिक पड़े। शहर की आधुनिक सुविधाएँ यदि गाँव वालों को मिलें तो क्या कहना ? वाकई यह कहानी संग्रह दो रस का मजा देने वाला है।

केशवप्रसाद मिश्र की तारीफ में कहा गया है कि गाँवों के असफल प्रेम की कहानी कहने में इन्हें महारत हासिल है। लेकिन सच पूछिए तो केशवजी का सही परिचय यह नहीं

---

१. **पत्रलता; लेखक—श्री गुरुदत्त; प्रकाशक—भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली; मूल्य सात रुपये; पुष्ठ संख्या ४४८।**
नाना फड़नवीस; लेखक—श्री उमाशंकर; प्रकाशक—श्री विद्या मन्दिर, चौक, कानपुर, मूल्य ४ रुपये; पृष्ठ-संख्या ३१२।

है। किंचित् सावधानी से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि गाँवों के असफल प्रेम की कहे जाने वाली इनकी कहानियों में अपेक्षया शहरूपन अधिक है; मसलन, 'कोहबर की शर्त' और 'कोयला भई न राख' में।

ग्रामीण शब्दों से कहानी को बोझिल कर देने से ही गावों की आत्मा की यथार्थ झाँकी नहीं प्रस्तुत की जा सकती। निःसन्देह ऐसा करके कथाकार अपनी रचना में एक अनावश्यक 'ग्रामीणता' ला देता है किन्तु देहाती वातावरण में थिरकन पैदा करने के लिए या वहाँ के प्रश्नों में शक्ति भरकर सहज रूप में सामने रखने के लिए गावों की 'स्पिरिट' को बड़ी सावधानी से पहचानना पड़ता है। गावों का नैकट्य नितान्त अपेक्षित होता है। चलतू ढंग से लिख मारना किसे नहीं आता ? लेकिन जाहिर है कि टिकाऊ स्थान वे ही बना पाते हैं जिनकी अनुभूतियाँ व्यापकता सम्पृक्त होती हैं, जिनमें ईमानदारी होती है और जो साहित्यिक मर्यादाओं के प्रति सजग होते हैं। श्री केशवप्रसाद मिश्र मूलतः गाँव के ही रहने वाले हैं। उनकी अनुभूतियों में ईमानदारी है। ग्रामीण वातावरण के प्रति उनकी आत्मीयता है और साथ ही उनकी कहानियों पर उनके सम्प्रति आवास और अध्ययन का प्रभाव है, उनकी शोहबत का रंग है, जो कभी-कभी बेमेल-सा लगता है।

'समुहुत' की कहानियों को एक बार देख जाइए। कथाकार श्री केशवप्रसाद की गणना आप अपने प्रिय लेखकों में कर लेंगे। 'कोयला भई न राख' यह शीर्षक ही आपको अपनी ओर खींचेगा। सम्भव है आप इसे ही पहले पढ़ें और फिर 'कोहबर की शर्त' की ओर झुकें। इन कहानियों के स्थानिक वातावरण (लोकल कलर) और भाषा के प्रयोग को देखकर आपको यह समझते देर न लगेगी कि ये कहानियाँ भोजपुरी-प्रदेश के किसी खास क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।

'कोयला भई न राख' गाँव के असफल प्रेम की कहानी है। कहानी की विषय-वस्तु ग्रामीण है, बाकी सब शहरू या बँगलानुमा। आभिजात्य के लोभ में पड़कर स्वाभाविकता की हत्या कर बैठना कहाँ तक उचित कहा जा नकता है ? केशवजी ने भी कहीं-कहीं औचित्य का गला घोंट दिया है। 'कोयला भई न राख' का भरत रेवती के घर आया है, कलेवा लेकर, पूरे एक वर्ष बाद। रेवती के कमरे में बैठा वह बातें कर रहा है। यकायक उसे सन्देह होता है कि 'घर की औरतें न जाने क्या सोचें।' और वह चलने को उठ पड़ता है। यदि आप गाँवों की परम्परा से परिचित हैं तो कहने की आवश्यकता नहीं कि कथाकार की यह मौलिक उद्भावना है। गावों की औरतें ऐसा नहीं सोचतीं जैसा भरत अन्दाज लगाता है। अस्वस्थ मस्तिष्क में इसी प्रकार के सन्देह जगा करते हैं।

'कोहबर की शर्त' में भी ऐसी ही विलक्षण उद्भावनाएँ हैं। गुंजा एक निपढ़ ग्रामीण लड़की है। लेकिन उसके बोलने का लहजा देखिये : 'मुँह खोल के यदि शर्त बदी गई तो वह शर्त कैसी ? और दूसरे से पूछ कर हारी शर्त की गई तो उसका मोल क्या' गुञ्जा ने उत्तर दिया।

'कुल की लाज', 'लंगड़े चाचा' 'समुहुत' और 'नलिन जी' उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। 'लंगड़े चाचा' और 'नलिन जी' को कुछ लोग शायद 'स्केच' कहना पसन्द करें। लेकिन उन्हें भी मानना पड़ेगा कि 'लंगड़े चाचा' का चरित्र बड़ा ही जोरदार है। नलिन जी

में जरूर कुछ अस्पष्टता है। नलिन जी ऊपर से मौजी स्वभाव के हैं, लेकिन भीतर से गहरी व्यथा से आपूरित। उनकी वास्तविक व्यथा का मूल उत्स अज्ञात ही रह जाता है ? फिर भी पाठक को सहानुभूति नलिनजी को मिलती है। 'कुल की लाज' गाँव की एक बड़ी समस्या को लेकर चलती है। 'कोहबर की शर्त' और 'कोयला भई न राख' से निःसन्देह एक विशेष प्रकार का दर्द जगता है, ऐसी अनुभूति या व्यथा 'समुहुत' से नहीं हो पाती। किन्तु अधिक स्वाभाविकता 'समुहुत' में ही है। वस्तुतः इस संग्रह का नाम बड़ा ही प्रिय और आकर्षक है।

केशवजी की नायिकाओं में सरलता का अतिशय है, अनाकांक्षित कातरता है। अपनी विरूपता का सामना करने में सभी अशक्य-सी लगती हैं। इनकी निराशा और मायूसी स्वास्थ्य का लक्षण नहीं कहा जा सकता। प्रतिभावान कथाकार की शैली का करिश्मा कहिये कि सारी कमजोरियों के बावजूद भी उनकी नायिकाओं के प्रति एक विशेष प्रकार की सहानुभूति जगती है। साहित्यकार का चरम लक्ष्य न होते हुए भी दर्द जगाना और रुला देना ही संवेदना की चरम परिणति है। कथाकार श्री केशवप्रसाद को इसमें दक्षता प्राप्त है। 'कोहबर की शर्त' और 'कोयला भई न राख' में कहानीकार की सारी प्रतिभा एक साथ मुखर हो उठी है। हमारा हृदय संवेदना से भर-भर उठता है, व्यथा से सारी मनःस्थिति हिल उठती है। केशवजी की यही एकान्त उपलब्धि है।

अब इनकी भाषा पर दो शब्द। केशवप्रसाद मिश्र की भाषा बोल-चाल की है, इन्हें भाषा-अलंकरण का मोह नहीं, किन्तु भोजपुरी के प्रति आवश्यकता से अधिक आग्रह है। भाषा के बारे में केशवजी को थोड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है जिससे भोजपुरी के शब्द या स्थानीय प्रयोग खड़ी बोली में नीर-क्षीर की तरह खप जायँ, तिल-तन्दुल की भाँति अलग-अलग अस्तित्व न बनाये रहें।

कुल मिलाकर हमने देखा कि उनकी कहानियों में उनका वही दर्द बोलता है जिसे उन्होंने दूसरे की पीड़ा समझने का प्रयास कहा है। इसे तो कथाकार का दृष्टिकोण ही कहना उचित है। यह गलत है या सही, इसे तो पाठक बतावें।

'समुहुत' में अनुभूतियाँ अधिक हैं विचार कम। इस कृति का स्वागत है। यह पठनीय है।[1]



१. समुहुत, लेखक—श्री केशवप्रसाद मिश्र, प्रकाशक—दीक्षित पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, मूल्य डेढ़ रुपया। सं



हिन्दी जगत् के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार

श्री गुरुदत्त

जिनकी प्रत्येक रचना अन्यतम है।

श्री गुरुदत्त की रचनाओं की विशेषताएँ :

१. प्रत्येक उपन्यास सोद्देश्य है।
२. जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश।
३. राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रत्येक समस्या का युक्तियुक्त विश्लेषण।
४. रोचकता में अन्यतम।

अब तक श्री गुरुदत्त के २७ उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

भारती साहित्य सदन

३०/९० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१

आगरा विश्वविद्यालय कन्हैयालाल मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ

विद्यापीठ के प्रमुख शोधपत्र

भारतीय साहित्य

त्रैमासिक

भारतीय साहित्य और उनके साहित्य की अखिल भारतीय भाषाओं की शोध पत्रिका। वर्ष में दो-दो सौ पृष्ठों के चार अंक। वार्षिक शुल्क १२ रु०।

हिन्दी ग्रन्थ वीथिका

वर्ष में एक अंक ४०० पृष्ठों का; हस्तलिखित तथा अप्राप्य ग्रन्थों से युक्त शोध योग्य सामग्री से पूर्ण। मूल्य १० रु०।

महत्त्वपूर्ण तथा प्रामाणिक प्रकाशन

१. **भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास**
असमिया, उड़िया, कन्नड़, गुजराती, तमिल, तेलुगु, बंगला, मराठी, मलयालम तथा हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों के विवरण का विभिन्न विद्वानों द्वारा सर्वेक्षण। मूल्य २ रु० ५० नये पैसे।

२. **जाहर पीर गुरु गुग्गा** डॉ० सत्येन्द्र
मूल्य ३ रु० ५० नये पैसे।

३. **हिन्दी धातु संग्रह** डॉ० हार्नली मू० २ रु०।

४. **मुल्ला दाउद की लोर कहा**
डॉ० माताप्रसाद गुप्त (प्रेस में)

५. **अलाओल की पद्मावत: देवनागरी में बंगला**
सं० डॉ० सत्येन्द्रनाथ घोषाल (प्रेस में)

६. **भारतीय साहित्य** (१९५६ की जिल्द)
मूल्य १५ रु०

७. **हिन्दी विद्यापीठ ग्रन्थ वीथिका** (१९५६ की) मूल्य १० रु०

आगरा विश्वविद्यालय कन्हैयालाल मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ,
आगरा



श्री देवराज, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।